बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

सूर्यप्रकाश व्यास
प्राध्यापक, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी



विवेक पब्लिकेशन्स
अलीगढ़

बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

सूर्यप्रकाश व्यास
प्राध्यापक, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी



विवेक पब्लिकेशन्स
अलीगढ़

बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

आदरणीय गुरुभाई
डॉ. न. रस्तोगी को
सादर । सू.प्र.

सूर्य प्रकाश व्यास
प्राध्यापक, प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

विवेक पब्लिकेशन्स
अलीगढ़

प्रकाशिका :
श्रीमती वीणा शर्मा
विवेक पब्लिकेशन्स,
समद रोड,
अलीगढ़–२०२००१ (उ० प्र०)

मुद्रक :
श्री घनश्यामदास गुप्त
संसार प्रिंटिंग प्रेस,
अचल मार्ग,
अलीगढ़–२०२००१ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य : रु० १३०-००

BAUDDHA, VEDANTA EVAM KASHMIRA SHAIVA DARSHANA

BY

Surya Prakash Yyas

First Published : 1986—Price : Rs. 130-00

VIVEKA PUBLICATIONS, 3/364, SAMAD ROAD,
ALIGARH-202001

प्रेरणा के अजस्र स्रोत

गुरु-प्रवर

डा० रामचन्द्र द्विवेदी

को

सादर समर्पित

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

प्राक्कथन 7

आमुख 11

संकेत सूची 19

प्रथम परिच्छेद

विभिन्न दर्शन-सम्प्रदाय एवं काश्मीर शैव दर्शन : विहंगम दृष्टि (१–४२)

१. शैवमत एवं काश्मीर शैव दर्शन ३–१२
२. बौद्ध एवं काश्मीर शैव दर्शन १३–१८
३. वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन १९–२३
४. शंकर एवं काश्मीर शैव दर्शन २४–३१
५. सांख्यादि एवं काश्मीर शैव दर्शन ३२–३६
६. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन की समन्वय-दृष्टि ३७–४२

द्वितीय परिच्छेद

कारणवाद (४३–८६)

१. आभासवाद ४५–४९
२. जडकारणवाद एवं उसकी समालोचना ५०–६४
३. प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उसकी समालोचना ६५–७३
४. विवर्तवाद एवं उसकी समालोचना ७४–८६

तृतीय परिच्छेद

सम्बन्ध-सिद्धान्त (८७–१०६)

१. सम्बन्ध : एक व्यापक समस्या ८९–९२
२. काश्मीरीय शैव मत ९३–९६
३. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना ९७-१०६

चतुर्थ परिच्छेद

जगत्

(१०७–१४०)

१. जगत्-विचार के विविध पक्ष : वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन १०६–१३३
२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना १३४–१४०

पंचम परिच्छेद

परम-तत्त्व

(१४१–१७८)

१. काश्मीरीय शैव मत १४३–१४७
२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना १४८–१६६
३. ब्रह्मवाद एवं उसकी समालोचना १६७–१७८

षष्ठ परिच्छेद

मोक्ष

(१६९–२३४)

१. काश्मीर शैव दर्शन १८०–१९८
२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना १९९–२१२
३. वेदान्त एवं शैवमत : तुलनात्मक विश्लेषण २१३–२३४

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(२३५–२४४)

(क) संस्कृत ग्रंथ २३५–२३८
(ख) हिन्दी ग्रंथ २३८–२३९
(ग) अंग्रेज़ी ग्रंथ २३९–२४४

प्राक्कथन

आचार्य शंकर द्वारा निर्गुण ब्रह्मवाद की स्थापना के साथ ही उनका विरोध प्रारम्भ हो गया था। इस विरोध में ब्रह्म के निर्गुण और निष्क्रिय रूप का खण्डन था और साथ ही जगत् के सम्बन्ध में मिथ्यावादी दृष्टि का भी। पौराणिक परम्परा ने इनके मायावाद को असत् शास्त्र घोषित किया। मध्ययुगीन सन्तधारा ने कृष्ण, राम आदि के साथ अपना निजी तथा भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए भक्ति की धारा प्रवाहित की। बौद्धों ने विज्ञान की नित्यता पर तार्किक प्रश्न-चिह्न लगाया। पर सबसे अधिक व्यवस्थित विरोध दक्षिण की उस आचार्य परम्परा द्वारा हुआ जो आपसी मतभेद के बावजूद भी आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद तथा उसके प्रतिफल मायावाद से सर्वथा असहमत थे। यही बात गौडीय सम्प्रदाय के बारे में भी चरितार्थ है। सुदूर दक्षिण और उत्तर के लगभग अन्तिम छोर पर जो एक स्वर शांकर वेदान्त के विरोध में जागरूक था वह शैव आचार्यों का है। दक्षिण का सिद्धान्तशैव एवं काश्मीर का शैव दर्शन द्वैतवादी और अद्वैतवादी होने पर भी आचार्य शंकर के दार्शनिक दृष्टि से विरोध में एक मत है। कालक्रम की दृष्टि से कुछ कह पाना कठिन होगा तथापि आचार्य शंकर के बाद आठवीं शताब्दी के सोमानन्द, नवम शताब्दी के आचार्य उत्पल और दसवीं शताब्दी के आचार्य अभिनवगुप्त का कालोल्लेख इस दृष्टि से आवश्यक है क्योंकि सभी वैष्णवाचार्य जैसे कि आचार्य रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क एवं मध्व का समय निश्चित रूप से उपर्युक्त आचार्यों के समय से परवर्ती है। आचार्य शंकर का काश्मीर के शारदापीठ से सम्बन्ध हो पाया था या नहीं यह प्रश्न भले ही अन्तिम रूप से सुलझाया न जा सके तथापि इतना निश्चित है कि अभिनवगुप्त और उनकी गुरु परम्परा निर्गुण ब्रह्मवाद की अवधारणा से परिचित थी इसलिए यह कहना कदाचित् अनैतिहासिक न होगा कि शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद एवं मायावाद के खिलाफ बगावत करने वाले आचार्यों में काश्मीर के शैव दार्शनिक अग्रणी हैं।

जैसा कि अनेक विद्वान् मानते हैं, शांकर वेदान्त की रीढ़ बौद्धों का विज्ञानवाद है। उन्होंने ही उस अविद्या की प्रथम परिकल्पना की जो जगत् को मिथ्या घोषित करने के लिए आधारभूत प्रतिपत्ति प्रमाणित हुई। यह सही है कि आचार्य शंकर ने बौद्धों का खण्डन किया था और कुछ लोग यह भी मानते हैं कि बौद्ध धारा के भारत से प्रव्रजन का कारण आचार्य शंकर के प्रबल तर्कवाद पर प्रतिष्ठित

अद्वैतवाद और उसका निर्गलित फल मायावाद है तथापि यह भी भूलना उचित न होगा कि नास्तिक दार्शनिक ने नहीं, अपितु आस्तिक दार्शनिक ने ही उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध घोषित किया था उन्हें ही क्यों उनके गुरु या परमगुरु माने जाने वाले गौडपाद के सम्बन्ध में भी अभी तक विधुशेखर भट्टाचार्य, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि विद्वानों की धारणा का—कि गौडपाद का दर्शन बौद्ध दार्शमिक प्रतिपत्तियों को स्वीकार करके प्रवृत हुआ है—पूर्णतः खण्डन नहीं किया जा सका है। भारतीय दर्शन के आधुनिक इतिहासकारों और शोधकर्ताओं ने भी लगभग यह स्वीकार कर लिया है कि बौद्ध दर्शन शांकर वेदान्त का मात्र पूर्व पक्ष नहीं है अपितु वह उस दर्शन में अनुप्रविष्ट भी है। इधर कुछ वर्षों से यह भी प्रयत्न हुआ है कि आचार्य शंकर की व्याख्या, उनके भाष्य के आधार पर ही नहीं, अपितु उनके उपासक जीवन और उनके नाम से प्रचलित **सौन्दर्यलहरी** आदि कृतियों के आधार पर की जाए और इस प्रकार इनके निर्गुण ब्रह्मवाद में सगुण ब्रह्मवाद की अन्तः-स्वीति करने का प्रयत्न किया गया है। मेरी दृष्टि में यह सारा प्रयत्न शारीरक भाष्यकार आचार्य शंकर के साथ अन्याय है, उनके दार्शनिक, तर्क-कर्कश सिद्धान्त का साहित्यीकरण है और कुल मिलाकर निर्बल समर्थन है।

भारतीय चिन्तन धारा, विशेषतः अद्वयवादी धारा के सूक्ष्म तर्क-वितर्क, आलोचन-प्रत्यालोचन के लिए यह आवश्यक था कि कोई अनुसंधाता ईश्वराद्वयवादी काश्मीर शैव दर्शन, क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धदर्शन तथा निर्गुण अद्वैतवाद की सूक्ष्म पर्यालोचना करे। यह कार्य नितांत कठिन है क्योंकि कुछ लोग विज्ञानवाद में या कि बौद्धदर्शन में उपनिषद् दर्शन का ही प्रतिफलन देखते हैं तो दूसरी ओर वेदान्त को नित्यता की मूल मान्यता के आधार पर विज्ञानवाद का परिष्कार मात्र मानते हैं और काश्मीर शैव दर्शन की, इन दोनों दर्शनों से स्वतन्त्रता को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। आचार्य उत्पल इन सम्भावनाओं से कदाचित् परिचित थे। सोमानन्द की **शिवदृष्टि** तथा भट्टकल्लट की **स्पन्दकारिका** में शैव दर्शन के स्वतन्त्र अस्तित्व का उद्घोष है। पर उनमें **वेदान्तसूत्र** की भाँति खण्डन-मण्डन का व्यवस्थित शास्त्र नहीं है। यह वस्तुतः आचार्य उत्पल का ही महान् योगदान है कि उन्होंने उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा, पक्ष-प्रतिपक्ष के सम्पूर्ण एवं व्यवस्थित प्रत्यालोचन के द्वारा त्रिक दर्शन की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** व उसकी टीका के द्वारा गहरी नींव रखी। जिन प्रश्नों पर दूसरे शास्त्रकारों के साथ नितांत मतभेद था उनके सम्बन्ध में अलग से भी उन्होंने लिखा। **अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, सम्बन्धसिद्धि** का इस सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। प्रमाता, ईश्वर और जगत् का जो स्वरूप व सम्बन्ध त्रिक दर्शन को अभिमत है वह बौद्ध एवं वेदान्ती दृष्टि

से सर्वथा भिन्न है—इसी बात को विशेष रूप से कहने के लिए उन्होंने सिद्धित्रयी का प्रणयन किया था। उत्पल द्वारा शास्त्रीय चिन्तन की गहरी नींव स्थापित करने के बाद आचार्य अभिनवगुप्त ने उस पर दार्शनिक महल खड़ा किया है। इन्हीं आचार्यों व उनके शिष्यों के महनीय कार्य का यह परिणाम है कि आज न केवल भारत में अपितु भारतीय विद्या के विश्व में व्याप्त अनेक केन्द्रों में इनके द्वारा प्रवर्तित दर्शन को मान्यता मिली है और निरन्तर बढ़ती जा रही है। आज यह कह पाना कठिन हो गया है कि भारतीय संसार को माया, मिथ्या या भ्रम मानते हैं अथवा वे केवल ऐसी परमसत्ता पर विश्वास करते हैं जिसका मानव की इच्छा कर्तृत्व व ज्ञान साधना से कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है।

त्रिक दर्शन ईश्वराद्वयवाद की स्थापना करता है। उसके अनुसार चैतन्य, आनन्द, इच्छा, ज्ञान व क्रिया का एक पूर्ण बिन्दु है। समग्र विश्व उसी चिति का स्फार है। संसार को परस्पर प्रतीप दो कोटियों—विधि-निषेध, भाव-अभाव, सत्य-अनृत, विषय-विषयी, तमः-प्रकाश, जड़-चेतन में बाँटा नहीं जा सकता। यह परमसत्ता की पूर्णता और स्वतन्त्रता का निषेध होगा। यही कारण है कि त्रिक दर्शन अपने को केवल अद्वैतवादी ही नहीं अपितु महा अद्वैतवादी घोषित करता है। मिथ्यावाद की धारणा का आधार किसी विरोधी सत्ता की स्वीकृति के बिना नहीं हो सकता। विरोधी सत्ता की यह स्वीकृति परम सत्ता की पूर्णता और स्वतन्त्रता दोनों को खण्डित करती है। वह ज्ञान और क्रिया को अलग-अलग रखने के लिए भी बाध्य होती है। यदि ज्ञान और क्रिया को वस्तुतः भिन्न आधार या अधिकरण में माना जाता है तो किसी नैतिक मान्यता की तात्त्विक व्याख्या नहीं हो सकती। जो ज्ञाता है वह यदि कर्ता नहीं है तो कर्तृत्व से निगमित होने वाले समग्र परिणाम से वह असंपृक्त रहता है। सांख्य दर्शन में ज्ञानपुरुष का रूप है, क्रिया प्रकृति का—पर कम से कम दोनों ही तात्त्विक हैं। वेदान्त में ब्रह्म ज्ञान रूप है और क्रिया या विकार भ्रम है। न्याय दर्शन में आत्मा में ज्ञान व प्रयत्न का समवाय तो स्वीकार्य है किन्तु स्वरूपतः आत्मा ज्ञानरूप या क्रियारूप नहीं है। ज्ञान के साथ अवियोग मानने पर ही स्वतन्त्रता का प्रश्न उठता है। स्वतन्त्रता अन्ततः कर्तृत्व शक्ति है। जहाँ कर्तृत्व है ही नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता का भी प्रश्न नहीं है। विज्ञानवाद की भी लगभग यही समस्या है। वह विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि तो करता है किन्तु क्रिया को उसके साथ अवियुक्त करने का संकल्प नहीं ले पाता। इस दार्शनिक विचारधारा का एक सामाजिक परिणाम कदाचित् यह हुआ कि कुछ लोग मात्र ज्ञाता और उपदेष्टा बन बैठे और कुछ को कर्तृत्व का बोझा दास की तरह ढोना पड़ा और शायद ज्ञान व क्रिया के इस भेद ने ही पुरुष को ज्ञान व नारी

को क्रिया का प्रतीक मानकर, माया की तरह, नारी को ठगिनी के रूप में भी प्रस्तुत कर दिया। पुरुष प्रधान समाज में वैराग्यवादी धारणा का सबसे बड़ा सामाजिक दुष्फल यही था जिसके कारण आज भी हमारे समाज में नारी के सम्बन्ध में विकृत धारणाएँ और वर्जना चली आ रही हैं। आखिर वह माया है। कालिदास ने शैव दार्शनिक की भाँति नारी-पुरुष सम्बन्ध को वागर्थ की तरह संपृक्त बताया था। उनके काव्य या नाटक का शायद ही कोई पात्र हो जो एकाकी हो। **कुमारसम्भव** के शिव, पार्वती से नित्य संपृक्त हैं, दिलीप के साथ सुदक्षिणा, अज के साथ इन्दुमती, राम के साथ सीता एक साथ चित्रित हैं। यहाँ तक कि वशिष्ठ या मारीच के आश्रम में भी जिस समाज की परिकल्पना कालिदास ने की है वह नारी व पुरुष के परस्पर विरोधी द्वैत पर निश्चित ही आधारित नहीं है। यहाँ कालिदास की परिकल्पना में तो बौद्ध भिक्षुणी धारिणी का भी यह पुनीत कार्य है कि वह मालविका और अग्निमित्र का संयोग कराये। पार्यन्तिक दार्शनिक दृष्टि से यही शिव-शक्ति का अविनाभाव है। इसके विपरीत है बौद्ध विज्ञानवाद की वह दृष्टि जिसके अनुसार विवाहिता पत्नी यशोधरा और अपने शिशु राहुल को त्याग कर भगवान बुद्ध धर्मदेशना के लिए एकाकी रह कर समाधि में स्थित होते हैं। महाकवि कालिदास शृंगार के माध्यम से वैराग्य, तपस्या और समाधि का महत्व स्थापित करते हैं तो अश्वघोष जैसे महाकवि **सौन्दरनन्द** में ललित के प्रति आकर्षण को अग्राह्य घोषित करते हैं।

मेरे प्रिय शिष्य डा० सूर्यप्रकाश व्यास ने अद्वैतवाद की बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन की प्रधान शाखाओं को अपने अनुसंधान का विषय बनाकर एक बहुत बड़ी चुनौती को स्वीकार किया था। मुझे हर्ष है कि उन्होंने परमसत्ता, जगत्, सम्बन्ध कारणवाद और मोक्ष को केन्द्रस्थ बनाकर तीनों दर्शनों के मूल ग्रन्थों का अनुसंधान कर व्यवस्थित शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। यह विवेचन तीनों दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसंधाताओं के लिए उपादेय है। इसके पूर्व मेरे गुरु डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के चिन्तन को आधार बनाकर पर्याप्त विचार विमर्श किया था किन्तु विषय की व्यापकता और उनके विवेचन की अभिनवगुप्त-केन्द्रितता के कारण और साथ ही उनके शोध प्रबन्ध के इस विषय पर प्रथम होने के कारण उनके लिए यह सम्भव न था कि वे बौद्ध और वेदान्त के सम्बन्ध में की गई प्रत्येक आलोचना को परखते। इस प्रकार यह कार्य शेष था। उसे सन् १९७५ में व्यास जी ने पूरा करके भारतीय दर्शन में महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है। मुझे विश्वास है कि उनके व्यापक, तलस्पर्शी व प्रामाणिक विवेचन का यह प्रकाशन इस विषय के अनुसंधाताओं के लिए दीपस्तम्भ बनेगा।

—रामचन्द्र द्विवेदी

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
निर्देशक, कला संकाय एवं जैन अनुसंधान केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

आमुख

दर्शन भारतीय प्रज्ञा का प्राण है। यही भारतीयता का प्रत्यभिज्ञान है। विश्व को भारत का योगदान है। इस दर्शन के विकास का इतिहास पूर्व वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। विभिन्न युगों की सांस्कृतिक चेतनाओं को आत्मसात् करके तथा साधनाओं के विविध गूढ़ अनुभवों से नवजीवन ग्रहण करते हुए आज भी भारतीय दर्शन विश्वदर्शन के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बनाये रखने में सफल है। श्रुति, तर्क एवं अनुभव-सम्मत इसके स्वरूप की आभा को बीसवीं सदी की वैज्ञानिकता भी धूमिल नहीं कर पाई है। साथ ही यह अग्रिम शती की चुनौतियों का सामना करने में भी पूर्णतः सक्षम है क्योंकि विश्वमानव के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का इसका मार्ग पूर्ण है, शाश्वत है। आलोचनाओं के विस्फुलिंगों ने इसकी सामर्थ्य को अधिक अभिव्यक्ति दी है क्योंकि उनका पूर्ण निष्ठा व गम्भीरता से स्वागत करना इसकी प्रकृति का अंग है। वेदान्त का ज्ञान, योग का प्रयोग, बौद्ध का निर्वाण तथा शैवों का भोग-मोक्ष का सामरस्य आज भी प्रासंगिक है। परिस्थितियों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववत् आज भी धर्म-दर्शन ही विज्ञान का मार्ग-दर्शन कर रहा है। एक ओर जीवन के प्रत्येक पक्ष के वैज्ञानिक आधार खोजने की आकुलता दिखायी देती है तो दूसरी ओर समस्त विषयों के स्वतन्त्र दर्शन सुनिश्चित करने की प्रवृत्ति भी प्रचलित है। अतः युग की माँग है धर्म-दर्शन व विज्ञान का सुसामंजस्य अथवा समुचित सन्तुलन। विश्व इतिहास साक्षी है कि जब-जब यह सन्तुलन डगमगाया है, तब-तब विश्व ने विनाश की ओर एक कदम आगे ही बढ़ाया है। जब-जब धर्म ने अपने सरल, उदार व उदात्त मार्ग को छोड़ कर कट्टरता का कवच ओढ़ा है तथा विज्ञान ने निर्माण, निर्वाण व कल्याण में सहायक बनने की अपनी भूमिका से हटकर विध्वंस का विकल्प स्वीकार किया है तब-तब मानवता का अस्तित्व सन्देहों से घिरा है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धर्म तथा विज्ञान क्रमशः युद्ध और विनाश का कारण तो बने हैं किन्तु दर्शन इन आरोपों से अछूता ही रहा है क्योंकि इसने कभी संहार की भूमिका नहीं बनाई। इसका स्वरूप दुराग्रहों से परे है। इसका प्रयोजन धर्म और विज्ञान के मध्य संवाद व सेतु की स्थापना है। अतः इसकी भूमिका भी अपेक्षया गम्भीर है।

भारतीय तान्त्रिक साहित्य धर्म, दर्शन तथा विज्ञान के सामंजस्य का प्राचीन ऐतिहासिक व सशक्त प्रयास है। इसी तन्त्र-परम्परा के अन्तर्गत काश्मीर में शैव

दर्शन के स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ जिसमें शैव मत के विचारों का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। इसका मौलिक साहित्य नवीं शती से दसवीं शती तक एवं टीका-साहित्य दसवीं शती से बारहवीं शती तक लिखा गया। चार सौ वर्षों के इतिहास वाले इस दर्शन के मूल साहित्य का मुद्रण एवं प्रकाशन* अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों की अपेक्षा विलम्ब (१९०४) से हुआ। फलस्वरूप इसके अध्ययन एवं शोध की परम्परा भी देर से ही प्रारम्भ हुई। बारनेट (**परमार्थसार**, मूल अनुवाद एवं टिप्पणी, १९१०) पी० टी० श्रीनिवास अय्यंगर (**शिवसूत्र-विमर्शिनी**, अनुवाद १९१२), जगदीशचन्द्र चटर्जी (**काश्मीर शैविज्म**, १९१४), एमिल वेर (**प्रत्यभिज्ञाहृदयम्**, जर्मन अनुवाद, १९३८) लेडेकर (**प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** के जर्मन अनुवाद का अंग्रेजी अनुवाद। बाद में जयदेव सिंह ने भी इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है जो अपेक्षाकृत अच्छा है), अय्यर एवं पाण्डेय (**भास्करी**, भाग १-३, १९३८, १९५०, १९५४), नोली (**शिवदृष्टि** का अनुवाद, १९५७), कुमारी लिलियन सिल्बर्न (**परमार्थसार**, १९५७, **वातूलनाथसूत्र**, १९५९, **विज्ञान-भैरव**, १९६१, विस्तृत भूमिका एवं टिप्पणी सहित फ्रेंच भाषा में अनुवाद) आदि मनस्वी विद्वानों ने कतिपय मूलग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद, अध्ययन एवं सिद्धान्तों के विवेचन के माध्यम से इस दर्शन-शाखा की ओर ध्यान आकर्षित किया तथा भावी शोध की पृष्ठभूमि तैयार की। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थों (**अभिनव-गुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी, शैवदर्शनबिन्दु आदि**) में अन्य भारतीय दर्शनों के साथ इस दर्शन के तात्त्विक मतभेद की ओर संकेत किये हैं। अपने शोध-विषय की मर्यादा के कारण तथा अन्य दर्शनों से काश्मीर शैव-दर्शन की सूक्ष्म एवं विस्तृत तुलना-विवेचना का अवसर न होने के कारण इस सम्बन्ध में इनके विचार संक्षिप्त, सूचनात्मक तथा भावी शोध के लिए दिशा निर्देशात्मक हैं। डा० का ने अपने ग्रन्थ (**डाक्ट्रिन आफ रिकाग्निशन**) के प्रमुख उद्देश्य माने हैं—मूल रचनाओं के आधार पर इस दर्शन के सिद्धान्तों का परिचय देना तथा इसके साहित्य में आई हुई अन्य दर्शन-सम्बन्धी चर्चाओं की ओर संकेत करना। इसी तरह डा० एल० एन० शर्मा (**काश्मीर शैविज्म**) का उद्देश्य वेदान्त **एवं** शैवदर्शन से सम्बन्धित समस्याओं का प्रस्तुतीकरण है। डा० बलजिन्नाथ पण्डित ने इस दर्शन के सिद्धान्तों का (**काश्मीरशैवदर्शन** नामक ग्रन्थ में) वर्णन किया **है**। डा० नवजीवन रस्तोगी के प्रकाशित ग्रन्थ (**द तान्त्रिसिज्म ऑफ काश्मीर**) में काश्मीर शैव दर्शन की ही प्राचीन शाखा क्रमदर्शन के ऐतिहासिक पक्ष का अध्ययन प्रस्तुत

* काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली के अन्तर्गत जे० सी० चटर्जी, मधुसूदन कौल शास्त्री, मुकुन्दर शास्त्री आदि ने इनका सम्पादन किया।

किया गया है । श्रीमती डा० कमला द्विवेदी ने **परमार्थसार** का सानुवाद अध्ययन प्रकाशित कराकर मौलिक ग्रन्थों के परिचय की शृंखला में एक और कड़ी जोड़ी है । इसी प्रकार डा० कैलाशपति मिश्र का ग्रन्थ (**काश्मीर शैव दर्शन**) भी इस दर्शन के सिद्धान्तों के परिचय में उपयोगी है ।

स्व० डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय द्वारा संस्थापित अभिनवगुप्त संस्थान (लखनऊ विश्वविद्यालय) में इस दर्शन के अध्ययन और अनुसंधान का कार्य निरंतर चल रहा है । जम्मू, उदयपुर व राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागों तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में इस विषय से सम्बद्ध लघु तथा बृहत् शोध निबन्ध लिखे गये हैं जिनमें से कुछ प्रकाशनाधीन हैं । पत्र-पत्रिकाओं में भी इस विषय पर यदा-कदा शोध निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं । किन्तु विषय की व्यापकता एवं गहनता को देखते हुए इस दर्शन के स्वतन्त्र अध्ययन, भारतीय तथा पाश्चात्य, प्राचीन एवं अर्वाचीन दर्शनों से इसकी तुलना, उनमें इसके स्थान के सही मूल्यांकन तथा विभिन्न मूल ग्रन्थों के सम्पादन, प्रकाशन, अनुवाद एवं अध्ययन के लिये बहुत विशाल क्षेत्र अछूता बचा हुआ है । श्रीनगर के राजकीय ग्रन्थागार में इस दर्शन का विपुल दुर्लभ साहित्य काल-कवलित हो रहा है और जिसके उद्गार के लिए प्रबुद्ध विद्वद्-वर्ग प्रयासशील होते हुए भी कुछ कर पाने में बाधाएँ अनुभव कर रहा है । इसके साथ ही यह भी कम दुखद नहीं है कि इस अपेक्षित विषय की ओर अभी कम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है । उधर काश्मीर में भी पण्डित परम्परा समाप्तप्राय हो चुकी है ।

उक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी अज्ञात एवं अपेक्षित दर्शन को प्रकाश में लाने का कुल मिलाकर यह प्रथम चरण है । अन्य दर्शनों के साथ हुए वाद-विवाद के स्वतन्त्र विश्लेषण-विवेचन का अवसर इस प्राथमिक चरण में सुलभ-सम्भव था भी नहीं । सामान्य परिचय के अनन्तर निकट का विशिष्ट परिचय तथा उस प्रसंग में हुई नोंक-झोंक की जिज्ञासा स्वाभाविक है । अतः इस ग्रन्थ के द्वारा द्वितीय चरण के प्रारम्भ का विनम्र प्रयास किया गया है । इस अध्ययन में वैदिक एवं अवैदिक विचारधाराओं के दो प्रतिनिधि दर्शनों पर पहली बार स्वतन्त्र रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है । काश्मीर शैव दर्शन के साहित्य में दर्शनद्वय के सम्बन्ध में मिलने वाली आलोचनात्मक सामग्री का संग्रह, विश्लेषण तथा विवेचन प्रस्तुत शोध का मुख्य प्रयोजन है, ताकि भारतीय दर्शनों की गौरवपूर्ण शृंखला के इतिहास में इस दर्शन का स्थान एवं महत्त्व रेखांकित हो सके । इस प्रयोजनसिद्धि के लिए आवश्यकतानुसार दर्शनत्रय की सैद्धान्तिक सीमा-मर्यादा

में ही, उनके पक्ष से कतिपय तर्क कल्पित भी किये गये हैं जिससे विषय-वस्तु को स्पष्टता एवं व्यापक आयाम दिया जा सके। दूसरे शब्दों में, यह अध्ययन काश्मीर शैव दर्शन के साहित्य में दर्शनद्वय के मतों के प्रति की गई टिप्पणियों का आलोचनात्मक अध्ययन तो है ही किन्तु साथ ही इसमें कहीं-कहीं काश्मीर शैव मत से आलोच्य दर्शनों की तटस्थ तुलना का प्रयास भी किया गया है। इसी प्रकार तर्कों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताने एवं समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष में प्रस्तुत करने के प्रयोजन से प्रसंगानुसार अन्य दर्शन-सम्प्रदायों की चर्चा भी की गई है तथा कहीं-कहीं उनमें से किसी दर्शन को विवाद में चौथा पक्ष भी बनाया गया है।

इस अध्ययन के उपर्युक्त उद्देश्य, प्रयोजन एवं प्रक्रिया को सुनिश्चित करने का स्पष्ट कारण है। शैवदर्शन की इस अर्वाचीन शाखा से पूर्व अन्य प्रमुख भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के सिद्धान्त विकसित हो चुके थे। अतः इस मत को अपनी स्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए अन्य दर्शनों से निरन्तर संघर्ष करना और वाद-प्रतिवाद के द्वारा तर्क एवं चिन्तन को पृथक् करते हुए अपने दर्शन को विशद एवं तुलनात्मक बनाना अनिवार्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति में वैदिक-अवैदिक दर्शनों के पूर्व संघर्ष के मर्म के साक्षात्कार से शैवाचार्यों को पर्याप्त सहयोग मिला। जिसका प्रभाव सन्तुलन, सामंजस्य तथा समन्वय के उनके प्रयासों में देखा जा सकता है। इसके आचार्यों ने बाह्य रूप से विरोधी प्रतीत होने वाली वैदिक तथा बौद्ध विचार-धाराओं के निष्पक्ष खण्डन के साथ उनका यथोचित मण्डन भी किया है। समग्र एवं पूर्ण दर्शन के विकास की यही इसकी प्रक्रिया है।

पूर्वपक्ष के रूप में अन्य दर्शनों की चर्चा एवं आलोचना के माध्यम से उत्तर पक्ष प्रस्तुत करना तथा श्रुति, तर्क, प्रमाणादि द्वारा सिद्धान्त पक्ष को पुष्ट करना भारतीय दार्शनिक साहित्य की सामान्य शैली है। काश्मीर शैव दर्शन का साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। इसके साहित्य में भी विभिन्न भारतीय दर्शन सम्प्रदायों की समालोचना मिलती है। यही नहीं, इस समालोचना के लक्ष्य और स्वरूप में क्रमशः विकास भी दिखाई देता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के संस्थापक आचार्य सोमानन्द की **शिवदृष्टि** में सामान्य रूप से षड्दर्शन के साथ चार्वाक, जैन, बौद्ध शब्दब्रह्मवाद तथा शक्तिवाद की आलोचना मिलती है। द्वितीय और तृतीय आह्निक तो स्वतन्त्र रूप से क्रमशः शब्दब्रह्मवाद तथा शक्तिवाद को ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं किन्तु जहाँ तक **शिवदृष्टि** में प्रमुख विपक्षी मत का प्रश्न है वह परब्रह्माद्वयवाद अथवा वेदान्त ही प्रतीत होता है। किन्तु उत्पलाचार्य एवं अभिनवगुप्त के साहित्य में प्रमुख प्रतिपक्षी बौद्ध है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** तथा उस पर लिखित **लघुविमर्शिनी** के सम्पूर्ण

द्वितीय आह्निक में बौद्ध पक्ष के दृष्टिकोण से सांख्य, न्याय, वैशेषिक की आलोचना करते हुए सर्व प्रथम बौद्ध पक्ष की स्थापना की गई है तथा परवर्ती आह्निकों में विस्तार से बौद्ध पक्ष का खण्डन किया गया है। बौद्ध आलोचना की दृष्टि से उत्पल की दो मूल रचनाएँ (**सिद्धित्रयी** और **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका**) अभिनवगुप्त की **लघुबृहद्विमर्शिनी** तथा उस पर भास्कर प्रणीत **भास्करी** ही इस दर्शन का अद्यावधि प्रकाशित मुख्य साहित्य है।

इस शैवमत का प्रमुख विरोधी दर्शन किसे माना जाय यह विचारणीय है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में विविध उत्तर सम्भावित हैं। उक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध और वेदान्त के अतिरिक्त सांख्य दर्शन भी एक पक्ष हो सकता है– यद्यपि शैवाचार्यों ने इस दर्शन की तीक्ष्ण एवं पर्याप्त आलोचना करते हुए भी ऐसा स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाला है। सांख्य-वेदान्त वैदिक दर्शन हैं। वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते है। काश्मीरी शैव मत भी वेद-विरोधी नहीं है। इसलिए सांख्य वेदान्त से शैवों का मतभेद दो मित्रों का आपसी मतभेद है। किन्तु ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि सभी दृष्टियों से अन्य दर्शनों द्वारा भी परम्परया बौद्ध को प्रमुख विरोधी घोषित किया जाता रहा है इसलिए परवर्ती शैवाचार्यों ने उसी को अपनी आलोचना का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। प्रथम आचार्य होने के नाते वेदान्त को प्रमुख विरोधी घोषित करने का जो साहस सोमानन्द ने दिखाया था उसका निर्वाह उत्पल और अभिनवगुप्त नहीं कर सके। किन्तु दूसरी ओर जहाँ तक आलोचना शैली का प्रश्न है निश्चय ही सोमानन्द की अपेक्षा परवर्ती आचार्यों ने उल्लेखनीय विकास किया है। सोमानन्द ने अपनी आलोचना को सामान्य सिद्धान्तों तक सीमित रखा है जबकि परवर्ती आचार्यों की आलोचना सूक्ष्म, संतुलित, व्यवस्थित, विस्तृत तथा गम्भीर है। यहाँ सामान्य सिद्धान्तों की सामान्य आलोचना न होकर उनके विशिष्ट पक्षों की विशिष्ट आलोचना है।

इस प्रसंग में एक अन्य पक्ष भी ध्यान देने योग्य है। शंकर ने भी बौद्धों की आलोचना की है तथा उक्त शैवाचार्यों ने भी। किन्तु दोनों की दृष्टि व पद्धति में भेद है। शंकर प्रच्छन्न बौद्ध का आरोप ओढ़ते हुए भी बौद्धों के प्रति तिरस्कार भाव रखते थे। शंकर कृत बौद्ध आलोचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से सन्देह होने लगता है कि वे बौद्ध सिद्धान्तों के वास्तविक स्वरूप से परिचित थे भी या नहीं, परिचित होते हुए भी ईमानदारी से उसे प्रस्तुत करना चाहते थे या नहीं। उनका व्यवहार बौद्धों के प्रति उपेक्षापूर्ण तथा धार्मिक विद्वेष से प्रेरित था। तर्कपूर्ण खण्डन करने के साथ ही वे उसके प्रति उपहास व तिरस्कार के आक्रोश से पीड़ित

थे। किन्तु शैवाचार्यों का दृष्टिकोण बौद्धों के प्रति तर्कपूर्ण होने के साथ ही उदार सन्तुलित तथा समन्वयात्मक है। उन्होंने बौद्धों का न केवल सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है अपितु उनके सिद्धान्त के तर्कोचित पक्ष को स्वीकार भी किया है। इस तथ्य के अनेक प्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं।

अन्य दर्शनों की आलोचना के प्रसंग में सोमानन्द तीक्ष्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं। सम्भवतया इसीलिए अभिनवगुप्त ने उन्हें "तर्कस्य कर्ता" कहा है। वे अपनी रुचि और दृष्टिभेद से अनेकत्र किसी मत का उल्लेख मात्र करते हैं, एक के क्रम में अनेक मतों से विरोधभाव व्यक्त करते चलते हैं किन्तु प्रत्येक मत का स्वतन्त्र एवं व्यवस्थित खण्डन नहीं करते। उनके ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली पर सामान्य दृष्टि डालने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन या शिवाद्वयवाद के रूप में उन्हें ऐसा विलक्षण सिद्धान्त सूझ गया है कि वे अतिशीघ्र उसके व्यापक स्वरूप को भी प्रस्तुत कर देना चाहते हैं तथा साथ ही अन्य प्रचलित दर्शनों का संक्षेप में किन्तु अधिकाधिक खण्डन करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उनका सिद्धान्त निर्दुष्ट है, सर्वोपरि है, पूर्ण है। सोमानन्द विशेष रूप से जागरूक या सावधान प्रतीत होते हैं कि उनके मत को कहीं वेदान्त, शब्दब्रह्मवाद आदि अन्य सम्प्रदायों के समान न समझ लिया जाए। इस शाखा के प्रथम आचार्य होने के नाते, आलोचना भाग में उनकी यह अधीरता स्वाभाविक भी है।

इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त का योगदान उल्लेखनीय है। काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों को पूर्ण प्रमाणिकता के साथ विस्तार पूर्वक प्रस्तुत करने तथा षड्दर्शन और बौद्ध ही नहीं शैव सम्प्रदायों एवं तन्त्र आदि मतों के सन्दर्भ में तुलना-आलोचना द्वारा उसे पुष्ट करने का जो महान कार्य उन्होंने किया है, वह अद्वितीय है। विविध विषयों का पाण्डित्य, साधना की प्रत्यक्षानुभूति, अलौकिक प्रतिभा आदि उनकी बहुविध सामर्थ्य का लाभ इस दर्शन को मिला है। उनके इन्हीं सद्गुणों ने इस दर्शन के स्वतन्त्र स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराया है।

इस अध्ययन के द्वारा किसी महान् उपलब्धि का मेरा आग्रह नहीं है। यह कार्य अपने लक्ष्य, प्रक्रिया व प्रयोजन की दृष्टि से पूर्ण तथा अन्तिम है ऐसा भी मैं नहीं कहता। वस्तुतः भारतीय दर्शन के इतिहास में काश्मीर शैव दर्शन के योगदान के मूल्यांकन क्रम में यह अध्ययन द्वितीय चरण का प्राथमिक समारम्भ है—इतना विनय पूर्वक अवश्य कहना चाहूँगा। इस कार्य की अपनी सीमाएं हैं—कुछ व्यक्तिगत कुछ व्यक्ति-बाह्य। इस दर्शन के समस्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, जो उपलब्ध एवं ज्ञात हैं वे सभी प्रकाशित नहीं हैं, प्रकाशित अनेक ग्रन्थ भी अपूर्ण टीका वाले हैं (जैसे **शिवदृष्टि, सिद्धित्रयी** आदि) तथा इन सभी ग्रन्थों का सानुवाद अध्ययन व आलोचनात्मक

सम्पादन भी नहीं हुआ है । अतः जैसे-जैसे प्रथम चरण का शेष कार्य प्रगति प्राप्त करेगा वैसे-वैसे द्वितीय चरण के कार्य एवं निष्कर्ष भी स्वाभाविक रूप से प्रभावित होंगे ।

आभार

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलतः उदयपुर विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९७६ में पी.एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध (**काश्मीर शैव दर्शन द्वारा वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन का समालोचन**) का परिवर्तित एवं संशोधित स्वरूप है । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त छात्रवृत्ति ने इस शोध-कार्य में आने वाले आर्थिक विघ्नों से जूझने में महती सहायता की, तदर्थ उसका आभार ।

एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने तक मैं काश्मीर शैव दर्शन ही नहीं, शैव शाक्त दर्शन जैसी परम्परा के अभिधान मात्र से भी अनभिज्ञ था । इसलिए शोध का संकल्प विचित्र विषयों की भ्रान्ति में भटकता रहा । इस भ्रान्ति का निवारण किया प्रबन्ध के निर्देशक शिवस्वरूप गुरुप्रवर डा० रामचंद्र द्विवेदी ने । यह उन्हीं की गौरव-मयी सूक्ष्म कृपादृष्टि थी कि उन्होंने अपने इस प्रिय विषय पर उदयपुर में सर्वप्रथम मुझे ही शोध कार्य करने की प्रेरणा, अनुमति और दिशा दी । बाद में वहाँ यह क्रम और आगे बढ़ा तथा इस विषय पर लघु एवं बृहत् शोध ग्रन्थ तैयार होने के साथ ही पाठ्यक्रम के अन्तर्गत भी काश्मीर शैव दर्शन के ग्रन्थों का पठन-पाठन आरम्भ हुआ ।

दर्शन में मेरी रुचि प्रारम्भ से ही थी । किन्तु जानी-अनजानी, छोटी-बड़ी जिज्ञासाओं के जो समाधान इस दर्शन के अध्ययन-काल में मिले, जिस सरलता, व्यापकता एवं गहनता से यह दर्शन मनोनुकूल दर्शन का स्थान क्रमशः पाता गया— वह अनुभूति का ही विषय है । अतः गुरुप्रवर के इस मार्गदर्शन से मेरे जैसे जिज्ञासु को न केवल शोध के लिए उपयुक्त विषय मिला, अध्ययन-अनुसंधान के उत्साह को आजीवन कार्य करने का न केवल क्षेत्र मिला बल्कि विभिन्न व्यावहारिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने वाला एक सशक्त जीवन दर्शन भी मिला । अकिंचन शिष्य को ज्ञान के ऐसे गहन एवं विलक्षण कोष से सद्गुरु ही परिचित करा सकते हैं और फिर मेरा जीवन तो विभिन्न प्रसंगों में भी, गुरु के उदार अनुग्रह से सिंचित है । शोध कार्यारम्भ से समाप्ति एवं प्रकाशन तक मेरा जीवन और स्वाध्याय विभिन्न संघर्षों के हिंडोलों में झूलता रहा । उन्होंने ही अपने स्नेहिल शक्तिपात से विद्या-व्यसन के प्रदीप को बुझने न दिया, अन्यथा प्रकाशनार्थ तत्पर यह पुष्प भी मुरझाकर निःशेष हो चुका होता । विचित्र प्रकृति-नियति वाले मेरे

जैसे अयोग्य शिष्य से कुछ काम करा लेना उन्हीं की अलौकिक सामर्थ्य का फल है। अतः उन्हीं के निमित्त से सम्पन्न हुए इस कार्योदय को उनके सकमल श्रीचरणों में समर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष स्वाभाविक है–त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

इस कार्य के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त संस्थान (लखनऊ विश्वविद्यालय) के संस्थापक एवं काश्मीर शैव दर्शन के मर्मज्ञ मनीषि विद्वान् प्रगुरु स्वर्गीय डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने आशीर्वादपूर्वक संस्थान के पुस्तकालय का उपयोग करने की अनुमति दी, एतदर्थ उनका पुण्यस्मरण मेरा पावन कर्तव्य है। संस्थान के ही प्रखर प्राध्यापक व गुरुभाई डा० नवजीवन रस्तोगी का भी मैं आभारी हूँ जिनसे समय-समय पर प्रोत्साहन, मार्गदर्शन तथा सहयोग प्राप्त होता रहा। विभिन्न प्रसंगों में विविध प्रकार से स्नेहपूर्ण सहयोग के लिए मेरा विद्याभ्यास संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, के गुरुजन डा० विष्णुराम नागर तथा डा० मूलचन्द पाठक का भी ऋणी है। इसी विभाग के मेरे सहपाठी सखा डा० विष्णुप्रसाद भट्ट का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने शोध-विधि-सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक सुझावों से मुझे लाभान्वित किया है। अन्त में मेरे हार्दिक धन्यवाद के अधिकारी हैं मेरे मित्र डा० उमेशचन्द्र शर्मा जिन्होंने अनेक अन्तर्बाह्य बाधाओं के रहते हुए ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने में सहयोग किया।

—सूर्यप्रकाश व्यास

प्राच्यविद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ० प्र०)।

१५ अगस्त, १९८६

संकेत-सूची

अप्रसि	अजडप्रमातृसिद्धि
अवे	अद्वैत वेदान्त
ईप्रका	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ईप्रवि	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ईप्रविवि	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
कउभा	कठोपनिषद्, शांकरभाष्य
काशैद	काश्मीर शैव-दर्शन
केउभा	केनोपनिषद्, शांकरभाष्य
छाउभा	छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य
तंत्रा	तन्त्रालोक
तंत्रावि	तन्त्रालोकविवेक
तैउभा	तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य
पसा	परमार्थसार
पसावि	परमार्थसारविवृति
पराप्रवे	पराप्रवेशिका
प्रउभा	प्रश्नोपनिषद्, शांकरभाष्य
प्रहृसू	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र
प्रहृसूवृ	प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रवृत्ति
बृउ	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृउभा	बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य
बोपंवि	बोधपंचदशिकाविवृति
बौदभाद	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
भा	भास्करी
भाद	भारतीय दर्शन
मम	महार्थमंजरी
ममंप	महार्थमंजरीपरिमल
मांका	माण्डूक्यकारिका
माका	माध्यमिककारिका

मांकाशांभा	....	....	माण्डूक्यकारिका, शांकरभाष्य
मुउभा	....	....	मुण्डकोपनिषद्भाष्य
विभै	....	....	विज्ञानभैरव
विभैवि	....	....	विज्ञानभैरवविवृति
वेसा	....	....	वेदान्तसार
शिदृ	....	....	शिवदृष्टि
शिदृवृ	....	....	शिवदृष्टिवृत्ति
स्तचि	....	....	स्तवचिन्तामणि
स्पका	....	....	स्पन्दकारिका
स्वतंटी	....	....	स्वच्छन्दतन्त्रटीका
संसि	....	....	सम्बन्धसिद्धि
सौसिसासं	....	....	सौगतसिद्धान्तसारसंग्रह
Abhi	....	....	*Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study*
AHCK	....	....	*Early History and Culture of Kashmir*
CPB	....	....	*Central Philosophy of Buddhism*
CSUP	....	....	*A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy* (Ranade)
HIP	....	....	*History of Indian Phiosophy*
DR	....	....	*Doctrine of Recognition* (Kaw)
NDSSP	....	....	*Non-dualism in Saiva and Sakta Philosophy*

प्रथम परिच्छेद

विभिन्न दर्शन-सम्प्रदाय एवं काश्मीर शैव दर्शन
विहंगम दृष्टि

१. शैवमत एवं काश्मीर शैव दर्शन
२. बौद्ध एवं काश्मीर शैव दर्शन
३. वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन
४. शंकर एवं काश्मीर शैव दर्शन
५. सांख्यादि एवं काश्मीर शैव दर्शन
६. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन की समन्वय दृष्टि

१
शैवमत एवं काश्मीर शैव दर्शन

धर्म एवं दर्शन

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की धर्म एवं दर्शन रूप दो धाराएँ सतत प्रवहमान हैं। ये चिन्तन-धाराएँ कभी भिन्न होकर चलती हैं, कभी समानान्तर चलती हैं तथा कभी-कभी इतनी एकाकार हो जाती हैं कि इनमें विभाजक रेखा खींचना असम्भव-सा हो जाता है; क्योंकि जिस चिन्तना अथवा रचना को हम धार्मिक कहते हैं वही दार्शनिक भी होती है और इसी प्रकार दार्शनिक साहित्य में भारतीय मान्यतानुसारी धर्म के तत्त्व भी सहज सुलभ हो जाते हैं। वस्तुतः भारतीय चिन्तन की यह विलक्षणता है कि यहाँ धर्म की व्याख्या के प्रयास में दर्शन स्वयं ही व्याख्यात हो जाता है।[1]

यद्यपि धर्म एवं दर्शन में पूर्वापरता की चर्चा का पारमार्थिक औचित्य नहीं है तथापि सुविधा, स्पष्टता एवं व्यावहारिकता के लिए कहा जा सकता है कि दर्शन धर्म का ही विकसित रूप है। सर्वप्रथम 'धर्म-जिज्ञासा' होती है, बाद में 'ब्रह्म-जिज्ञासा'। बौद्ध, जैन एवं वैष्णव धर्मों से इनके दार्शनिक मतों के विकास के उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि अनेक भारतीय दर्शनों का प्रारम्भिक रूप धर्म-विशेष रहा है। जहाँ तक सम्पूर्णरूप से शैव दर्शन का प्रश्न है उसका इतिहास भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। यह दर्शन भी पूजा-उपासना के विविध सोपान-क्रमों को पार करने के उपरान्त दर्शन के चौराहे पर आया, जहाँ से शैवमत की यात्रा का नया चरण आरम्भ हुआ।

शैव धर्म एवं काश्मीर शैव दर्शन

शैव धर्म के वैसे तो अनेक पक्ष हैं किन्तु जिस पक्ष ने काशैद की मान्यताओं को सर्वाधिक प्रभावित किया और जो इस अद्वयवाद का स्वास्थ्य बन गया वह है शिव एवं शिवा को अभिन्न मानना। यही धार्मिक मान्यता काशैद में प्रकाश और विमर्श अथवा शिव एवं शक्ति के अविच्छिन्न सामरस्य में परिवर्तित हो गई। इसी प्रकार अर्द्धनारीश्वर या अर्द्धनटेश्वर की धारणा काशैद में इस रूप में समन्वित हुई है कि पुरुष और प्रकृति का समान महत्त्व है।

काशैद के दार्शनिक यह अनुभव कर रहे थे कि वर्षों से सुदृढ तर्कों की नींव पर प्रतिष्ठित बौद्ध दर्शन से टक्कर लेना सरल नहीं है। वे जानते थे कि

१· द्रष्टव्य—Kundu, N. L., *NDSSP*, p. 11.

पाशुपत द्वैतवाद के द्वारा बौद्धों के विज्ञानवाद एवं शून्यवाद जैसी अद्वैतवादी विचार-धाराओं की प्रतिष्ठा के गढ़ को ध्वस्त करना आसान नहीं है। न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शनों के साथ बौद्धों के ऐतिहासिक संघर्ष के परिणाम उनके सामने थे। फलतः काश्मीर के दार्शनिकों ने ऐसी अद्वयदृष्टि का विकास किया जिसमें धर्म एवं दर्शन के समन्वय का भाव निहित था। इस समन्वय दृष्टि में काश्मीर के बहुधर्म-वाद एवं अन्य भारतीय दर्शनों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

स्थूल-दृष्टि से विचार करने पर काशैद की मान्यताओं का आधार पूर्वोक्त रूप में शैव धर्म प्रतीत होता है किन्तु इस दर्शन की मान्यताओं एवं मूल-दृष्टि का सूक्ष्म एवं गहन विचार-विमर्श वस्तु-स्थिति को किंचित् भिन्न रूप में उद्घाटित करता है। समन्वय-भावना से परिपूर्ण यह दर्शन एक ऐसी दृष्टि है जिसमें शैवधर्म, शैवागम एवं शैवतन्त्र के विचार बीज रूप में विद्यमान अवश्य हैं परन्तु इसके तात्त्विक विकास में अन्य धर्म एवं दर्शनों की जल-वायु आदि का भी अपरिहार्य सहयोग रहा है।

काश्मीर की धार्मिक स्थिति

काश्मीर भारत की समन्वय-प्रधान संस्कृति का केन्द्र रहा है। यहाँ प्रारम्भ से ही अनेक देवी-देवताओं की पूजा की परम्परा विद्यमान रही है। ईसा पूर्व तीसरी एवं चौथी शती में प्रचलित काश्मीर का प्रमुख धर्म नागपूजा से सम्बद्ध था।[२] लगभग इसी शताब्दी में बौद्ध धर्म ने काश्मीर में अपना प्रभाव स्थापित करना आरम्भ किया। ईसा की प्रथम शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक इस प्रदेश में बौद्ध धर्म का वर्चस्व अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक रहा। परन्तु सातवीं शताब्दी के बाद से बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा। काश्मीर में सातवीं शताब्दी के बाद से बौद्ध धर्म के प्रभाव में कमी के कारण वे ही हैं जो सम्पूर्ण भारत में बौद्ध धर्म के पतन के कारण रहे हैं। बौद्ध धर्म के उदार प्रश्रय में अनैतिकता, अनाचार जगत् के प्रति उदासीनता आदि के विचार पनपने लगे जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश में बौद्धमत के विरुद्ध वातावरण तैयार होने लगा। बौद्धधर्म की इस दुरवस्था का प्रभाव शनैः शनैः बौद्ध दर्शन पर भी पड़ा। बौद्ध मत से दार्शनिक विरोध का प्रतिनिधित्व शंकर ने किया। बौद्धमत के धार्मिक पक्ष की दुरवस्था के कारण, काश्मीर में एक ओर पूर्वतः प्रचलित शैवधर्म के प्रचार-प्रसार को विस्तार का अवसर मिला तो दूसरी ओर, बौद्धमत के दार्शनिक पक्ष से संघर्ष करने के लिए तथा शैवधर्म को दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए नये दर्शन-दृष्टिकोण की आवश्यकता बढ़ी जिसे काशैद के दार्शनिकों ने पूरा किया।

२. Ray, S. C., *EHCK*, p. 155.

शैव दर्शन एवं तन्त्रागम

एक दृष्टि के अनुसार हिन्दू शास्त्रों को चार भागों में विभक्त किया जाता है—श्रुति, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र। आगम, तन्त्रों का एक भाग है। सम्पूर्ण शैव दर्शन की मान्यताओं का मूलाधार तन्त्र एवं आगम हैं। शैव दर्शन में इनका वही स्थान है जो वैदिक दर्शनों में वेद एवं उपनिषद् साहित्य का है। वेदों की भाँति इन्हें भी अपौरुषेय माना जाता है। रचनाकार की भाँति इनके काल, स्थान एवं संख्या का प्रश्न भी अनिर्णय बन गया है। दक्षिण के शैव सन्त तिरुमूलर[३] के विचार में वेद एवं आगम दोनों ही सत्य हैं क्योंकि दोनों ईश्वर की वाणी हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं।[४] किन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश आगम अब उपलब्ध नहीं होते।

तन्त्रों और आगमों दोनों में ही दर्शन के तत्त्वों की अल्पता है। इनका झुकाव दर्शन की अपेक्षा शैवधर्म एवं उपासना की सूक्ष्मताओं की ओर अधिक है। तथापि अधिकांश आगमों में विद्यापाद नामक स्वतन्त्र भाग हैं जिसमें शैवमत के दार्शनिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक आगम के विद्यापाद के विचारों में जहाँ साम्य है वहाँ वैषम्य भी है।[५] फिर भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की एकता के प्राधान्यवश शिव और शक्ति के ऐक्य का दृष्टिकोण ही सबके मूल में है।

भारतीय तान्त्रिक साहित्य का सही मूल्यांकन अद्यावधि नहीं हो पाया है।[६] इनमें दर्शन, कला, विज्ञान आदि का एक विशिष्ट अन्तर्दृष्टि से विवेचन किया गया है। कतिपय विद्वान तन्त्रों को शाक्त मत से ही सम्बद्ध मानकर उन्हें शक्ति की ही पूजा के एक प्रकार का व्याख्यान मानते हैं।[७] किन्तु एन० के० ब्रह्म के अनुसार

३. यदुवंशी ('शैवमत', पृ० १६७) के अनुसार तिरुमूलर का काल ५ वीं शताब्दी है। किन्तु इसके विपरीत फर्कुहर ('एन आउटलाइन आव् द रिलीजियस लिटरेचर आव् इण्डिया', पृ० १९३) ८ वीं शताब्दी मानते हैं।

४. द्र०—यदुवंशी, 'शैवमत', पृ० १६७.

५. विस्तार के लिये देखिये—Dasgupta, S. N., *Literature and History of Southern Saivism*, p. 20-41.

६ तन्त्रोत्तर धर्म एवं दर्शन के विकास में उनके योगदान के विषय में विद्वान् एकमत नहीं। कीथ ('हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर', पृ० ४८१) स्पष्ट ही उनके दार्शनिक महत्त्व को अस्वीकार करते हुए उन्हें पारस्परिक मूढ़विश्वासों के इतिहास के लिए विशेष रोचक मानते हैं। परन्तु कुण्डु ('एनडीएसएसपी', पृ०१३) के विचार में तन्त्र भारतीय संस्कृति एवं प्रज्ञा के विश्वकोष हैं।

७. किन्तु इस मत से Chintaharan Chakravarti (*Tantras* p. 1,) और Pranabananda Jash (*HIstory of Saivism*, p. 12) असहमत हैं।

तन्त्रों में साधना के उस नये स्वरूप का व्याख्यान है जिनमें वेदों का कर्म, उपनिषदों का ज्ञान तथा पुराणों एवं महाकाव्यों की भक्ति का समावेश है।[८]

काश्मीर शैव दर्शन की तांत्रिकता

काशैद की मान्यताओं एवं तन्त्र-आगमों के सिद्धान्तों की परस्पर तुलना की विवेचना करना हमारा अभीष्ट नहीं है। तथापि प्रस्तुत प्रसंग में काशैद को तान्त्रिक अथवा आगमिक दर्शन कहने अथवा इसके विचारों की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक एवं आगमिक धारणाओं के बीज होने के समर्थन में निम्न बिन्दु उल्लेखनीय हैं :—

(i) काशैद के दार्शनिक एवं टीकाकार इसे तान्त्रिक अथवा आगमिक दर्शन कहते हैं।

(ii) काशैद के दार्शनिकों द्वारा अपनी रचनाओं में पदे-पदे तन्त्र एवं आगमों के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

(iii) काशैद के आविर्भाव से पूर्व काश्मीर अथवा उत्तर भारत में तन्त्र एवं आगमों का प्रचार-प्रसार रहा है।

(iv) तन्त्र, रहस्य-शास्त्र माने जाते हैं और काशैद के दार्शनिक भी इस दर्शन को 'महारहस्यशास्त्र'[९] बताते हुए इसके मूल रहस्यों को समझने में हर किसी के अधिकार अथवा सामर्थ्य का निषेध करते हैं।

(v) काशैद का एक नाम त्रिक दर्शन है क्योंकि यह सिद्धा, नामक एवं मालिनी तन्त्रों को अपनी मान्यताओं का आधार मानता है।[१०]

(vi) काशैद के मोक्ष-विचार में तान्त्रिक उपासनाओं का समन्वय किया गया है।[११]

(vii) काशैद के महान् दार्शनिक अभिनवगुप्त एक सिद्ध तान्त्रिक थे। उनकी तन्त्र-रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

(viii) शैव मत के अन्य दर्शन-सम्प्रदायों का आधार भी तन्त्र एवं आगम-साहित्य रहा है।

---

८. "*Tantra*, in fact, enunciates a new form of *Sadhana* or tehchnique in which we find the *Karma* of the *Vedas*, the *Jnana* of the *Upanisads* and the *Bhakti* of the *Puranas* and the great epic."— Brahma, N. K., *Philosophy of Hindu Sadhana*, p. 274.

९. महारहस्येषु न सर्वेषामधिकारः। 'भा', १, पृ० १५

१०. तच्च (त्रिकशास्त्रं) सिद्धानामकमालिन्याख्यखण्डत्रयात्मकत्वात्त्रिविधम्। 'तंत्रा', भाग १, पृ० ४९

११. Kundu, N. L., *NDSSP*, p. 1-2.

काशैद की मान्यताओं का मूल आधार तन्त्र एवं आगम-साहित्य है किन्तु यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि काशैद की मान्यताओं की पृष्ठ-भूमि की इति तन्त्र एवं आगम के साथ ही नहीं हो जाती। काशैद का अद्वयवाद तान्त्रिक अद्वैतवाद से अधिक पूर्ण है क्योंकि इसमें तन्त्रागम के अतिरिक्त शैव धर्म, शैव दर्शन, वेद, उपनिषद्, अन्य भारतीय धर्म एवं दर्शनों की समस्त शाखाओं के विचारों से भी निःसंकोच प्रेरणा एवं प्रभाव लिया गया है।

पूर्व पृष्ठों के विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि आगम ग्रन्थ, शैव दर्शन के उपनिषद् हैं। जिस प्रकार विविध उपनिषदों के विभिन्न वाक्यों एवं मान्यताओं में संगति स्थापित करने के लिए अथवा औपनिषद दर्शन की व्याख्या के प्रयत्न में, अलग-अलग दृष्टियों ने अलग-अलग दर्शन-शाखाओं को जन्म दिया ठीक उसी प्रकार शैवागमों को आधार मानकर शैव दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इन सम्प्रदायों के विकास की नियति भी पूर्ववत् रही—अर्थात् यह दर्शन भी द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी एवं अद्वैतवादी शाखाओं में विभक्त हो गया।

शैव दर्शन की शाखाएं

पाण्डेय[१२] इस दर्शन की आठ प्रमुख शाखाओं[१३] का उल्लेख करते हैं :—

१. पाशुपत द्वैतवाद
२. सिद्धान्त शैव द्वैतवाद
३. लकुलीश पाशुपत द्वैताद्वैतवाद
४. विशिष्टाद्वैत शैवमत
५. विशेषाद्वैत अथवा वीर शैवमत
६. नन्दिकेश्वर शैवमत
७. रसेश्वर शैव मत
८. अद्वैतवादी काश्मीरी शैवमत

दासगुप्त शैव दर्शन की तीन प्रधान शाखाएं मानते हुए स्थान की दृष्टि से उन्हें तीन प्रदेशों से सम्बद्ध बताते हैं। उनके विचार में आगम-शैव तमिल प्रदेश से, पाशुपत गुजरात से तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन भारत के उत्तरी प्रदेश एवं काश्मीर से सम्बद्ध था।[१४]

शैव दर्शन की इन शाखाओं में समानता के साथ भेद भी है। दासगुप्त इन

१२. *Bhaskari*, III, p. vi.
१३. विस्तारार्थ द्र०—वही, पृ० १०, २२६
१४. द्र०—*Literature and History of Southern Saivism*, p. 18.

शाखाओं के साम्य-वैषम्य के एक महत्त्वपूर्ण कारण की ओर संकेत करते हैं। उनके विचार में अन्य कोई विचारधारा सम्पूर्ण भारत में इतने प्राचीन काल से व्याप्त नहीं रही तथा साथ ही अन्य किसी विचारधारा का उतना साहित्य भी बर्बाद नहीं हुआ जितना शैवमत का हुआ है। ऐसी विषम स्थिति में इसकी विभिन्न शाखाएं बनना तथा उनमें समता के साथ विषमता उत्पन्न होना स्वाभाविक था।[१५]

शैवमत, धर्म एवं दर्शन दोनों ही के रूप में भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी भाग में प्रभावशाली रहा है। यद्यपि उत्तरी एवं दक्षिणी शाखाओं में दृष्टिकोण की भिन्नताएं धीरे-धीरे व्याप्त होने लगीं, परन्तु दोनों ही शाखाएं समान रूप से आगमों को ही अपनी मान्यताओं का आधार मानती हैं। इन आगमों की रचना एवं प्रारम्भिक प्रचार-प्रसार सर्वप्रथम उत्तर में हुआ अथवा दक्षिण में, यह कहना पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में, सम्भव नहीं। तथापि इतना सुनिश्चित है कि इनके धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण में कुछ मौलिक भेद हैं। दक्षिणी शैवदृष्टि द्वैतवादी है तथा उत्तरी अथवा काश्मीरी शैव-दृष्टि अद्वैतवादी। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से जो सहिष्णुता एवं समन्वय की भावना उत्तरी शैवमत में है, उसका दक्षिणी शैवमत में संकोच है। इसका कारण सम्भवतया उत्तर एवं दक्षिण की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थीं।

काश्मीर के विचारकों ने साहित्य, धर्म, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में अपूर्व योगदान देकर इस प्रदेश को भारतीय संस्कृति के विकास में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित किया। काशैद की अद्वयवादी विचारधारा इन्हीं पूर्वजों की ऐसी ज्ञानगंगा है जिसमें अजड़वादी, द्वैतवादी एवं अनित्यतावादी सभी विचार-बिन्दु एकाकार होकर समन्वित हो जाते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के विभिन्न नाम

काशैद के विविध नाम प्रचलित हैं। सोमानन्द ने इस दर्शन को 'शैव' एवं 'ईश्वराद्वयवाद'[१६] कहा है। अभिनवगुप्त ने **तन्त्रालोक**[१७] में इसे 'त्रिक दर्शन', **तन्त्रसार**[१८] में इसे 'षडर्धशास्त्र' तथा **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी**[१९] में 'स्वातन्त्र्यवाद' कहा है। अन्यत्र इसे 'शिवाद्वयवाद',[२०] 'षडर्धक्रमविज्ञान',[२१]

१५ वही, पृ० १०६.

१६. 'शिदृ', २, पृ० ३६.

१७. 'तंत्रा', भाग १, पृ० ७, २०, ४९.

१८. 'तंत्रसार', पृ० ६२.

१९. 'ईप्रविवि', १, पृ० ९.

२०. 'स्पन्दसन्दोह', पृ० १०.

२१. 'तंत्रावि', १, पृ० २८.

'स्पन्दशास्त्र',[२२] 'रहस्य सम्प्रदाय'[२३] कहा गया है। माधवाचार्य[२४] ने उत्पलाचार्य की एक रचना **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा** के आधार पर इस दर्शन का 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के नाम से उल्लेख किया है। जे० सी० चटर्जी[२५] ने स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों शाखाओं को मिलाकर इसे 'काश्मीर शैव दर्शन' के नाम से प्रसारित करने का सफल प्रयत्न किया क्योंकि इस दर्शन के सभी दार्शनिक काश्मीर के ही निवासी थे। पाण्डेय[२६] के विचार में काशैद का अर्थ केवल प्रत्यभिज्ञा दर्शन समझना भूल होगी क्योंकि इस दर्शन की तीन शाखाएं हैं—क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा। इन विभिन्न नामों एवं शाखाओं के विभाग के तात्त्विक विवेचन में न जाते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थित दर्शन की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही काशैद है। यही कारण है कि काशैद और प्रत्यभिज्ञा दर्शन नाम पर्याय रूप में प्रचलित रहे हैं। यदुनाथ सिन्हा,[२७] दासगुप्त,[२८] कविराज,[२९] मिश्र,[३०] का[३१] आदि विद्वानों के विचार इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं।

काश्मीर में शैव मत का प्रादुर्भाव

काश्मीर में शैव मत का आरम्भ कब हुआ इस विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। काश्मीर में प्रचलित शैव दर्शन की अद्वैतवादी शाखा ही काशैद के रूप में प्रसिद्ध हुई, किन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वहाँ द्वैतवादी शाखा[३२] भी प्रचलित रही है। बनर्जी[३३] के विचार में द्वैतवादी शाखा पूर्ववर्ती है तथा अद्वैतवादी शाखा का प्रचार बाद में आरम्भ हुआ। किन्तु पाण्डेय का विस्तृत विवरण एवं युक्ति-युक्त निष्कर्ष यह बताता है कि काश्मीर में द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद समानान्तर प्रचलित थे। दोनों ही शाखाओं के दार्शनिक अपने मत के अनुकूल आगम एवं तन्त्रादि साहित्य की व्याख्या का प्रयत्न करते थे।[३४] अद्वैतवादी

२२. स्पन्दनिर्णय', पृ० ३.
२३. 'शिवसूत्रविमर्शिनी', पृ० १.
२४ 'सर्वदर्शनसंग्रह', ८, पृ० ३४७.
२५. 'काश्मीर शैविज्म', पृ० १.
२६. *Abhi*, p. 295.
२७. *A History of Indian Philosophy*, II, p. 737.
२८. *A History of Indian Philosophy*, p. 15.
२९. 'भारतीय संस्कृति और साधना', प्रथम खण्ड, पृ० १.
३०. मिश्र, उमेश, 'भाद', पृ० ३८०.
३१. *DR*, p. 2.
३२. विस्तारार्थं द्र०—Pandey, *Bhaskari*, III, p. XVII.
३३. Banerji S.C., *Cultural Heritage of Kashmir*, p. 107.
३४. *Bhaskari*, III. Introduction, p. 17-18.

शाखा का प्रारम्भिक रूप नन्दिकेश्वर शैवमत था। इन शाखाओं में अद्वैतवादी शाखा का ही विशेष महत्त्व है।[३५]

काश्मीर शैव दर्शन की प्रमुख शाखाएं एवं आचार्य

भाण्डारकर[३६] के विचार में काशैद की दो शाखाएं हैं–स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा। दोनों ही का आधार अद्वैतवादी शैव तन्त्र हैं। दोनों ही शाखाओं के दर्शन-विचारों में अनेकत्र साम्य है। जगत् एवं इसके कारण तथा जीव एवं परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में शाखाद्वय के विचार समान हैं। भेद केवल परमतत्त्व की अनुभूति के बारे में है। स्पन्द शाखा के अनुसार ध्यान के द्वारा साधक को पहले भैरव या महेश्वर का चित्त में दर्शन होता है और फिर समस्त मलों की निवृत्ति होती है, जिससे परमेश्वर से साक्षात्कार होता है। इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव का स्वयं ईश्वर रूप में प्रत्यभिज्ञान करना ही शिव के साक्षात्कार का साधन है।

वस्तुतः स्पन्द शाखा का साहित्य व्यावहारिक है। अतः सोमानन्द द्वारा संस्थापित प्रत्यभिज्ञाशास्त्र ही यथार्थतः प्रमुख दार्शनिक शाखा है जिसके साहित्य में दर्शनोचित प्रणाली के द्वारा सिद्धान्तों का विवेचन उपलब्ध होता है।

पाण्डेय के ग्रन्थों में काशैद की तीन शाखाओं का वर्णन किया गया है—क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा। इनमें क्रम शाखा सर्वाधिक प्राचीन है जिसका आरम्भ सातवीं शती का अन्त अथवा आठवीं शती का प्रारम्भ माना जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा शाखा के दार्शनिक सोमानन्द ने कुल दर्शन की एक रचना परात्रिंशिका पर वृत्ति लिखी है जिससे सहज ही यह अनुमान लगाया जाता है कि कुल शाखा प्रत्यभिज्ञा की पूर्ववर्ती है।[३७] इन तीनों ही शाखाओं के मतों में साम्य के साथ मूलभूत मान्यताओं में भेद भी है।[३८] इनमें से प्रत्येक शाखा का अपना इतिहास है, गुरु-परम्परा है, ग्रन्थों की भिन्न-भिन्न सरणि है तथा परम तत्त्व के स्वरूप के विभिन्न विचार हैं। अभिनवगुप्त ने तीनों ही शाखाओं के मतों का व्याख्यान किया है।

काशैद अथवा उसकी प्रत्यभिज्ञा दर्शन शाखा के संस्थापक सोमानन्द (९वीं शती का प्रारम्भ) हैं। इनकी रचना शिवदृष्टि में शिवाद्वयवाद के वर्णन के साथ ही प्रमुख रूप से शब्दब्रह्मवाद, शक्त्यद्वयवाद एवं सामान्यरूप से सांख्य, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त एवं बौद्ध मतों की आलोचना की गयी है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (१.१०) में इन्हें "तर्कस्य कर्ता" कहा है।

३५. वही, पृ० ५७.

३६. *Vaishnavism and Saivism*, p. 129.

३७. *Abhi*, p. 543.

३८. वही, पृ० ४६१-६.

उत्पलाचार्य को सोमानन्द का पुत्र एवं शिष्य कहा गया है (सोमानन्दात्मजोत्पललक्ष्मणगुप्तनाथः, तंत्रा, ३७.) किन्तु स्वयं उन्होंने अपने पिता का नाम उदयाकर बताया है (जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थं उदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता, ईप्रका, ४. २.)।

काशैद के इतिहास में उत्पल का योगदान यह है कि इसने सोमानन्द द्वारा प्रस्तुत विचारों को व्यवस्थित रूप में अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा** इनकी प्रमुख रचना है। इसके चार अधिकारों (ज्ञान, क्रिया, आगम, एवं तत्त्वसंग्रह) तथा इनके अन्तर्गत अनेक आह्निकों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इस पर स्वयं उत्पल ने ही वृत्ति भी लिखी है। इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाटीका, सिद्धित्रयी** (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वर-सिद्धि एवं सम्बन्धसिद्धि) तथा **शिवस्तोत्रावली**।

उत्पल की रचनाओं के लक्ष्य[३९] थे :—

१ काशैद की मान्यताओं को व्यवस्थित करते हुए इसे दार्शनिक शैली में प्रस्तुत करना।

२. बौद्ध मतों की युक्तियुक्त समालोचना करना तथा

३. सभी प्रचलित दर्शनों में इसे सर्वोच्च स्थान दिलाना।

उत्पलाचार्य के बाद शैव दार्शनिक परम्परा में अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मण-गुप्त का नाम आता है किन्तु इनकी कोई दर्शन-रचना उपलब्ध नहीं होती।[४०] अभिनवगुप्त को काशैद का शंकराचार्य कहा जा सकता है। शिवाद्वयवाद के प्रचार प्रसार एवं सिद्धान्तों के प्रकाशन में उनका वैसा ही योगदान है जैसा वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रति शंकर का रहा है।[४१]

पाण्डेय ने काशैद सहित अन्य विषयों पर इनकी ४४ रचनाओं का उल्लेख[४२] किया है। काशैद के मतों के प्रकाशनार्थ इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएं हैं—**ईश्वरप्रत्य-भिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तंत्रालोक**, तंत्रसार, परमार्थ-सार, **मालिनीविजयवार्तिक, परात्रिंशिकाविवृति**, भगवद्गीतार्थसंग्रह आदि। **तंत्रालोक** १२ खण्डों में प्रकाशित अतिविशालकाय ग्रन्थ है जिसमें अद्वैतवादी शैवागमों के अनेक पक्षों पर विस्तार से लिखा गया है। इनमें प्रमुख रुप से बन्ध का

३९. द्र.-Kaul, Madhusudan, *Isvarapratyabhijnavimarsini, Introduction.*

४०. 'शारदा-तिलक' नामक तन्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध है।

४१. Pandey, *Abhi*, 291.

४२. वही, पृ० २७-२८.

कारण, मोक्षोपाय, आभासवाद, सांख्य के २५ तत्त्वों से शैवमतानुसारी तत्त्वों की तुलना आदि पक्षों की विवेचना की गई है । जयरथ ने **तन्त्रालोक** पर **विवेक** नामक टीका लिखी है । वस्तुतः काशैद के मतों के मर्म को समझाने में अभिनवगुप्त की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

अभिनवगुप्त के वाद लगभग सभी दार्शनिकों ने टीकाओं के रूप में इस दर्शन के साहित्य की वृद्धि की है । क्षेमराज अभिनवगुप्त के शिष्य के रूप में उल्लिखित किये गये हैं (**तंत्रा.** अ. ३७.) । पाण्डेय ने इनकी १७ रचनाओं का उल्लेख किया है । **प्रत्यभिज्ञाहृदय** एवं **शिवसूत्रविमर्शिनी** इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं । महेश्वरानन्द ने **महार्थमंजरी** की रचना की ।

परमार्थसार के टीकाकार योगराज, जो क्षेमराज के शिष्य माने जाते हैं, **तंत्रालोक** के टीकाकार जयरथ, **विज्ञानभैरव** के टीकाकार शिवोपाध्याय, एवं **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** के व्याख्याकार भास्कर की युक्तियुक्त टीकाएं इस दर्शन के साहित्य की बहुमूल्य निधि हैं ।

२

बौद्ध एवं काश्मीर शैव दर्शन

बुद्ध एवं बौद्ध दृष्टि

बौद्ध मत का आरम्भ आचारशास्त्र से हुआ। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध आध्यात्मिक प्रश्नों का अपनी दृष्टि से उत्तर देकर नया विवाद उत्पन्न करना एवं जीवन की मूलभूत समस्याओं से दुःखी मनुष्य का ध्यान बँटाना नहीं चाहते थे। परन्तु उनकी इस प्रारम्भिक दृष्टि को स्वयं उन्हीं के अनुयायी सुरक्षित नहीं रख पाये। उन्होंने सरल बुद्ध-दृष्टि का इतनी तत्परता, गहनता, एवं तार्किक तीक्ष्णता से विकास किया कि यह शीघ्र ही अन्य दर्शनों के पुराने प्रतिष्ठित तार्किकों से टक्कर लेने में सक्षम हो गई।

बुद्ध-दृष्टि मूलतः उपनिषदों की विरोधी नहीं थी।[४३] किन्तु यह नूतन बौद्ध-दृष्टि वेद-विरोधी हो गई। उस पर भी विडम्बना यह कि वेद-विरोधी इस दृष्टि ने अपने लिए नये वेदों (सुत्त, पिटक आदि) की सृष्टि कर ली। मूल रूप से ईश्वर-विरोधी इस दृष्टि ने स्वयं बुद्ध को ईश्वर बना दिया। जटिल कर्मकाण्डीय साधना का विरोध करते हुए स्वयं ने तन्त्र और उपासना के जटिल स्वरूप का आरम्भ किया।[४४] जीवन की समस्याओं को सरलता एवं करुणा से सुलझाने का प्रयत्न करने वाला मत बाद में स्वयं जटिलता का सर्वोत्तम उदाहरण बन गया तथा वादों के विवाद से मानव को बचाने के प्रयास में स्वयं अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभाजित हो गया। इतिहास साक्षी है कि बौद्ध मत आरम्भ से अन्त तक जितनी शाखा-प्रशाखाओं में विभाजित हुआ है उतना शायद कोई भी भारतीय मत नहीं हुआ है। दर्शन के क्षेत्र में कभी-कभी एक ही दार्शनिक किसी अन्य शाखा का होकर अन्य ही शाखा का ग्रन्थ लिखता है एवं बाद में किसी अन्य ही शाखा का अनुयायी बन जाता है।[४५]

---

४३. बौद्ध मत के बीज उपनिषदों में हैं, एतदर्थ द्र०—Ranade, *CSUP*, p. 132-33.

४४. विनयतोष भट्टाचार्य भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

"......the Buddhists were the first to introduce the Tantras into their religion and that the Hindus borrowed them from the Buddhists in later times......" P. V. Bapat, *2500 Years of Buddhism*, p. 316-17

४५. वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोष' लिखा जो वैभाषिकों का आधार ग्रन्थ बन गया। परन्तु वह स्वयं वैभाषिक नहीं, सौत्रान्तिक थे। बाद में अपने अग्रज असंग के प्रभाव एवं प्रयत्न से ये विज्ञानवादी बन गये और इसी शाखा पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' आदि ग्रन्थ लिखे।

शाखा-प्रशाखाएं

बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर इस मत के मुख्य रूप से दो भेद हुए—महासंघिक तथा स्थविरवाद या थेरवाद।[४६] महासंघिक तर्क में विश्वास करते थे और स्थविरवादी परम्परा में। महासंघिक का केन्द्र मगध था तथा स्थविरवाद का काश्मीर। महासंघिक के पुनः ९ भेद हुए—मूलमहासंघिक, एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, कौरुकुल्लका, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवाद, चैत्यशैल, अवरशैल तथा उत्तरशैल।

स्थविरवाद के दो भेद हुए—हैमन्त तथा सर्वास्तिवाद। सर्वास्तिवाद भी पुनः ९ शाखाओं में विभाजित हो गया—वात्सीपुत्रीय, धर्मोतर, भद्रयानिक, सम्मितीय, छान्दागारिक, महीशासक, धर्मगुप्तिक, काश्यपीय तथा सौत्रान्तिक।

कालान्तर में महासंघिक महायान तथा स्थविरवाद हीनयान के रूप में उभरे। इनकी पुनः दो-दो प्रसिद्ध दार्शनिक शाखायें हुईं—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक हीनयान की तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद महायान की। इन चार दर्शन-शाखाओं के प्रकाश में आने से बौद्धमत के इतिहास में सर्वथा नये दर्शन-युग का आरम्भ हुआ।

काश्मीर में बौद्ध मत

बौद्ध मत के इतिहास में काश्मीर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। नागार्जुन, अश्वघोष, वसुबन्धु आदि दार्शनिकों का काश्मीर से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। कनिष्क के राज्यकाल में होने वाली सुप्रसिद्ध चतुर्थ बौद्ध संगीति के आयोजन के लिए काश्मीर को चुना गया। इस संगीति का उद्देश्य बौद्धमत के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप देना तथा उन सिद्धान्तों पर सर्वास्तिवाद के अनुसार व्याख्या लिखना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के बाद कनिष्क ने काश्मीर राज्य को बुद्ध-संघ को भेंट कर दिया।[४७] ईसा की पहली शती की इस घटना के बाद से काश्मीर बौद्ध मत का प्रमुख केन्द्र बन गया था। किन्तु नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना के उपरान्त बौद्ध मत के अध्ययन का केन्द्र धीरे-धीरे पूर्वी भारत हो गया। फिर भी काश्मीर में बौद्ध मत के अध्ययन की परम्परा समाप्त नहीं हुई थी। सातवीं शती में जब ह्वेनसांग तक्षशिला होता हुआ काश्मीर आया तब यहाँ इसका प्रभाव था। उस समय भी पाँच हजार भिक्षुओं वाले विहार थे। परन्तु पहली और सातवीं शती के प्रभाव में भेद यह आ गया था कि सर्वास्तिवाद के स्थान पर महायान अधिक लोकप्रिय बन गया था।[४८]

बौद्ध मत-सम्बन्धी नवीनतम जानकारी प्राप्त करने हेतु तिब्बत के भिक्षुओं

४६. विस्तार के लिये देखिये—Bapat, *2500 Years of Buddhism*, p. 88.
४७. वही, पृ० १७६-७७.
४८. वही, पृ० २३६.

के दसवीं शती में काश्मीर आने के उल्लेख[४९] से पता चलता है कि यहां बौद्ध धर्म का जन-सामान्य में प्रचार-प्रसार उस समय भले ही कम हो गया हो, बौद्ध मत के उच्च अध्ययन के केन्द्र के रूप में इसका महत्त्व अवश्य था।

ईसा पूर्व दूसरी शती से ईसा पश्चात् दूसरी शती तक सर्वास्तिवाद और उसकी शाखाओं का विकास हुआ। सर्वास्तिवाद का विशेष प्रचार उत्तरी भारत में था जिसमें काश्मीर को भी माना जा सकता है।[५०] काश्मीर में गिलगित में मूल-सर्वास्तिवाद के विनयपिटक का एक भाग हस्तलिपि के रूप में प्राप्त हुआ है,[५१] जिससे यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि काश्मीर में सर्वास्तिवाद का प्रचार-प्रसार था। बाद में सर्वास्तिवाद की ही शाखा के रूप में यहाँ वैभाषिक मत का इतना प्रचार बढ़ा कि काश्मीर को वैभाषिकों का प्रमुख केन्द्र माना जाने लगा। इन वैभाषिकों का नाम ही 'काश्मीर-वैभाषिक' पड़ गया। ये वैभाषिक स्वयं को इतना प्रमुख मानने लगे थे कि काश्मीर के बाहर के सर्वास्तिवादी और वैभाषिकों को ये 'बहिर्देशक', 'पाश्चात्य' और 'अपरान्तक' कहने लगे।[५२] वसुबन्धु की रचना अभिधर्मकोश मूल रूप में काश्मीर की वैभाषिक शाखा के दृष्टिकोण से लिखी गई थी।[५३]

बौद्ध एवं शैवों के विवाद की पृष्ठभूमि

प्रारम्भ में बौद्ध और शैव मत काश्मीर में साथ-साथ प्रचलित थे। यद्यपि इनके सिद्धान्तगत और दृष्टिगत विरोध प्रकट थे तथापि इनमें संघर्ष का रूप सामने नहीं था। एक ही राजा के परिवार के विभिन्न सदस्य दोनों में से अलग अलग धर्मों को अपना लेते थे। परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध मतानुयायी शैवों पर हावी होने लगे। वे शैवों को कुछ हीन भावना और द्वेष-दृष्टि से देखने लगे। परिणाम स्वरूप शैवों में भी प्रतिक्रिया की भावना जागी। साथ ही देश के अन्य भागों से भी बौद्ध धर्म और दर्शन के विरुद्ध आवाजें उठने लगीं। काश्मीर में भी इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप एक नूतन शैव दर्शन का जन्म हुआ जो अद्वैतवादी था। शैव धर्म बौद्ध धर्म से प्रबल टक्कर लेना चाहता था, उसके प्रभाव को कम और समाप्त करना चाहता था, परन्तु बौद्ध धर्म के पीछे सशक्त दर्शन था जिसकी शैवमत में कमी थी। काश्मीर के दार्शनिकों ने इस अभाव का अनुभव करके शैव धर्म को

४९. वापट, पृ० ६९.
५०. वही, पृ० ५६
५१. वही, पृ० १५०.
५२. नरेन्द्रदेव, 'बौद्धधर्मदर्शन', पृ० ३११.
५३. काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो ममायं कथितोऽभिधर्मः। 'अभिधर्मकोश', ८.४०.

सबल दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए शैव दर्शन की अद्वैतवादी शाखा का सूत्रपात किया जिसमें प्रत्यभिज्ञा ही प्रमुखतम है।[५४]

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अशोक के बाद उसके पुत्र जालुक के समय से ही काश्मीर में शैव मत ने बौद्ध मत का विरोध आरम्भ कर दिया था। जालुक कट्टर शैव था। उसने एक अवधूत के कहने से शैवमत का ही अनुगमन करने की प्रतिज्ञा की थी। उसने बौद्ध-विहारों को ध्वस्त करके उनके स्थान पर शिव मन्दिर भी बनवाये थे। परन्तु यह विरोध धर्म के स्तर पर था। काशैद के आविर्भाव के बाद इस धार्मिक विरोध को दार्शनिक संघर्ष का स्वरूप मिला और अन्ततोगत्वा बौद्ध मत को काश्मीर के शैवमत से धर्म एवं दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में पराजय का सामना करना पड़ा।[५५]

वैसे शैव मत और बौद्धमत के संघर्ष तथा शैवमत द्वारा बौद्धमत की आलोचना की कहानी काशैद के आविर्भाव से ही आरम्भ नहीं हुई। शैवागमों में बौद्ध मत के खण्डन की प्रवृत्ति यह दर्शाती है कि इसके बीज वहीं पहुँच चुके थे।[५६] फिर भी यह कहा जा सकता है कि आगमों में बौद्धमत की आलोचना की प्रवृत्ति ने वैसा व्यवस्थित एवं प्रबल रूप धारण नहीं किया था जैसा कि काशैद के साहित्य में मिलता है।

बौद्ध दार्शनिकों से नैयायिकों का ऐतिहासिक संघर्ष भारतीय दर्शन के इतिहास में सुज्ञात है।[५७] बौद्ध दार्शनिकों को एक ओर नैयायिकों की तीव्र तर्क-निष्ठा का सामना करना पड़ा तो दूसरी ओर मीमांसकों की विशिष्ट वेद-निष्ठा का। यही नहीं, स्वयं बौद्ध दर्शन भी अपने आन्तरिक मतभेदों, परस्पर-विरुद्ध मतवादों से ग्रस्त था। ऐसी स्थिति में बौद्ध दर्शन का न्याय, मीमांसा व अन्य दर्शनों से सूक्ष्मतम विषयों को लेकर संघर्ष और अधिक जटिल एवं व्यापक हो गया।

काशैद के दार्शनिक इस वादविवाद का तात्त्विक अनुशीलन करने में तल्लीन थे। उनका भी प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध था। किन्तु वे न्याय-मीमांसा के सिद्धान्तों तथा 'युक्तियों' और 'निष्ठा' के मर्म को समझते थे। वे इन मतों एवं दृष्टियों के दौर्बल्य से परिचित थे। ऐसी स्थिति में वे न तो न्याय-मीमांसा को समर्थन दे सकते थे, न ही बौद्ध मत से अपनी प्रतिद्वन्द्विता समाप्त कर सकते थे। अन्त में गहन विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बौद्धों से संघर्ष के लिए उन्हें कोई

५४. Ray, S. C., *EHCK*, p. 174.

५५. द्र०—Hassan, F. M., *Buddhist Kashmir*, p. 16.

५६. द्र०—यदुवंशी 'शैवमत', पृ० १४४.

५७. विस्तार के लिये देखिये—उपाध्याय, भरतसिंह, 'बौदभाद', २, पृ० ८५२ और आगे।

ऐसी शैव-दृष्टि विकसित करनी होगी जो बौद्धों के धर्म तथा अद्वैतवादी शाखाओं से टक्कर भी ले सके और जिसमें न्याय-मीमांसा आदि मतों की दुर्बलताएं भी न हों। काशैद के प्रादुर्भाव में यह पृष्ठभूमि एक महत्त्वपूर्ण कारण रही है।

शैवाचार्यों की द्विपक्षीय भूमिका तथा परस्पर प्रभाव

काशैद के बौद्ध-विरोधी रुख के दो पक्ष हो गये। एक न्यायादि द्वारा बौद्ध मतों का खण्डन तथा दूसरा स्वतन्त्र रूप से बौद्ध दर्शन की आलोचना। काशैद के दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में इस द्विपक्षीय संघर्ष को चातुर्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। काशैद के ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध एवं न्यायादि का मत है तथा बाद में काशैद द्वारा बौद्ध मत का खण्डन, तथा स्वमतस्थापन। काशैद और बौद्ध दार्शनिकों में न्याय एवं मीमांसा के दार्शनिकों की तरह सीधा संघर्ष नहीं हुआ और न ही इनमें न्यायादि के ग्रन्थों एवं दार्शनिकों की क्रमिक परम्परा की तरह परम्परा ही बनी। इसके स्थान पर काशैद ने बौद्ध-सम्बन्धी अपना पूर्व पक्ष वहाँ से आरम्भ किया जहाँ न्यायादि मतों का खण्डन करते हुए बौद्ध दार्शनिक अपने मत की स्थापन करते हैं। काशैद की इस पद्धति का लाभ यह हुआ कि उसने एक ओर बौद्ध मत के विरोध को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में धराशायी करने का प्रयत्न किया और बौद्ध मतों का व्यवस्थित खण्डन किया, वहाँ उसे न्यायादि मतों की दुर्बलता की ओर संकेत करने का तथा उनके विरोध प्रकट करने का अवसर भी मिला। काशैद के लिए यह पद्धति अपनाना इसलिए भी आवश्यक था ताकि उसके समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण की पुष्टि हो सके। इससे यह बात भी स्पष्ट है कि काशैद ने प्रायः बौद्ध के उन्हीं मतों पर अधिक प्रहार किया है जो मत न्याय की पहले ही आलोचना कर चुके थे। इस पद्धति का प्रमाण है अभिनवगुप्त की **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**।

काशैद का प्रमुख विरोधी बौद्ध दर्शन हैं।[५८] इस विरोध का पहला कारण दोनों दर्शनों की पृष्ठभूमि में उनके तत्तत् धार्मिक मत थे (जिनका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है) तथा दूसरा कारण इनके सिद्धान्तों में परस्पर भेद है।

किसी भी दर्शन का अन्य दर्शन पर प्रभाव का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह उसके सिद्धान्त या विचार को स्वीकार ही करे। कोई दर्शन किसी अन्य दर्शन के मत से असहमति रखते हुए भी प्रभावित हो सकता है। प्रभाव के लिए सिद्धान्त या विचार की स्वीकृति आवश्यक नहीं।[५९] इसी दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि स्वयं बौद्ध मत उपनिषदों के कतिपय विचारों से विरोध रखते हुए भी सामान्यतया उनसे प्रभावित है। इसी तरह न्याय, मीमांसा एवं वेदान्त के साथ बौद्ध-

५८. आत्मन एवं सद्भावे ये विप्रतिपन्नाः……त एव इह मूलविपक्षाः। 'ईप्रविवि', १, पृ० ११२.
५९. Murti, T. R. V., *Vedanta and Buddhism*, p. 63.

दर्शन के विरोध की परम्परा भी इन दर्शनों पर बौद्ध मत के तथा बौद्ध मत पर इन दर्शनों के प्रभाव को उजागर करती है। ठीक इसी प्रकार काशैद बौद्ध मत का विरोधी अवश्य है परन्तु साथ ही इसके सिद्धान्तों के निर्माण की पृष्ठभूमि में बौद्ध मान्यताओं का सहयोग भी रहा है। दूसरी ओर बौद्ध मत के दार्शनिकों पर शैव मत का किस प्रकार प्रभाव पड़ रहा था इसका एक उदाहरण शंकरानन्द है। शंकरानन्द (७७५-८२५) पहले बौद्ध था तथा बौद्धाचार्य धर्मोत्तर का शिष्य था। परन्तु बाद में शैव बन गया तथा उसने अभिनवगुप्त का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। अभिनवगुप्त ने इनकी एक रचना **प्रज्ञालंकार** का उल्लेख[६०] किया है। जोशी का विचार है कि शंकरानन्द बौद्ध विज्ञानवाद और शैव आत्मवाद को जोड़ने वाला सेतु है, ठीक उसी तरह जैसे गौडपाद की **माण्डूक्यकारिका** माध्यमिक शून्यवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद के बीच की कड़ी है।[६१] परन्तु पाण्डेय कहते हैं कि शंकरानन्द द्वैतवादी था।[६२] अतः यह कैसे सम्भव है कि एक द्वैतवादी विचारधारा का दार्शनिक दो अद्वैतवादी विचारधाराओं में सामंजस्य का माध्यम बने। कुछ भी हो, शंकरानन्द[६३] की एकमात्र रचना **प्रज्ञालंकार** का ही उल्लेख मिलता है और वह भी अब उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में शैव और बौद्ध मतों के सामंजस्य में उसके योगदान का मूल्यांकन अपूर्ण एवं निराधार ही कहा जाएगा।

---

६०. (i) 'ईप्रवि', १, पृ० २२५.
(ii) 'ईप्रविवि', २, पृ० १६, ३४.
(iii) 'तंत्रालोक', २, पृ० ५४, ६२, ६४.

६१. द्र०—Joshi, Lalmani, *Studies in the Buddhistic Culture of India*, p. 23.

६२. *Abhi*, p. 171.

६३. शंकरानन्द की दार्शनिक स्थिति एवं काशैद से उसके सम्बन्ध के लिए द्र०—**Gnoli**, *Pramanavartikam of Dharmakirti*.

३

वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

उपनिषद् एवं वेदान्त शाखाएँ

वेदान्त अर्थात् वेद का अन्त। 'अन्त' से यहाँ 'वेद का अन्तिम भाग' समझा जाए अथवा 'वेद का अन्तिम या चरम लक्ष्य'– दोनों ही अर्थों में 'वेदान्त' का आशय है उपनिषद्। उपनिषत्-साहित्य के ही सामान्य मतों को 'ब्रह्मसूत्र' में प्रस्तुत किया गया है। इस अर्थ में ब्रह्मसूत्र भी 'वेदान्त' ही है। वस्तुतः 'वेदान्त' का प्रारम्भिक और अव्यवस्थित रूप उपनिषत्-साहित्य में है तथा दूसरा व्यवस्थित रूप बादरायण द्वारा विरचित 'ब्रह्मसूत्र' में है।[६४] अतः 'ब्रह्मसूत्र' ही वेदान्त दर्शन का प्रथम, प्रामाणिक एवं व्यवस्थित ग्रन्थ माना जा सकता है। कालान्तर में, उपनिषद् एवं प्रमुखतः 'ब्रह्मसूत्र' के आधार पर जिन दर्शन शाखाओं का विकास हुआ उन्हें भी वेदान्त दर्शन कहा जाने लगा। वेदान्त दर्शनों में पाँच प्रमुख हैं—शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत तथा वल्लभ का शुद्धाद्वैत। वेदान्त दर्शन के नाम को सीमित अर्थ में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति, कालान्तर में, इस स्तर पर पहुँच गई कि वेदान्त-दर्शन से शंकर का अद्वैतवाद ही समझा जाने लगा।

उपनिषद् भारतीय प्रज्ञा के अनन्य कोष हैं। रानाडे के मतानुसार, उपनिषदों में सत्य के प्रति वह दृष्टि देने की सामर्थ्य है जिससे मानव की वैज्ञानिक दार्शनिक तथा धार्मिक जिज्ञासाएं सन्तुष्ट हो सकें।[६५] अपनी इसी विशिष्ट सामर्थ्य के कारण ये अनेक भारतीय दर्शनों के आधार ग्रन्थ हैं। साथ ही यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि इन्होंने कालान्तर में विकसित होने वाली समस्त दर्शन शाखाओं को, चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, आस्तिक हों या नास्तिक, तान्त्रिक हों या आगमिक, किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित किया है। भारतीय दार्शनिक साहित्य और उसकी विविध विचारधाराओं के विकास में उपनिषदों का योगदान अद्वितीय है।

यद्यपि उपनिषद्-साहित्य का समस्त दार्शनिक विचारधाराओं पर प्रभाव है तथापि वेदान्त दर्शन की विविध शाखाओं से उनका अपेक्षाकृत घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेदान्त दर्शन की शाखाओं के लिए वे अन्तिम, प्रामाणिक एवं आधार ग्रन्थ हैं।

६४. द्र०—Max Muller, *Three Lectures on Vedanta Philosophy*. p. 29.

६५. द्र०—Ranade, *CSUP*, p. 1.

काशैद, वेद एवं उपनिषदों को ऐसा महत्त्व नहीं देता। वह एक आगमिक दर्शन है। उसके उपनिषद् आगमशास्त्र है। अतः प्रामाण्य की दृष्टि से उसके लिए आगमों का स्थान उपनिषदों से पहले है।

शैव दर्शन में आगम-निगम का प्रामाण्य

काशैद आगमों को प्रमाण-शास्त्र मानता है। अतः अपनी मान्यताओं का स्रोत उन्हें ही बताता है। तथापि इसके साहित्य में अनेकशः उपनिषद्-वाक्यों को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। ऐसा करते हुए काशैद के दार्शनिक यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि उनके विचार उपनिषद् या वेदान्त से भिन्न नहीं। इस प्रवृति के दो कारण हो सकते हैं—पहला यह कि काशैद की प्रमुख एवं मूलभूत मान्यताओं में उपनिषद्-विचार से वास्तविक साम्य हो, तथा दूसरा यह कि वास्तविक साम्य न होने पर भी वेद-उपनिषद् की सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठा एवं वर्चस्व को अस्वीकार करते हुए चलना तथा अपने नूतन दर्शन को प्रतिष्ठा दिलाना उन्हें सम्भव प्रतीत न हुआ हो। अतः विवश होकर उन्हें उपनिषद्-वाक्यों को यत्र-तत्र उद्धृत करना पड़ा हो।

काशैद के सिद्धान्तों की संरचना पर विचार करने से दोनों ही कारणों में सत्यता प्रतीत होती है। काशैद के दार्शनिक यह मानते थे कि उनका विचार एवं दर्शन, कतिपय प्रतिष्ठित दर्शनों की अपेक्षा नूतन है। ये दार्शनिक वेद, उपनिषद्, गीता की प्रतिष्ठा एवं लोक-स्वीकृति से भी परिचित थे। साथ ही जब उन्होंने देखा कि वेद, उपनिषदादि में किसी एक ही विचार की प्रस्थापना नहीं है तथा विविध एवं परस्पर-भिन्न मतावलम्बी भी उनका समर्थन सरलता से करते हैं तब उन्होंने मूल रूप से आगमों की अद्वैतवादी व्याख्या पर आधारित अपने दर्शन की मान्यताओं को वेदादि के वाक्यों से पुष्ट करने में कोई हानि नहीं समझी। ऐसा करने से जहाँ बौद्ध दार्शनिकों से संघर्ष करने में उन्हें कुछ सुविधा मिली वहाँ वेदान्त के दार्शनिकों से अनावश्यक वाद-विवाद से बचने का लाभ भी हुआ। वेदादि के वाक्यों के उद्धरण देने, अपने मत की उनसे पुष्टि करने अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो उनका सम्मान करने से काशैद और वेदान्त तथा वैष्णव दर्शन के दार्शनिकों में कभी वैसी सीधी टक्कर नहीं हुई जैसी बौद्ध दार्शनिकों से हुई है। वेदान्त और काशैद दोनों ही दर्शनों का प्रयत्न बौद्ध दर्शन को धराशायी करने का था—इसलिए लक्ष्यगत ऐक्य के कारण भी काशैद का वेदादि को समर्थन और सम्मान देना आवश्यक था।

उपनिषद् विचारों से समानता

का ने उपनिषद् के विचारों से काशैद की कतिपय मान्यताओं में साम्य

माना है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान' या 'प्रत्यभिज्ञान' शब्द। यह शब्द वेदान्त (उपनिषद्) में ब्रह्म के ज्ञान के लिए तथा काशैद या प्रत्यभिज्ञा दर्शन में महेश्वर के ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। उपनिषदों में कहा गया है—'आत्मानं विद्धि', 'य आत्मा सोऽन्वेष्टितव्यः स विजिज्ञासितव्यः', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आदि। उनका अनुमान है कि सोमानन्द से पूर्व भी 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द आत्मा को जानने-पहचानने के लिए प्रयुक्त होता था। इसका दर्शन विशेष से पहले कोई सम्बन्ध नहीं था।[६६] परन्तु वे आगे कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द ('अनुत्तर' एवं) 'प्रत्यभिज्ञा' का बीज बौद्ध मतों में है। बौद्ध मतानुसार 'संज्ञा' का विशेष लक्षण है अभिज्ञान के द्वारा प्रत्यभिज्ञान।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ महेश्वर में मानी गई हैं—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।' काशैद में भी स्मृति-ज्ञान-अपोहन आदि शक्तियाँ महेश्वर में मानी गई हैं। भगवद्गीता (१५.१५) में भी ठीक यही विचार मिलता है—'मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च।' काशैद के 'शिवः सर्वमिति' के बीज उपनिषद् के 'यस्य शक्तिलता.........जगत् भास्यते' में तथा 'ब्रह्मेवेदं सर्वम्' में देखे जा सकते हैं। परमतत्त्व विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय है, काशैद का यह विचार उपनिषद् के 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च' (बृ० उ० २. ३. १.) तथा 'एतद् वै सत्यकाम, परं चापरं च ब्रह्म' (प्रश्नो० ५. २) ऐसे वाक्यों का ऋणी है। परमेश माया के द्वारा जगत् को सत्ता में लाता है काशैद का यह विचार भी उपनिषद् के लिए नया नहीं है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यामायिनं तु महेश्वरम् तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' (श्वे० उप० ४.१०)।[६७]

वस्तुतः उपनिषद् और काशैद के कतिपय विचारों में समता है। परन्तु उपनिषदों में किसी एक व्यवस्थित विचार या दृष्टिकोण की पूर्णता ढूँढ़ना कठिन है। उनमें विभिन्न ऋषियों द्वारा कहे गये विविध वाक्य एवं विचार समाहित हैं तथा इसी स्थिति ने वेदान्त दर्शन की विविध शाखाओं को जन्म दिया। यही नहीं जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों के कतिपय विचारों का स्रोत भी उपनिषद् माने गये हैं।[६८] ऐसी स्थिति में जबकि समस्त भारतीय दर्शन धाराएँ, परस्पर विपरीत मत रखते हुए भी उपनिषत्-साहित्य की ऋणी हैं तब काशैद पर भी उपनिषत् का कुछ प्रभाव होना स्वाभाविक है।

६६. Kaw, *DR*. p. 31.
६७. वही; पृ० ३३-३४.
६८. द्र० —Ranade, *CSUP*, p. 131-32.

श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा शैव दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। रानाडे कहते हैं—यह ठीक है कि रुद्र-शिव का स्वरूप ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के काल में विकसित हो गया था परन्तु शिव-सिद्धान्त को न्यूनाधिक मात्रा में दार्शनिक आधार केवल श्वेताश्वतर के काल से प्राप्त हुआ। इसी उपनिषद् ने काशैद एवं दक्षिणी शैव मत के दर्शन-मार्ग को प्रशस्त किया।[६९] परन्तु सूर्यनारायण शास्त्री[७०] के मत में **श्वेताश्वतर उपनिषद्** शैवागमों की छाया में विकसित हुए हैं क्योंकि सामान्यतया प्रारम्भिक उपनिषदों में परम तत्त्व को ब्रह्मन् कहा जाता है जबकि इसमें उसे शिव नाम दिया गया है।

वस्तुतः उपनिषत्-साहित्य किसी एक ऋषि के द्वारा तथा एक ही समय में नहीं रचा गया है। **श्वेताश्वतर उपनिषद्** की रचना किस समय हुई यह कहना कठिन है। परन्तु शंकर ने अपने उपनिषद्-भाष्य में उसे परिगणित नहीं किया है। इससे यह अनुमान लगाना सहज है कि यह शंकर के समय तक प्रसिद्धि प्राप्त करके प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था।

गीता तथा ब्रह्मसूत्र

गीता वेदान्त दर्शन के आधार-ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में से एक है। उपनिषद् से **गीता** का मात्र यही वैशिष्ट्य है कि यह उन्हीं के विचारों को अधिक स्पष्टता तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर पायी है। इस अर्थ में वस्तुतः यह भी एक उपनिषद् है।

शैव दर्शन का, उपनिषद् की अपेक्षा, **गीता** से अधिक स्पष्ट एवं निकट का सम्बन्ध है। शैव मत की परम्परागत मान्यता के अनुसार कृष्ण त्रिक दर्शन की गुरु परम्परा में परिगणित हैं। **हरिवंशपुराण** के अनुसार ऋषि दुर्वासा ने कृष्ण को ६४ आगमों की शिक्षा दी थी। इसी प्रकार **महाभारत** के मोक्षपर्व में कहा गया है कि कृष्ण ने उपमन्यु से द्वैत एवं अद्वैत शैवागमों के उपदेश ग्रहण किये।

जहाँ तक काशैद का सम्बन्ध है ऐसा प्रतीत होता है कि इसके दार्शनिक **गीता** को शैव दर्शन के ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उन्होंने कृष्ण और **गीता** के प्रति अपने सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए गीता पर शैव-दृष्टिकोण से टीकाएं लिखीं। वसुगुप्त (९वीं शती का प्रारम्भ) ने इस पर '**वासवी**' टीका लिखी (जो दुर्भाग्यवश अनुपलब्ध है)। सोमानन्द एवं उत्पल ने अपनी रचनाओं में **गीता** के प्रचुर प्रमाण उदधृत किये। अभिनवगुप्त ने **भगवद्गीतार्थसंग्रह** में शैव-दृष्टिकोण से इसके सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत किया। रामकण्ठ (१० वीं शताब्दी) ने **सर्वतोभद्र** नामक टीका लिखी।

६९. द्र०—वही, पृ० १४१-४२.
७०. द्र०—*Sivadvaita of Srikantha.*

ब्रह्मसूत्र (२. १. ३७-३८) में माहेश्वर मत की आलोचना की गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रकार के समय तक शैव मत को दार्शनिक मान्यता मिल चुकी थी। अब यह एक भिन्न प्रश्न है और इस बारे में मतभेद हो सकते हैं कि यह माहेश्वर मत शैव दर्शन की कौनसी शाखा है। पाण्डेय इसे पाशुपत मत से ही समीकृत करते हैं क्योंकि यह शाखा भी द्वैतवादी है तथा **ब्रह्मसूत्र** में द्वैतवादी शाखाओं के क्रम में ही इसकी आलोचना की गई है।[७१]

काशैद के आविर्भाव से बहुत पहले **ब्रह्मसूत्र** की रचना हो चुकी थी इसलिए काशैद के ग्रन्थों में इसका उल्लेख होना स्वाभाविक था : परन्तु प्रत्यक्षतः ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। श्रीकण्ठ (१३५०) ने इस पर विशिष्टाद्वैतवादी शैव भाष्य लिखकर इसे भी शैव मत के ग्रन्थों में परिगणित करने का आधार तैयार किया है।[७२]

---

७१. द्र०—*Bhaskari*, **III, p. 13.**

७२. शंकर और श्रीकण्ठ के भाष्यों में तुलना के लिए द्र०—**Dasgupta**, *Literature and History of Southern Saivism*, **p. 65-66.**

४

शंकर एवं काश्मीर शैव दर्शन

शंकर एवं शैव मत

शंकराचार्य (७८८-८२०) अद्वैत वेदान्त के महान् दार्शनिक हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ वैष्णव सम्प्रदाय के थे किन्तु शंकर धर्म की दृष्टि से शैव थे और दर्शन की दृष्टि से वेदान्ती। उनके बाह्य व्यक्तित्व के चिन्ह त्रिपुण्ड आदि, साधना एवं व्यवहार के क्षेत्र में, उनके शैव होने की पुष्टि करते हैं।[७३] वे दक्षिण के निवासी थे जहाँ आगमों पर आधारित शैव-मत सुप्रतिष्ठित था। शंकर शैवमत के धार्मिक पक्ष एवं आगम साहित्य से ही परिचित नहीं थे अपितु इस मत का दार्शनिक पक्ष भी उन्हें ज्ञात था। उन्होंने **ब्रह्मसूत्र-भाष्य** के अन्तर्गत पाशुपत जैसे द्वैतवादी शैव दर्शन का खण्डन किया है। इसी तरह दक्षिण में प्रचलित शैवमत की द्वैतवादी दार्शनिक शाखा 'शैव सिद्धान्त' से भी वे संभवतया परिचित थे क्योंकि उनके आविर्भाव काल से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अर्थात् सातवीं शती में इस शाखा के दो सन्त 'अप्पर' तथा 'मणिक्कवासगर' हो चुके थे।[७४] इस शाखा का क्या और कितना साहित्य शंकर को उपलब्ध था यह कहना कठिन है क्योंकि वर्तमान में इस शाखा का जो साहित्य उपलब्ध होता है वह उनके बाद का है।[७५]

शंकराचार्य के समय शैव दर्शन की क्या स्थिति थी एवं स्वयं उनकी दृष्टि में इसका क्या दार्शनिक महत्त्व था इसकी जानकारी का अच्छा एवं प्रामाणिक आधार **ब्रह्मसूत्र** (२.२.३७) पर उनका भाष्य है। इसमें उन्होंने माहेश्वर मत का खण्डन किया है। वाचस्पति मिश्र[७६] के अनुसार शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती एवं कापालिक इन चारों को मिलाकर माहेश्वर मत कहा जाता है। वस्तुतः महेश्वर मत किसे कहा जाये इस विवाद से हटकर देखें तो यह निश्चित है कि **ब्रह्मसूत्र** में आलोच्य मत पाशुपत ही है। इसका कारण यह है कि पाशुपत द्वैतवादी है और

---

७३. द्र०—*Bhaskari*, III, p. 15.

७४. द्र०—यदुवंशी, 'शैवमत', पृ० १६६.

७५. सद्यो ज्योति (९वीं शताब्दी) की रचनाएं उपलब्ध हैं। विस्तारार्थ द्र०—*Bhaskari*, III, p. 15.

७६. 'भामती', २. २. ३७.

द्वैतवादी दर्शनों के क्रम में ही इसकी समालोचना की गई है। पाण्डेय[७७] भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं।

शांकर स्तोत्र

पाण्डेय शंकर को न केवल शैव धर्म से प्रभावित मानते हैं अपितु उन्हें शैव स्तोत्रों के रचयिता भी स्वीकार करते हैं। उनके विचार में **दक्षिणामूर्तिस्त्रोत** तथा **आनन्दलहरी** शंकर की ही रचनाएं हैं। इन दो स्तोत्र-रचनाओं से **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** के कतिपय कथनों एवं पारिभाषिक शब्दों में साम्य[७८] प्रदर्शित करते हुए वे यह मत व्यक्त करते हैं कि शंकर का परम सत्ता का स्वरूप वही है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन का है।[७९]

पाण्डेय का यह मत विचारणीय है। **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** एवं **सौन्दर्य-लहरी** जैसी रचनाएं शंकर की ही हैं, यह अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। इन रचनाओं को शंकर के प्रामाणिक साहित्य में परिगणित नहीं किया जाता है।[८०] दूसरी ओर यदि तर्क रक्षा के लिए अथवा शंकर के धर्म-दृशा शैव होने के प्रकाश में इस स्तोत्र-साहित्य का रचनाकार उन्हें मान भी लिया जाए तब भी उनकी इस धर्म-दृष्टि की तुलना किसी दर्शन-दृष्टि से नहीं की जा सकती क्योंकि काशैद के जिस ग्रन्थ **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** से वे **दक्षिणामर्तिस्तोत्र** की तुलना करते हैं और जिससे वे शब्द-साम्य प्रदर्शित करते हैं वह दर्शन का ग्रन्थ है। यही नहीं, **दक्षिणामूर्ति** जैसी रचनाओं में उनके दर्शन-मत की अभिव्यक्ति मानने से स्वयं उन्हीं के अन्य ग्रन्थों से मतभेद उत्पन्न हो जाएगा अर्थात् शंकर के ही मत में असंगति उत्पन्न हो जाएगी। जहाँ तक **दक्षिणामूर्तिस्तोत्र** और **सौन्दर्यलहरी** तथा **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में शब्द एवं विचार साम्य का प्रश्न है, वह होना स्वाभाविक है क्योंकि (जैसा कि पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है) शंकर आगम, तन्त्र एवं

७७. द्र०—*Bhaskari*, III, p. 10-14, 64.

७८. Pandey, *Abhi*, p. 152.

७९. "If we compare the philosophical ideas of Sankara, as contained in his Daksina Murti Stotra and explained by his pupil, Suresvaracarya in his commentary on the above stotra, we find that Sankara's conception of the Ultimate reality is the same as that of the Pratyabhijna. In fact he uses all the technical expressions in the same sense in which they areused in the Pratyabhijna." —वही, पृ. १५१.

८०. शर्मा के विचार में यह तान्त्रिक साहित्य सम्भवत: किसी अन्य तान्त्रिक ने लिखकर शंकर के नाम से प्रचारित किया है। *Kashmir Saivism*, p. 51.

शैवमत से सुपरिचित थे। वे दक्षिणवासी थे, जहाँ शैव मत का प्रचार था। ऐसी स्थिति में तन्त्रादि साहित्य के शब्द और विचारों से उनकी रचनाओं—**दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र** आदि, में (यदि वे उन्हीं की सिद्ध मान ली जाती हैं तो) समता होना असम्भव नहीं। साथ ही पुनः ऐसे शब्द एवं विचारों की काशैद के शब्द-विशेषों एवं विचारों से समता होना भी सम्भव है क्योंकि काशैद का आधार भी आगम एवं तन्त्र ही है। इसके दार्शनिकों ने भी अधिकांश शब्द उसी तन्त्र साहित्य से लिये हैं जो शंकर के काल में उपलब्ध था।

इसके साथ ही उक्त रचनाओं की समता के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि काशैद और शंकर के परमतत्त्व के स्वरूप में भेद नहीं है। वस्तुतः दोनों के परमतत्त्व के स्वरूप में भेद है जिसका यथा स्थान विवेचन किया जायेगा।

शंकर की काश्मीर यात्रा

शंकर देश के शेष भागों में बौद्धों से संघर्ष करने और उन्हें पराजित करने के बाद ९वीं शती के प्रारम्भ में काश्मीर आये थे। फर्कुहर[८१] ने इस परम्परा में विश्वास व्यक्त किया है। इस यात्रा की मान्यता का एक मात्र आधार **शंकर-दिग्विजय** जैसी रचनाएं हैं, जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। पाण्डेय का विश्वास है कि अन्य बातें भले ही सन्देहास्पद हों, शंकर ने काश्मीर का भ्रमण किया था, यह सर्वथा असत्य नहीं हो सकता। वे इस विश्वास के दो कारण बताते हैं—पहला यह कि स्थानीय परम्परा आज भी ऐसा ही मानती है और दूसरा यह कि शंकर के तान्त्रिक दर्शन का त्रिक दर्शन पर इतना महान् प्रभाव है कि इस दर्शन के संस्थापक-लेखकों से शंकर का व्यक्तिगत सम्पर्क आवश्यक है ताकि इतने शीघ्र एवं कम समय में शंकर अपने दर्शन की उनके सम्मुख व्याख्या कर सकें।[८२]

वस्तुतः भारतीय समाज और साहित्य में दन्तकथा और परम्परा के नाम पर अनेक असंगत एवं सर्वथा अप्रामाणिक कथाएं प्रचलित हैं। कालिदास के सम्बन्ध में **भोजप्रबन्ध** की कथाओं की प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता से कौन-कैसे सहमत हो सकता है। क्या **शंकरदिग्विजय** की हर घटना अथवा उन घटनाओं के मूल आधार से सहमत हुआ जा सकता है? परम्परा के नाम पर यह भी कहा गया है कि गौडपाद के शिष्य गोविन्दपादाचार्य अभिनवगुप्त के गुरु थे।[८३] इन

८१. Farquhar, J. N., *An Outline of the Religious Literature of India*, p. 198.
८२. Pandey, *Abhi*, p. 151-52.
८३. इस परम्परा का उल्लेख कुन्डु ने (*NDSSP*, पृ० १७) किया है।

भ्रमों का कारण सम्भवतया नाम-साम्य है और स्वयं पाण्डेय ने इस तरह की मान्यताओं को निराधार सिद्ध किया है।[८४]

एक परम्परा यह भी कहती है कि जब शंकर काश्मीर आए थे तब उन्हें अपने वेदान्त की अपेक्षा शैवमत की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिये विवश किया गया था। परन्तु, काश्मीर के विविध पक्षों का विस्तृत एवं गहन अध्ययन करने वाले सूफी का विचार है कि शंकर का कोई प्रमुख ग्रन्थ इस परम्परा-कथन की पुष्टि नहीं करता। अतः इसे उचित नहीं माना जा सकता। सम्भवतया यह शंकर नामधारी कोई अन्य व्यक्ति हो।[८५]

शंकर की काश्मीर यात्रा के अधिक विस्तार में जाना तथा इसकी ऐतिहासिकता या प्रामाणिकता का विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक है। यह हमारा अभीष्ट भी नहीं। शकर और काशैद में परस्पर सम्बन्ध जानने के लिए इस यात्रा का विवरण सहायक हो सकता था; परन्तु इसका विवाद-रहित एवं सर्वमान्य विवरण उपलब्ध नही है। अतः केवल इस यात्रा के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वस्तुतः यह भारतीय दर्शन के इतिहास की एक अपूर्णता कही जायेगी कि इसके सर्वाधिक प्रतिष्ठित आचार्य-शिरोमणि की सर्वमान्य प्रामाणिक जीवनी नहीं लिखी जा सकी। जो प्रयत्न इस दिशा में किये भी गये हैं उनमें प्रामाणिकता एवं परस्पर संगति का अनेकत्र अभाव है।

शंकर एवं त्रिक दर्शन : परस्पर प्रभाव

काशैद और शंकर या शांकर मत में से किसने किसको प्रभावित किया तथा कितना प्रभावित किया इस बारे में सामान्य रूप से दोनों ही तरह के मत व्यक्त किये हैं। पूर्व पृष्ठों में एक परम्परा का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार 'शंकर जब काश्मीर आए थे तब उन्हें अपने मत की अपेक्षा शैव मत की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिए विवश किया गया था।' इसी तरह यह भी कहा जाता है कि शंकर का अन्य सम्प्रदायों के पण्डितों के अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय के पण्डितों से भी शास्त्रार्थ हुआ था[८६] परन्तु 'विवश किया जाना' तथा 'शास्त्रार्थ होना' अपने आप में ऐसे कथन हैं जिनके आधार पर दोनों को दोनों ही से प्रभावित सिद्ध किया जा सकता है अथवा ऐसे कथनों से दोनों ही के परस्पर प्रभावित होने की ध्वनि निकलती है। वस्तुतः परम्परा के नाम पर प्रकट की गई ऐसी मान्यताएं एवं

८४ द्र०—Pandey, *Abhi.* P. 4-5.
८५. द्र०—Sufi, G. M. D., *Kashir*, Vol. I, p. 70.
८६. द्र०—यदुवंशी, 'शैवमत', पृ० १५५.

उल्लेख 'शैवमत और शंकर' में परस्पर प्रभाव ढूँढ़ने वाले जिज्ञासु को किसी ठोस निर्णय पर नहीं पहुँचाते ।

पाण्डेय-मत एवं उसका विश्लेषण

पाण्डेय के मतानुसार 'शंकर के तांत्रिक दर्शन का त्रिक दर्शन पर महान् प्रभाव है ।' इस विषय के सिद्धान्त-पक्ष पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा । यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि शंकर के दर्शन का त्रिक दर्शन (काशैद) पर यदि प्रभाव मान भी लिया जाए तब भी शंकर का वह दर्शन तान्त्रिक नहीं, वैदिक है— अद्वैत वेदान्त है । भारतीय दर्शन के इतिहास में इसी रूप में शंकर की प्रतिष्ठा है, न कि तांत्रिक दार्शनिक के रूप में; क्योंकि वस्तुतः शांकर दर्शन नहीं, अपितु त्रिक दर्शन तान्त्रिक दर्शन है ।

यदि पाण्डेय की उपर्युक्त मान्यता का आधार शंकर की तन्त्र रचनाएं या स्तोत्र-साहित्य है तब भी इस मान्यता से सहमति प्रकट नहीं की जा सकती क्योंकि धर्म-भावना से लिखी गई शंकर की उन रचनाओं को न तो दर्शन की रचनाएं माना जा सकता है, न ही इससे उनका काशैद या त्रिक दर्शन पर प्रभाव सिद्ध होता है ।

उपर्युक्त तन्त्र रचनाओं के प्रणेता चाहे शंकर हों अथवा कोई दूसरा परन्तु यह निश्चय है कि इन रचनाओं का आधार तन्त्र-दृष्टि है । अतः यदि शंकर को इनका रचयिता माना जाता है तो भी ये रचनाएं शंकर के दार्शनिक विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, अपितु शंकर के दर्शन-मत से भिन्न ही मत व्यक्त करती हैं, ऐसी स्थिति में शंकर के दर्शन का काशैद पर प्रभाव जानने के लिए इन रचनाओं को आधार नहीं बनाया जा सकता ।

फर्कुहर,[८७] बनर्जी,[८८] तथा यदुवंशी[८९] के विचार में शंकर के प्रभाव के फलस्वरूप काश्मीर में वसुगुप्त के **शिवसूत्र** की रचना हुई तथा शैवमत के भावी आन्दोलन को बल मिला । पाण्डेय[९०] भी **शिवसूत्र** की रचना में शंकर का ही प्रभाव मानते हैं ।

बौद्धों से विरोध की पृष्ठभूमि

वस्तुतः ८वीं शती का अन्तिम एवं नवीं शती का प्रारम्भिक भाग भारतीय

८७. द्र०–Farquhar, J. N., *An Outline of the Religious Litareture of India,* p. 198.
८८. द्र०–Banerji, S. C., *Cultural Heritage of Kashmir*, p. 108.
८९. द्र०–यदुवंशी, 'शैवमत', पृ० १७१.
९०. द्र०–Pandey, *Abhi*, p. 154.

दर्शन के इतिहास में अद्वैतवाद के विकास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण चरण है। इस काल में बौद्धों के विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के विरुद्ध जो वातावरण बन रहा था, बौद्धेतर भारतीय दर्शनों की विचारधाराओं में जो परिवर्तन आ रहा था, उसके फलस्वरूप दक्षिण में वेदादि के आधार पर शांकर मत का आविर्भाव हुआ तथा उत्तर में आगमों के आधार पर काशैद का। शंकर (७८८-८२०) और काश्मीरवासी वसुगुप्त तथा सोमानन्द (६वी शती का प्रारम्भ) की लगभग समकालीनता इस बात को पुष्ट करती है कि दोनों दिशाओं में बौद्धों का विरोध प्रबल था। शांकर मत एवं काशैद के आविर्भाव के मूल में बौद्धों के प्रति प्रतिक्रिया की भावना थी। शंकर बौद्धों के विरुद्ध अपने अभियान में अपूर्व सफलता प्राप्त करते हुए अपने मत के प्रचार-प्रसारार्थ देश के अन्य भागों की यात्रा भी करते रहे, जबकि काश्मीर के दार्शनिक अपनी भौगोलिक सीमा में ही बौद्धों से धर्म और दर्शन के क्षेत्र में संघर्ष करते रहे। शंकर का अपनी यात्रा के क्रम में काश्मीर आना और वहाँ पूर्वत: प्रचलित प्रबल बौद्ध-विरोध को उनकी यात्रा से बल मिलना भले ही सम्भव हो परन्तु इसके आधार पर वसुगुप्त के **शिवसूत्रों** की रचना में मात्र शंकर का प्रभाव सिद्ध नहीं होता।

शैव दर्शन का प्रादुर्भाव एवं शंकर

यह भी नहीं कहा जा सकता कि शंकर के अद्वैतवाद से ही प्रभावित होकर काश्मीर में शिवाद्वैतवादी विचारधारा का आरम्भ हुआ, क्योंकि शंकर ही भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रथम अद्वैतवादी नहीं है। शंकर से पूर्व गौडपाद (एवं गोविन्दपाद) वेदान्त मत के ही अन्तर्गत इसका प्रवर्तन कर चुके थे। वस्तुतः अद्वैत विचार-धारा के प्रामाणिक आरम्भ का श्रेय प्रथमतः उपनिषद् एवं उनके बाद बौद्ध मत को जाता है[६१] अथवा स्वयं शंकर का अद्वैतवाद शून्यवाद और विशेषतः नागार्जुन से प्रभावित माना गया है[६२] और इसीलिये उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक की उपाधि दी जाती है। यही नहीं ताराचन्द[६३] की दृढ़ मान्यता है कि शंकर ने अपने मत के विविध पक्षों को भले ही उपनिषद् से लिया हो किन्तु उन्हें एक सूत्र में व्यवस्थित करने में वे इस्लाम से प्रभावित हुए हैं।

काशैद के प्रादुर्भाव में शंकर का 'महान् प्रभाव' ढूँढने से पूर्व हमें इस दर्शन की शाखाओं को नहीं भूलना चाहिये। काशैद की प्रथम शाखा क्रम है जिसका

६१. Dasgupta, *HIP*, I, p. 494.

६२. Bapat, *2500 Years of Buddhism*, p. 316.

६३. (i) Tarachand, *Influence of Islam on Indian Culture*, p. 107-111;
(ii) Sufi, G. M. D., *Kashir*, Vol, I, p. 71.

प्रादुर्भाव सातवीं शती में हो चुका था। प्रत्यभिज्ञा इसकी दार्शनिक शाखा है जिस के संस्थापक सोमानन्द थे। सोमानन्द वेद, उपनिषद् और गीता को सम्मान पूर्वक तथा उनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए उद्धृत करते हैं परन्तु शांकर मत का स्पष्ट कोई संकेत नहीं देते। शंकर ही नहीं, **ब्रह्मसूत्र** के रचयिता बादरायण और गौडपाद का भी **शिवदृष्टि** में स्पष्ट उल्लेख न होना यह सन्देह उत्पन्न करता है कि वे इनके दर्शन से भी परिचित थे या नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'सोमानन्द' इनके पूर्व के हैं अथवा वे वेदान्त दर्शन के नाम पर वेद, उपनिषद् और गीता को ही समझते थे। हाँ, यह सुनिश्चित है कि सोमानन्द वेदान्त दर्शन के विविध एवं अव्यस्थित मतों से परिचित थे। उन्होंने **शिवदृष्टि** के छठे आह्निक में अनेक वेदान्त-मतों का उल्लेख किया है तथा उनसे अपनी असहमति प्रकट की है।

वस्तुतः वेदान्त एवं काशैद दो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधि मत हैं। वेदान्त दर्शन वैदिक विचारधारा का तथा काशैद आगमिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। अतः इन दोनों विचारधाराओं में जो साम्य-वैषम्य है, वही दोनों दर्शनों में भी है। फलतः काशैद के ग्रन्थों में वेदान्तिक दर्शन से सहमति एवं असहमति दोनों का ही उल्लेख सहज एवं स्वाभाविक है। संक्षेप में काशैद द्वारा वेदान्त दर्शन की यही पृष्ठभूमि है।

दक्षिण के शैव मतावलम्बी आगमों की द्वैतवादी व्याख्या में विश्वास करते थे किन्तु उत्तर के दार्शनिक मानते थे कि आगमों में अद्वैतवाद का प्रतिपादन है।[६४] अतः शांकरमत अद्वैत-दृष्टि के साम्य के कारण उत्तरी शैव मत काशैद के अधिक निकट है। वस्तुतः वेदान्त (शांकर मत) ऐसा दर्शन है जिससे काशैद के दार्शनिक अन्य दर्शनों की तुलना में, अधिकतम सहमत हैं। इसीलिये यह [६५] विचार व्यक्त किया गया है कि काशैद वेदान्त दर्शन का ही अग्रिम सोपान है। दोनों ही दर्शन समान रूप से बौद्ध-विरोधी हैं। समान प्रयोजन एवं अद्वैतवादी दृष्टि के कारण, काशैद के दार्शनिकों ने शांकर मत की आलोचना एवं परिष्कार जहाँ आवश्यक समझा वहाँ वैसा किया तथा इस प्रकार अद्वैतवाद के ही पूर्ण स्वरूप अर्थात् महाद्वैत की सिद्धि का दावा किया।

---

६४. दक्षिण के 'शैवसिद्धान्त' एवं 'वेदान्त' में परस्पर भेद के लिए द्र०–**Pandey**, *Bhaskari*, III, p. 69-70; Sivaraman, K., *Saivism in Philosophical Perspective of Knowledge*, p. **78-80, 341-4.**

६५. व्यूहलर ने अपनी रिपोर्ट (१८७६) में प्रत्यभिज्ञा दर्शन और शंकर की मान्यताओं पर टिप्पणी की है—**The Pratyabhijna system appears to be pure idealism and an application of Sankaracharya's Principles to the Saiva philosophy.** दासगुप्ता (*Indian Idealism*, p. **193**) भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

काशैद तथा विविध शाखाओं सहित सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन का उद्देश्य एक ही है–जिज्ञासु को अपने स्वरूप का ज्ञान कराना। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के उपाय और उनके प्रति दृष्टिकोण में परस्पर भेद है। शंकर का अद्वैतवाद निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए जगत् से पलायन की नीति का आभास देता है किन्तु मीमांसा इसके विपरीत अपने दर्शन को जगत् पर केन्द्रित करता है और कर्म–वैदिककर्म–की स्थापना करता है जबकि काशैद दोनों मतों के बीच का मार्ग अपना कर अपनी समन्वयदृष्टि से, परम तत्त्व एवं जगत् के भेद की दूरी कम ही नहीं, समाप्त करता है। वह वेदान्त के ज्ञान तथा मीमांसा के कर्म में समन्वय करते हुए ज्ञान और कर्म को ही जीवन मानता है–"ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् (प्रत्यभिज्ञाकारिका, १. १. ४.)।

५

सांख्यादि एवं काश्मीर शैव दर्शन

काशैद का आविर्भाव भारतीय दर्शन के इतिहास-पटल पर उस समय हुआ जब अनेक प्रमुख दर्शन अपने सिद्धान्तों को स्थिर कर चुके थे। ऐसी स्थिति में काशैद के दार्शनिकों को अन्य दर्शन-मतों के विषय में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने तथा उनकी आलोचना करने का अवसर सुलभ था। काशैद के साहित्य में बौद्ध एवं वेदान्त के अतिरिक्त जिन अन्य दर्शनों की न्यूनाधिक चर्चा मिलती है, वे हैं–शब्दब्रह्मवाद, शाक्तमत, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, जैन दर्शन तथा चार्वाक। इस पुस्तक की मर्यादा के कारण काशैद के साथ इन समस्त मतों का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ इन मतों की संक्षिप्त चर्चा का प्रयोजन यह है कि काशैद द्वारा वेदान्त मत की समालोचना का व्यापक आधार तैयार हो सके।

सांख्य

सांख्य द्वैतवादी है। इसलिये शैवमत की द्वैतवादी शाखा शैवसिद्धान्त का झुकाव इसकी ओर अधिक है। इसमें प्रकृति को वेदान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। इस कारण भी सांख्य एवं दक्षिण का शैवमत अधिक निकट है। सांख्य की पृष्ठभूमि धार्मिक नहीं है। उपनिषदों के उत्तर काल में वह नास्तिक हो गया, अतः सारभाव से आस्तिक शैवमत का इससे सम्बन्ध टूट गया।[६६]

काशैद के सभी प्रमुख ग्रन्थों में इस दर्शन की मान्यताओं के विभिन्न बिन्दुओं की समालोचना की गई है। वस्तुतः बौद्ध के बाद यही दर्शन काशैद का बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है। दूसरे शब्दों में काशैद के ग्रन्थों में अद्वैतवादी मतों में बौद्धमत तथा द्वैतवादी मतों में सांख्यमत की आलोचना का प्राधान्य है।

काशैद की मान्यताओं पर सांख्य का प्रभाव कम नहीं है। सांख्य में २५ तत्त्व माने गये हैं और काशैद ३६ तत्त्व मानता है। इन ३६ तत्त्वों में से २५ तत्त्व वे ही है जो सांख्य द्वारा मान्य हैं; बस उनकी परिभाषा एवं स्वरूप में किंचित् भेद है। सांख्य और काशैद के पुरुष व प्रकृति के स्वरूप, मोक्ष, आदि में भेद है।

यदि सांख्य को पुरुष और प्रकृति की भिन्नता का दर्शन कहें तो काशैद इसका विकसित रूप है अर्थात् काशैद ने सांख्य के मत को परिष्कृत करने का प्रयत्न

६६. द्र०–यदुवंशी, 'शैवमत', पृ० १६६-६७.

किया है इसमें पुरुष और प्रकृति में भिन्नता को समाप्त कर सामरस्य का विचार प्रस्तुत किया गया है।

न्याय-वैशेषिक

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन शैव विचारधारा के उद्भव के बाद के दर्शन हैं। प्राचीन शैवमत से इनका निकट का सम्बन्ध है। इन दर्शनों के संस्थापक गौतम और कणाद क्रमशः शैव और पाशुपत थे।[६७] इन मतों की तत्त्वमीमांसा और मोक्ष की धारणा प्राचीन शैव परम्परा का अनुगमन करती है।

काशैद अद्वयवादी दर्शन है और ये द्वैतवादी। अतः इनके विचारों एवं दृष्टि-कोणों में भेद होना स्वाभाविक है। काशैद के सभी प्रमुख ग्रन्थों में इनके असत्कार्य-वाद, परमाणुवाद, सम्बन्ध, मोक्ष, ईश्वर का स्वरूप, ज्ञान-मीमांसा आदि विविध पक्षों पर न्यूनाधिक रूप में समालोचना प्रस्तुत की गई है। उत्पलाचार्य ने **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका** (१. २. १-११) में बौद्ध के पूर्व पक्ष के रूप में इसके मतों को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः न्याय एवं वैशेषिक के मतों पर बौद्ध द्वारा जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, काशैद के दार्शनिकों ने स्वदृशा उसका समुचित उत्तर देने का प्रयास किया है परन्तु इसके साथ ही वे न्यायादि के मतों की दुर्बलताओं की ओर संकेत करने तथा उनकी आलोचना करने से भी नहीं चूके हैं। वस्तुतः पुरुष और प्रकृति के स्वरूप और उनके सम्बन्ध की सांख्यवादी मान्यता में परिष्कार की भाँति ही यहाँ न्यायादि के ईश्वर के स्वरूप में परिष्कार किया गया है।

मीमांसा

मीमांसा दर्शन प्राचीन काल से ही उपेक्षित रहा है। कुन्हन राज का यह आरोप[६८] उचित ही है कि भारतीय विचारधाराओं की एक परम्परा के रूप में सौजन्य-वश इसका उल्लेख किया जाता है, न कि इसके दार्शनिक महत्त्व को स्वीकृति दी जाती है। वस्तुतः जीवन की समस्याओं का तात्त्विक निरूपण करने की दृष्टि से मी ांसा में दर्शनतत्त्व कम है। किन्तु प्राचीन परम्परा में भारतीय दर्शन के विचारकों में जितने अधिक पाण्डित्य सम्पन्न और तर्कशील आचार्य मीमांसकों में हुये हैं उतने सम्भवतः नैयायिकों को छोड़कर और किसी परम्परा में नहीं हुए। शंकर

६७. द्र०–Pandey, *Bhaskari*, III, p. CXCVII.

६८. "...Max Muller devotes 90 pages for the Vedanta...and only 20 pages for Mimamsa, Dr. S. Radhakrishnan allots 215 pages for the Vedanta in its Monistic School, and allows only 55 pages for the Mimansa system ... M. Hiriyana ... qives 70 Pages for the Vedanta and 38 for the Mimamsa S. N Dasgupta ... 320 Pa ges for the Vedanta and 40 for the Mimamsa." Raja C. Kunhan, *Some Fundamental Problems in Indian Philosophy."* p 248.

जैसे महान् तार्किक दार्शनिक को भी सबसे पहले मीमांसकों का ही प्रत्याखान करना पड़ा और बौद्धों की प्रबलतम मुठभेड़ें, जिन अन्य प्रतिद्वन्द्वी दर्शन-सम्प्रदायों के आचार्यों से हुई उनमें नैयायिकों के साथ मीमांसकों ने सम्भवतः सबसे अधिक भाग लिया। अतः इस दृष्टि से मीमांसा की परम्परा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।[९९]

काशैद एवं मीमांसा के सम्बन्ध स्पष्ट हैं। काशैद के व्यवस्थित आरम्भ से पूर्व मीमांसा दर्शन प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इसके सभी प्रमुख आचार्य जैमिनि (६०० ईसा पूर्व), शबर (१०० ईसा पूर्व), कुमारिल भट्ट (७६० ईसवी) तथा प्रभाकर (७७५ ईसवी) अपना साहित्य लिख चुके थे। शंकर ने मीमांसा के मतों का प्रबल खण्डन किया है। इसलिये उनके लगभग समकालीन सोमानन्द के लिए भी मीमांसा के मतों से परिचित रहना स्वाभाविक है। उन्होंने **शिवदृष्टि** में तथा अभिनवगुप्त ने **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** में इस दर्शन के मतों का संक्षिप्त खण्डन किया है।

मीमांसा दर्शन यदि वेद को अपौरुषेय मानता है तो काशैद आगमों को। मीमांसा की वेद-निष्ठा की तरह काशैद के दार्शनिकों की आगमनिष्ठा प्रबल है।[१००] मीमांसकों पर वेद-रक्षा का भार है तो काशैद के दार्शनिक आगमों के महत्त्व की स्थापना करना अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते हैं। दोनों ही दर्शन अपने-अपने दृष्टिकोण से धर्म और दर्शन में समन्वय का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से जगत् की सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं; और अन्त में यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि मीमांसा की ही तरह, अपितु उससे भी अधिक, काशैद भी भारतीय दर्शन के इतिहासकारों द्वारा उपेक्षा का पात्र बना है क्योंकि भारतीय दर्शन का सामान्य परिचय देने वाले अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें काशैद या किसी शैव दर्शन का नामोल्लेख भी नहीं मिलता। इन कतिपय 'विशिष्ट' समताओं के बावजूद दोनों दर्शनों में सिद्धान्तगत भिन्नताएं भी कम नहीं हैं।

चार्वाक

चार्वाक भारतीय दर्शन के इतिहास का अन्यतम दर्शन है। यह जड़वादी दर्शन बार्हस्पत्य, चार्वाक, नास्तिक, लोकायत और भौतिक आदि नामों से समाख्यात है।[१०१] जिनदत्तसूरि[१०२] ने इसकी गणना 'षड्दर्शन' (जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य,

---

९९. द्र० उपाध्याय, भरतसिंह, 'बौद्धवाद', २. पृ० ६१८.
१००. इसका रोचक उदाहरण 'भास्करी' (१ पृ० १२) का आरम्भिक वादविवाद है।
१०१ द्र०—Dasgupta, *HIP*, III, p. 512
१०२. द्र०—पाठक, सर्वानन्द 'चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा', पृ० १०.

शैव और नास्तिक) में की है तथापि भारतीय दर्शन के इतिहास में मान्य 'षड्दर्शन' के समूह से यह बाह्य है।

अन्य भारतीय दर्शनों, विशेषतः आत्मवादी एवं अद्वैतवादी दर्शनों, की तरह काशैद में भी चार्वाक मत को आलोचित दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। **शिवदृष्टि, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** एवं **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी** में इस मत की चर्चा की गई है। यद्यपि माधव (१३५० ई०) इस मत का खन्डन, दुष्कर बताते हैं–'दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्' (**सदसं**, पृ० ३) परन्तु उनसे पूर्व अभिनवगुप्त ने इस मत को इतना दुर्बल कहा है कि यह स्वमत की स्थापना में भी समर्थ नहीं है और जब स्वपक्ष स्थापना ही इसके लिए सम्भव नहीं तब अन्य किसी मत में दोष निकालना इसके लिए कैसे सम्भव है ? यह मत प्रमाणादि की मर्यादा नहीं मानता और बिना प्रमाण के दूसरे मत को दूषित कर नहीं सकता और यदि ऐसा करता है तो प्रमाण न मानने के अपने सिद्धान्त से च्युत होता है।[१०३]

काशैद की समन्वय दृष्टि से इसे तत्त्व जिज्ञासा का प्रथम सोपान माना जा सकता है।

विशिष्टाद्वैत

काशैद की प्रत्यभिज्ञा शाखा के व्यवस्थित आरम्भ और विशिष्टाद्वैत के प्रथम आचार्य नाथमुनि का काल लगभग समान है। परन्तु दार्शनिक खण्डन-मण्डन की शैली और सिद्धान्तों के व्यवस्थित स्वरूप को स्थिर करने की दृष्टि से निश्चय ही काशैद अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है। सोमानन्द (९वीं शती का प्रारम्भ) ने शिवदृष्टि में ही अन्य दर्शन-मतों की समालोचना प्रारम्भ कर दी थी जबकि विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का दार्शनिक प्रणाली से सर्वप्रथम प्रतिपादन रामानुजाचार्य (१०१७-११३७ ई०) से माना जाता है।

काशैद और विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रादुर्भाव और विकास के इस साम्य-वैषम्य के साथ ही इनके प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि और स्थिति में भी पर्याप्त भेद है। काशैद के प्रादुर्भाव के पीछे बौद्ध दर्शन का वर्चस्व था। उसे बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों के समक्ष खड़ा होना था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु काशैद ने ऐसे मत की स्थापना की जिसमें अन्य भारतीय दर्शन-मतों से समन्वय स्थापित करने का आग्रह था दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस दर्शन के स्वरूप-निर्धारण से पूर्व ही शांकर वेदांत एवं काशैद ने बौद्ध दर्शन की मान्यताओं का प्रबल खण्डन करके उसे ध्वस्त-सा कर दिया था। अतः रामानुज का **प्रबल** विरोधी **बौद्ध** दर्शन

१०३. लौकायतिकाः स्वपक्षस्थापनाविहीनाः परपक्षमपि कथं दूषयेयुः प्रमाणादिप्रक्रियामर्यादानुप्रवेशेन तद्दूषणात्, तदनुप्रवेशे तु चार्वाकताहानिः। 'ईप्रविवि', खण्ड १, पृ० ११२.

नहीं बन सका। यद्यपि इस मत के परकालीन साहित्य में भी बौद्ध की मान्यताओं का खण्डन किया गया है तथापि रामानुज दर्शन का प्रमुख विरोधी बौद्ध दर्शन न होकर शांकर मत है।[१०४] शांकर मत से ही प्रेरणा प्राप्त करके उसी के सिद्धान्तों (अथवा कहा जाए प्रमुख रूप से मायावाद) की समालोचना के लिये ही इस दर्शन-शाखा का विकास हुआ। अतः जहाँ रामानुज का विशिष्टाद्वैत शांकर मत के विरोध की नींव पर खड़ा है, वहां काशैद का लक्ष्य बौद्धदर्शन के विरोध के साथ ही सभी भारतीय दर्शन-दृष्टियों में समन्वय है।

रामानुज-दर्शन का प्रमुख विरोध शांकर मत से रहा है और उसके पूर्ववर्ती काशैद के साहित्य में भी यथोचित रूप में शांकर मत की अपूर्णताओं और दुर्बलताओं का युक्तिपूर्ण खंडन किया गया है। अतः रामानुजीय मत पर काशैद का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इस तथ्य की पुष्टि वे अनेक युक्तियाँ करती हैं जो शांकर-मत के खंडन में काशैद ने दीं और लगभग वैसी ही युक्तियाँ रामानुज की ओर से बाद में प्रस्तुत की गईं।

जैन दर्शन

काशैद के साहित्य में न्यूनतम चर्चा यदि किसी दर्शन की मिलती है तो वह जैन दर्शन है। **शिवदृष्टि** में केवल दो स्थानों (४.६७; ६. २४-२६) पर अर्हत् के नाम से इसका उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख भी बड़े ही गौण रूप में हुआ है। काशैद के दार्शनिकों का जैन दर्शन के प्रति ऐसा रवैया क्यों रहा, इसके बारे में यहाँ निश्चित कुछ भी कहना सम्भव नहीं। इस रवैये के पीछे जैन दर्शन के प्रति उनकी अरुचि, उपेक्षा की भावना, उसके पूर्ण सैद्धान्तिक रूप के प्रति अज्ञान अथवा काश्मीर की ही कोई धार्मिक या सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हो सकती है।

---

१०४. विस्तार के लिए देखिये—Singh, Satyavrat, *Vedantadesika*, p. 343.

६

बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन की समन्वय दृष्टि

भारतीय संस्कृति की विशेषता : समन्वयात्मकता

भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं में से एक है उसकी अपूर्व समन्वयात्मकता। यह केवल विशेषता ही नहीं अपितु इसकी महानता भी है। अनेकता में एकता देखने का उसका स्वभाव रहा है। 'अविभक्तं विभक्तेषु' को ही उसने सच्चा ज्ञान माना। मत अनेक हैं परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है कि सत्य को खोजा जाय। यह सही है कि विभिन्न मतों का जो अतिविचार-मन्थन हुआ उसमें से शायद कुछ विष भी निकला किन्तु बाद में जो समन्वय का अमृत निकला, वही असली रत्न था।[१०५]

समन्वय-दृष्टि एवं वेद

भारतीय विचारधारा में समन्वय का आरम्भ वैदिक युग से ही हो गया था। वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करते थे उसी को वे सर्वगुणसम्पन्न एवं प्रधान बना देते थे। अनेक देवताओं की स्वीकृति पर भी पुनः उनमें एकत्व मानने का प्रयत्न अभूतपूर्व था। जब वैदिक ऋषि कहता है 'देवा भागं यथापूर्वं संजनाना उपासते' (ऋ० १०. १९१. २.) अर्थात् दैवी शक्तियाँ आपस में सामंजस्य के भाव से ही अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करती हैं। अथवा यह कहा जाता है कि ज्ञानियों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, आदित्य आदि नाम एक ही मूल सत्ता या अध्यात्म तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं।[१०६] तब इन कथनों से वैदिक ऋषियों की मौलिक आध्यात्मिक ऐक्य दृष्टि का ही संकेत मिलता है।

बौद्ध, वेदान्त एवं शैव दृष्टिकोण का तुलनात्मक विश्लेषण

संस्कृति की इस विशेषता को व्यावहारिक, स्थिर तथा विवेकपूर्ण बनाने का श्रेय धर्म और दर्शन को है। यह संयोगमात्र नहीं अपितु इस दृष्टि का वैशिष्ट्य ही है कि सभी भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय परस्पर तीक्ष्ण आलोचना-प्रत्यालोचना में रत रहते हुए भी यह दावा करते हैं कि उसी की दृष्टि सर्वाधिक समन्वयवादी है, मानो दर्शन का प्रमुख लक्ष्य ही समन्वय हो। इस प्रकार का प्रस्ताव करने वालों में स्वाभाविक रूप से अद्वैतवादी मत आगे होंगे। बौद्धमत में शून्यवाद, वेदान्त में

१०५. द्र०—वियोगी हरि, 'हमारी परम्परा', प्रस्तावना, पृ० ७.
१०६. ऋ० १.१६४.४६; यजु० ३२.१.

अद्वैतवाद (शांकर मत), एवं शैव दर्शनों में काशैद के दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शन को प्रकट अथवा अप्रकट रूप से, सर्वाधिक समन्वयवादी कहने व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

भारतीय दर्शनों के वर्गीकरण की एक पुरानी किन्तु दोषपूर्ण पद्धति है आस्तिक एवं नास्तिक दृष्टि से उनका विभाजन। इस पद्धति में वेद के तिरस्कार तथा ईश्वर व स्थिर आत्मा के अस्वीकार के कारण बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है। तब यह दर्शन कैसे समन्वय का आग्रह रख सकता है ? परन्तु शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक इस आरोप का दृढ़ता से खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। चन्द्रकीर्ति बिना किसी संकोच एवं पूर्वाग्रह के कहते हैं—'न वयं नास्तिका......... वयं तु निर्वाणपुरगामिनमद्वयपथं विद्योतयामः'; अर्थात् हम नास्तिक नहीं हैं; हम तो निर्वाण की ओर ले जाने वाले अद्वय मार्ग को प्रकाशित करते हैं। (माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३२९)। इसी प्रकार आत्मा के विरोधी होने के लांछन को भी निराधार सिद्ध करने के लिये नागार्जुन कहते हैं—'तथागत ने यह नहीं कहा कि आत्मा नहीं है।'[१०७] इसलिये आत्मा का विरोध करने के नाम पर न तो इस दर्शन को नास्तिक कहा जा सकता है, न अनात्मवादी और इसलिये सब दर्शनों में समन्वय करने के प्रयत्न का इसका अधिकार सुरक्षित है।

यदि बौद्ध दर्शन को वेद-विरोधी मानकर उसकी समन्वय-भावना को आघात पहुँचाने का प्रयत्न किया जाए तो यह उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि उपनिषदों में ही वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की ध्वनि सुनते हैं।[१०८] सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करते हुए भी वेद-मन्तव्य से अनेक बार कितने दूर चले जाते हैं तथा दूसरी ओर वेद को शब्दों में प्रमाण न मानकर भी बौद्ध मत उनके कितना निकट चला जाता है। यही नहीं स्वयं कुमा-

१०७. 'माका', १८.६

१०८. इस सम्बन्ध में विस्तारार्थ द्र०–DEUSSEN, P., *The Philosophy of the Upanishads*, translated by GEDEN, A. S., Edinburgh, 1808, p. 21; MACDONELL, A. A., *A History of Sanskrit Literature*, Delhi, 1961, p. 220; WINTERNITZ, M., *A History of Indian Literature*, Vol. I, Part I, Translated by Mrs. KETKAR, S., University of Calcutta, 1962, p 201-2; HUME, R. E., *The Thirteen Principal Upanishads*, London (Oxford), 1962, p. 53; RADHAKRISHNAN, S., *The Philosophy of the Upanisads*, London, 1935, p. 19-20; MOOKERJI, R. K., *Hindu Civilisation*, Part I, Bombay, 1963, p 117; HIRIYANNA, M, *Outlines of Indian Philosophy*, London, 1964, p. 48 etc.

रिल (७वीं शती) ने भी एक सच्चे सत्यान्वेषी के रूप में यह स्वीकार किया है कि विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद और अनात्मवाद उपनिषद् से ही उत्पन्न हुए हैं, अतः उन सबका प्रामाण्य है, वे सब प्रामाणिक दर्शन हैं। कुमारिल द्वारा बौद्ध मत का 'उपषित्प्रभवत्व' स्वीकार करना यह प्रमाणित करता है कि बौद्ध मत बाह्य रूप में वेद एवं उपनिषद् का विरोधी होते हुए भी वास्तव में नहीं है।

शून्यवाद की समन्वय भावना पर सन्देह करते हुए एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि यदि यह मत समन्वय-दृष्टि में विश्वास करता है तो अपने तीक्ष्ण एवं अकाट्य तर्कों से दूसरे दर्शन-मतों का खण्डन क्यों करता है? इस आपत्ति के लिए भी इसके दार्शनिकों का उत्तर तैयार है—वे कहते हैं कि दूसरों के मत में दोष निकालना ही हमारा कार्य है।[१०९] परन्तु साथ ही वे किसी मत से विरोध की बात को यह कहकर झुठलाना चाहते हैं कि अद्वयशून्यवाद में किसी के विरोध का स्थान कहाँ? हम उन मूर्खों से लड़ने के बजाय उन आलोचकों या विरोधियों का सत्कार करके उन्हें विदा करते हैं,[११०] अर्थात् शून्यवाद अन्य दर्शनों से विरोध रखते हुए और उनकी आलोचना करते हुए भी उनके मत का 'सत्कार' करके अपनी समन्वय-भावना प्रकट करता है।

शून्यवादी दार्शनिक यह नहीं चाहते कि दूसरे मतों की आलोचना करने के बाद उनसे स्वयं का सिद्धान्त पूछा जाए। वे कहते हैं—हमारा अपना कोई मत नहीं। हम किसी मत-विशेष की स्थापना नहीं करते। यही कारण है कि हमारे 'मत' में कोई दोष नहीं निकाल सकता। दोष तो उनमें हो जिनका कोई मत हो। कोई दृष्टि हो।[१११] वास्तव में शून्यवादी 'दृष्टि-विहीन दृष्टि' या 'मत-विशेष से रहित मत' में विश्वास करते हैं।

अस्तु, शून्यवादी बौद्ध के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट आभास मिलता है कि यह दर्शन स्वयं को दूसरे दर्शनों का विरोधी नहीं मानता अर्थात् इसके दार्शनिक अपनी शून्यवादी दृष्टि में सबको समन्वित करने का प्रयत्न करते हैं; अब यह एक भिन्न बात है कि वह इस प्रयत्न में कितना सफल होता है और इस प्रयत्न को कितना 'सत्कार' तथा मान्यता मिलती है।

---

१०९. परप्रतिज्ञाप्रतिषेधमात्रफलत्वात् प्रसंगापादनस्य नास्ति प्रसंगविपरीतार्थापत्तिः।
—'प्रसन्नपदामाध्यमिकवृत्ति', 'सौसिसासं', पृ० ५३-५४.

११०. न विज्ञ बालेहि करोन्ति विग्रहं सत्कृत्य बालान् परिवर्जयन्ति। —'समाधिराजसूत्र', उद्धृत— 'सौसिसासं', पृ० ३२.

१११. यदि कश्चित् निश्चयो नामास्माकं स्यात्, स प्रमाणजो वा, स्यादप्रमाणजो वा न त्वस्ति। 'प्रसन्नपदामाध्यमिकवृत्ति', 'सौसिसासं', पृ० ५४.

वेदान्त दर्शनों में अद्वैतवाद अथवा शांकर मत स्वयं को समन्वयवादी के रूप में प्रस्तुत करता है। **ब्रह्मसूत्र** का **समन्वयाधिकरण** इस प्रस्ताव का बीज है। 'तत्तुसमन्वयात्' (ब्रसू १.१.४) के विस्तृत व्याख्यान चाहे वे द्वैत दृष्टि से या द्वैताद्वैत दृष्टि से ही क्यों न किये गये हों, वेदान्त दर्शन की समन्वय दृष्टि के विविध स्तरों के विविध व्याख्यान हैं। राममूर्ति शर्मा, अद्वैत वेदान्त का 'ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अनुशीलन' करने का प्रयास करते हुए, जो निष्कर्ष निकालते हैं तथा इस अद्वैतवाद की जो विलक्षणताएं मानते हैं–उनमें से एक है इस दर्शन की समन्वयवादिता। स्वयं उन्हीं के शब्दों में—"अद्वैतवाद के दार्शनिक महत्त्व का दूसरा पक्ष उसकी समन्वयवादिता है। अद्वैतवाद की इस समन्वयवादिता के भी दो रूप मिलते हैं। एक समन्वयवादिता तो वह है जिसके कारण अद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त भारतीय दर्शन पद्धतियों को स्थान प्राप्त है और दूसरी समन्वयवादिता वह है जिसके कारण अद्वैतवाद के सिद्धांतों में परस्पर विरोध नहीं प्रतीत होता।"[११२]

काशैद की समन्वय-दृष्टि की पुष्टि निम्न बिन्दु करते हैं—

१. पूर्व पृष्ठों में अन्य दर्शनों के साथ काशैद के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस दर्शन ने अपने मत के निर्माण में अनेक दर्शनों को आत्मसात् किया है। इसके दार्शनिकों ने अनेक दर्शन-मतों को इस चातुर्य से समाहित करके अपना दर्शन प्रस्तुत किया जिससे एक ओर शैवागमों से उसका सम्बन्ध भी बना रहे और दूसरी ओर वह स्वतंत्र दर्शन के रूप में भी प्रतिष्ठित हो सके। काशैद के सिद्धान्त-निर्माण में यह पृष्ठ-भूमि उसकी समन्वय-दृष्टि को सशक्त आधार देने वाली है।

२. काशैद यद्यपि वेद पर आधारित षड्दर्शनों की तरह, वेद को अन्तिम प्रमाण नहीं मानता तथापि यह अपने मत की पुष्टि में वेद, उपनिषद् एवं गीता को उद्धृत करके इनके विचारों से समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

३. काशैद के ग्रन्थों में जिस ढंग से अन्य दर्शनों की आलोचना की गई है, उन्हें स्वदर्शन की भूमिका-विशेष के स्तर का माना है वह उन दर्शनों से विरोध के स्थान पर इसके समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। **शिवदृष्टि** (पृ० १६३) में कहा गया है 'न हि सर्वत्र दर्शने सर्वैरेवार्यैस्तुल्यैर्भाव्यम्' अर्थात् आवश्यक नहीं कि सब दर्शनों में सब मतों में तुल्यता हो। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** (भाग १, पृ० २१७) में इस

११२. 'अद्वै', पृ० ३५२.

मान्यता को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'सर्वाणि दर्शनानि हि परोपकारार्थमेव कांचित्कांचिद्भूमिकां दृढीकुर्वन्ति, अन्यथा परपद-दर्शिनां तेषामवान्तरनिष्ठता न युक्ता।' क्षेमराज भी स्पष्ट ही घोषित करते हैं—'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः' (प्र०हृ०, सूत्र ८)।

इसी मान्यता का अनुसरण करते हुए इस दर्शन में चार्वाक शरीर-स्थित अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने वाला है। न्याय-मीमांसा बुद्धि को, विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धिवृत्ति को और उपनिषत् के कतिपय विचारक प्राणों[११३] को ही आत्मा मानने वाले कहे गये हैं। उप-निषद् के कतिपय चिन्तक ईश्वर तत्त्व की भूमिका में स्थित हैं। शब्द ब्रह्मवादी की दृष्टि में 'पश्यन्ती' ही आत्मतत्त्व है।

४. इस दर्शन की तत्त्व-मीमांसा में परम तत्त्व का स्वरूप ही समन्वय का है। **शिव-शक्ति और प्रकाश-विमर्श** में नित्य सामरस्य मानना इसी का द्योतक है।

५. यह न केवल धर्म और दर्शन अपितु आचारशास्त्र के भी समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करता है।[११४]

६. इस दर्शन का एक नाम 'त्रिक' है। इस नाम के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि यह भेद अभेद और भेदाभेदवादी मतों का समन्वय करता है।

बौद्धों ने 'मध्यम मार्ग' की शोध की किन्तु काशैद के आविर्भाव काल में परिस्थितियाँ भिन्न थीं तथा 'मध्यम मार्ग' द्वारा मानव को दुःखों से छुटकारा मिलना दुर्लभ हो गया था। ऐसी स्थिति में समन्वय-प्रधान नूतन सुघट मार्ग[११५] या दृष्टि की शोध करके जिज्ञासु की मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत किया। अतः दर्शन के

---

११३. वैदिक साहित्य में प्राण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ ऋग्वेद में 'प्राणं वातः' कहा गया है वहाँ उपनिषदों में यही प्राण अपनी दार्शनिक परिपक्वता में आकर ब्रह्म का पर्याय बन गया है।

११४. *Bhaskari*, II, Introduction, p. 12.

११५. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो। –'ईप्रवि', ४. १. १६.
प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः। –'तन्त्रा', १. १. १३.

क्षेत्र में, भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक दृष्टि का सर्वोत्तम[११६] प्रतिनिधि काशैद है। भारतीय दर्शन के इतिहास और विकास में यही इसका योगदान है।

११६. वाक्यप्रमाणपदतत्त्वसदागमार्थाः
स्वात्मोपयोगमुपयान्त्यमुतः स्वशास्त्रात् ।
भौमान् रसांजलमयांश्च न सस्यपुष्टौ
मुक्त्वार्कमेकमिह योजयितुं क्षमोऽन्यः ।। –'ईप्रवि', समापनश्लोक, पृ० ३१७

द्वितीय परिच्छेद

कारणवाद

१. आभासवाद

२. जड-कारणवाद एवं उसकी समालोचना

३. प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उसकी समालोचना

४. विवर्तवाद एवं उसकी समालोचना

१
आभासवाद

कर्तृकर्मभाव

कारणवाद दर्शन की रीढ़ है। इसके बिना जगत् एवं परम तत्त्व की मीमांसा परस्पर विच्छिन्न होकर अपनी प्रामाणिकता को संदिग्ध बना देती है। काशैद के दार्शनिकों की चिन्तन-प्रक्रिया ने कारणवाद की समस्या के अत्यन्त गहन तल को छूने का प्रयास किया है। इस दर्शन में कर्तृकर्मभाव ही कार्यकारणभाव है।[1] आभासवाद का अभिधान इसी का अपर पर्याय है। इसकी पारिभाषिक शब्दावली में कार्य को कर्म कहा जाता है क्योंकि वह कर्ता की ही कृति है। कारण के लिए कर्ता शब्द का प्रयोग यहाँ प्रचलित है क्योंकि कर्म कर्ता में पूर्वतः अभिन्न रूप से विश्रान्त का ही बहिराभासन है।[2] इस मत में सभी भाव अथवा वस्तु स्वयं ही भासनशील हैं, उन्हें आभासित करने की नहीं, मात्र प्रेरित करने की आवश्यकता है।[3] यही कर्तृरूप कारण का बहिराभासनरूप कार्य है।

कर्तृत्व एवं स्वातंत्र्य

काशैद लौकिक एवं अलौकिक सभी प्रकार के कारण में इच्छा का प्राधान्य मानता है। घट के निर्माण में कुम्भकार की इच्छा कारण है। योगी भी अपनी इच्छा मात्र से घट का निर्माण करता है। इसी प्रकार विश्व भी परमेश्वर की इच्छामात्र से ही आभासित होता है। जड़ वस्तु में इच्छा का होना सम्भव नहीं उसमें वह उपचारमात्र के लिए होती है। अतः जड़ को कथमपि कारण नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर इच्छा चेतन में रहती अवश्य है परन्तु इसका यह अर्थ भी

---

१. स्वमते कर्तृकर्मभाव एव कार्यकारणभावः। 'ईप्रवि', २.४ का प्रारम्भ; अतएव कर्तृकर्मभाव सतत्व एव कार्यकारणाभावः इति नः सिद्धान्तः। 'तन्त्रावि', ६. १३.
·········कार्यकारणभावसमाख्याबलात्कर्तृकर्मभाव एवाश्रयणीयो, यत् कार्यमाभासनक्रिया-विषयत्वात् कर्मैव कार्यते······। वही, ६. ८.

२. कारणमपि कर्तर्येव विश्रान्तम् ··· इति संविदात्मन्यवस्थितस्य चार्थस्य बहिरवभासनम् ···। वही, ६. ८,
एष एव पुराणः प्रमाता अमून् भावान् आभासितपूर्वान् आभासान् आभासयति अविच्छिन्नेन प्रबन्धेन। 'भा', २. ४. १.

३. तत्र च भावाः स्वयमेव भासनकर्तारः, अयन्तु तेषां तत्र भासने प्रेरणां करोति···। वही, २. ४. मंगलाचरण।

नहीं कि केवल चिन्मात्र को कारण मान लिया जाये। चिन्मात्र को कारण मानने अथवा उनमें इच्छा मान लेने पर भी वह इसलिये कारण नहीं बन सकता क्योंकि उसमें कर्म करने की शक्ति अथवा क्रिया नहीं है। क्रिया-शक्ति से रहित चिन्मात्र इच्छा होते हुए भी कुछ नहीं कर सकता है। अतः इच्छात्मक कारण के क्रियापूर्वक कार्य-हेतु कर्ता की आवश्यकता है। किन्तु मात्र कर्ता को कारण मान लेने से भी कारणवाद की समस्या पूर्णतः नहीं सुलझ जाती। काशैद के दार्शनिक केवल कर्ता के विचार में अपने कारणवाद की इति नहीं मानते हैं। उसका लक्ष्य केवल कर्तृरूप कारण नहीं, अपितु इससे कुछ अधिक है। वे कहते हैं कि उस कर्ता को कारण मानने में क्या औचित्य है जिसमें कर्म करने की इच्छा एवं क्रिया की स्वतन्त्रता न हो। स्वातन्त्र्य ही तो कर्ता का गौरव है। इसके बिना वास्तविक कर्तृत्व निःसार ही नहीं, सर्वथा असम्भव है।[४] कर्म का स्वारस्य उसके कर्ता में है और कर्तृत्व का स्वारस्य कर्ता के पूर्ण स्वातन्त्र्य में है। अतः इस स्वातन्त्र्यवाद में स्वतन्त्र कर्ता ही कर्मरूप कार्य का कारण है। शैव दर्शन की दृष्टि में कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य वस्तुतः पर्याय हैं। पाणिनि के 'स्वतन्त्रः कर्ता' के विचार को शैव दार्शनिकों ने अत्यन्त आग्रह के साथ सिद्ध किया है कि अप्रतिहत और कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् से समर्थ स्वातन्त्र्य के बिना वास्तविक कर्तृत्व की कल्पना ही सम्भव नहीं।

शक्तिपंचक

कर्ता के स्वातन्त्र्यपूर्ण प्रकाशन के लिये जिन पाँच शक्तियों को अनिवार्य माना गया, वे हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया। ये शक्तियाँ स्वातन्त्र्य शक्ति से भिन्न नहीं अपितु उसी के अन्तर्गत हैं। लौकिक एवं अलौकिक समस्त कार्य के लिए शक्तिपंचक का सामरस्य परमावश्यक है। शिवदृष्टिकार सोमानन्द इस मान्यता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि घट के निर्माण-काल में भी कुम्भकार में इच्छादि रूप-शक्तिपंचक रहता ही है, उसके बिना केवल मिट्टी मात्र से घट का निर्माण सम्भव नहीं। इसी प्रकार घट-ज्ञान एक क्रिया का कार्य है और इसमें भी ज्ञाता में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा आदि के रूप में शक्तिपंचक रहता है। शक्ति-पंचक में से एक भी शक्ति की अनुपस्थिति में कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं।[५] निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता है इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के साथ ही चित् एवं आनन्द। इच्छा के बिना निर्माण की मान्यता केवल एक अन्ध, असंगत एवं विशृंखल ब्रह्माण्ड की कल्पना होगी। इच्छा के साथ ज्ञान अनिवार्य है और तभी क्रिया की ओर

४. अस्वतंत्रस्य कर्तृत्वं नहि जातूपपद्यते। 'तंत्रा', ९. ६.

५. यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते। 'शिद्', १ २३.

सहज प्रवृत्ति होगी। चैतन्य के बिना भी निर्माण सम्भव नहीं। सृजन वेदना की अनुभूति नहीं, आनन्द का विस्तार है।

नित्य कार्योत्पत्ति की संभावना

यह शंका स्वाभाविक है कि काशैद के मतानुसार कार्योत्पत्ति में यदि शक्तिपंचक का सामरस्य अनिवार्य है और कर्ता तो नित्य ही इससे समरस है अर्थात् ये शक्तियाँ सदैव उसमें अविच्छन्न रूप में विद्यमान रहती हैं, तब कार्योत्पत्ति भी सदैव ही होती रहेगी। साथ ही घट-ज्ञानादि भी निरन्तर ही होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार की शंका परतन्त्र कर्ता के सम्बन्ध में अधिक संगत है। काशैद के अनुसार कर्ता अपनी इच्छादि शक्तियों के स्वातन्त्र्य के कारण घट-ज्ञान करने या दोनों करने या दोनों ही न करने के लिए स्वतन्त्र है।

जड़ एवं चिन्मात्र की अकारणता

इस मत में न तो जड़ वस्तु और न ही केवल चेतन या चिन्मात्र किसी कार्य का कारण हो सकता है। चिति शक्ति से नित्य सम्पन्न कर्ता ही अपनी क्रिया शक्ति के द्वारा विविध कार्यरूपों को धारण करने अर्थात् कार्यरूप में आभासित होने में समर्थ है।[६] कर्ता कारण बनकर, तथा विभिन्न कार्यरूपों में प्रकाशित होकर अपने एकत्व की हानि करेगा और इससे काशैद का अद्वयवाद भंग होगा— ऐसी शंकाओं के लिये दर्पण-नगर का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार दर्पण में हाथी, नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बों के प्रतिबिम्बित होने पर भी दर्पण के एकत्व की निरन्तर प्रतीत होती रहती है। उसके एकत्व की हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक ही कर्ता के विभिन्न रूपों में आभासित होने से उसका एकत्व भंग नहीं होता।[७] स्वतन्त्र चिति शक्ति से सम्पन्न कर्ता की यही विशेषता है कि उसमें भेद-अभेद एवं एकत्व-अनेकत्व जैसे परस्पर विरोधी गुण रह सकते हैं।

आन्तर का बहिराभासन

इस दर्शन में कारण का कार्य कोई नवीन उत्पत्ति नहीं। जो कुछ कारण में समाहित है उसे बाहर आभासित कर देना ही कारण का कार्यरूप में प्रतीत होना है।[८] काशैद, कारण एवं कार्य में तात्त्विक भेद नहीं मानता। कार्य का अर्थ

---

६. ······एकस्य प्रमातुरेव न तु कथंचित् जडस्य उदिता प्रसाधितरूपा क्रिया निर्मातृता भवतीति। 'ईप्रवि', २. ४. ७

७. वही. २. ४. १६; और भी द्र०—'पसा', १२

८ तदयमेव कार्यकारणभावो—यदन्तः परिस्फुरत एवार्थस्यान्तर्बहिष्करणोभयवेद्यत्वमाभ स्यते इति ··· न चान्तरवस्थितस्यार्थस्य बहिरवभासनं नामापूर्वं किंचित् अपि तु अभेद ख्यातिमात्रम्···। 'तंत्रावि', ६. ८; बहिस्तस्यैव तत्कार्यं यदन्तर्यपेक्षया। ··· 'ईप्रका', २ ४. ६.

है—व्यावहारार्थ वाह्येन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय का विषय बनना।[९] कारण की दृष्टि से जिन्हें आन्तर कहा जाता है वे ही बाहर आभासित होकर कार्य कहलाते हैं। और चूँकि विषय-रूप कार्य, चिद्रूप विषयी में विश्रान्त हैं, अतः वे विषय, विषयी के द्वारा ही आभासित माने जाते हैं अर्थात् चिद्रूप प्रमाता ही अपने में स्थित विषयों के बहिराभासन के लिए उत्तरदायी है।

शिव की कारणता

काशैद के कारणवाद का एक परम वैशिष्ट्य यह है कि वह घटादि कार्यों का वास्तविक कारण अथवा कर्ता भी परम शिव को ही मानता है। कर्तृवाद के मतानुसार घट का कारण कुम्भकार को माना जाना चाहिये। किन्तु काशैद की मान्यता में कुम्भकार भी वास्तविक कर्ता नहीं है क्योंकि यदि कुम्भकार से आशय उसका शरीर है तब तो प्राणपुर्यष्टक देह रूप कुम्भकार भी जड़ से भिन्न नहीं। कुम्भकार के जड़ शरीर को वास्तविक कर्तृत्व से सम्पन्न अथवा कार्य को अपने में समाहित रखने वाला कारण नहीं मान सकते। अतः घट का वास्तविक कर्ता कुम्भकार न होकर उसकी संविद् है। कुम्भकार की संविद् चूँकि परा संविद् से अभिन्न है, अतः घट-पटादि सभी का वास्तविक कारण परासंविद् ही है।[१०] उसी परासंविद् की महिमा से कुम्भकार में यह अभिमान उत्पन्न होता है कि इसे 'मैंने बनाया', 'यह मेरे हृदय में स्फुरित हुआ', आदि। जड़ में ऐसा अभिमान उत्पन्न नही हो सकता।[११] अतः जड़ को कारण मानना तो व्यवहार मात्र है ही,[१२] परन्तु कुम्भकार के शरीर को कारण मानना भी व्यवहार ही है।

इस प्रकार काशैद के कारणवाद का वह एक प्रबल पक्ष है जिसके अनुसार स्वतन्त्र शिव ही अपनी इच्छा से, नियति दशा में, कुम्भकार और मृदादि की परस्पर अपेक्षा से घटरूप कार्य उत्पन्न करता है,[१३] घटादि कर्म के रूप में शिव ही आभासित होता है। अतः घटादि का भी वही परम कारण है।

---

९ कार्यकारणतालोके सान्तर्विपरिवर्तिन।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः।। वही, २. ४. ४; यत् अन्तःकरणबहिष्करणद्वय-वेद्यतामाभास्यते, एषैव सा कार्यकारणता। 'ईप्रवि,' २. ४ ४.

१०. कुम्भकारस्य या संविच्चक्रदण्डादियोजने।
शिव एव हि सा यस्मात्संविदः का विशिष्टता।। 'तन्त्रा', ९. ३६-३७.

११. द्र०—'ईप्रवि'. २ ४. ४; 'तन्त्रा', १. ८. ३८-३९.

१२. यत्तु लोके शास्त्रे वा जडस्यापि कर्तृत्वं, तत्स्वतंत्राधिष्ठातादिना चोपचरितप्रायम्। 'तन्त्रावि', ९ १०.

१३. पर एव शिवः स्वेच्छया नियतिदशायां कुम्भकारस्य मृदादेश्च परस्परापेक्षया कार्यमुपजनयेत् ......। वही, ९ ८.
कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकाल्पितः। 'तन्त्रा', ९. ७.

आभासवाद का वैशिष्ट्य

कार्शेद का यह कारणवाद पदार्थ के ऊपर चेतना की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। साधन की अपेक्षा चेतन इच्छा को यह प्रमुख मानता है। साधन तो वस्तुतः उसी इच्छा का एक रूप है। विषय एवं विषयी, शरीर एवं मन, द्रव्य एवं चैतन्य आदि का द्वैत तब तक समाप्त नहीं होता जब तक कि दोनों में से एक की अप्रतिहत प्रभुता को स्वीकार न कर लिया जाए। पदार्थ को प्रमुख मानने वाले मत मनुष्य को परतन्त्र बनाते हैं तथा पदार्थ एवं चैतन्य दोनों को स्वीकार करके चलने वाले अनेक दर्शन-प्रस्थान द्वैत के पंक में फँस जाते हैं। अतः कार्शेद का कार्यकारणवाद, कर्तृत्व की सम्पूर्ण व्याख्या परासंवित् में प्रतिष्ठापित कर भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जगत् का मूलाधार स्वतन्त्र कर्ता में खोजता है। इसका प्रतिपादन भी वह पिण्ड जगत् के उदाहरणों से करता है। उसकी दृष्टि में कुम्भ के निर्माण का मूलाधार कुम्भकार का स्वातन्त्र्यपूर्ण कर्तृत्व है। स्वप्न-संसार के निर्माण का सरल आधार स्वप्नदृष्टा का मन है। विभिन्न वस्तुओं के निरुपादान निर्माण का आधार योगी का स्वातन्त्र्य है। जिस प्रकार हर मनुष्य बिना किसी बाह्य उपादान के प्रतिक्षण अपनी मानस रचना करता है, उसी प्रकार यह भौतिक सृष्टि शिव का मानस व्यापार ही है।

२

जड़ कारणवाद एवं उसकी समालोचना

काशैद के दार्शनिकों ने कारणवाद के प्रसंग में आलोच्य दर्शनों को दो भागों में विभाजित किया है : जड़कारणवादी एवं अजड़कारणवादी। उनके अनुसार सांख्य एवं न्याय-वैशेषिक दर्शन जड़कारणवादी हैं।

सांख्यीय सत्कार्यवाद

जब सम्पूर्ण के एक अंश को विचारार्थ लिया जाता है तब उसे कार्यकारणवाद कहा जाता है।[१४] सांख्य दर्शन में जड़-जगत् प्रकृति का परिणाम है। यही परिणामवाद कार्य-कारण के प्रसंग में सत्कार्यवाद कहा जाता है। सत्कार्यवाद[१५] के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है। अव्यक्तावस्था कारण है और व्यक्तावस्था कार्य। कार्य कारण का परिणाम ही है, अन्य कुछ नहीं।

शैव समालोचना

काशैद के दार्शनिक सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद को जड़कारणवाद की श्रेणी में रखते हुये युक्तिपूर्वक इसकी समालोचना करते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी जड़ वस्तु को जड़ का अथवा किसी का भी कारण नहीं माना जा सकता। कार्यकारण भाव में जड़ का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि इसके लिये कारण एवं कार्य दोनों में परस्पर अपेक्षा होनी चाहिए। किन्तु जड़ में निश्चय ही अपेक्षा-बुद्धि सम्भव नहीं।[१६] जड़ अपने में ही स्थित रहता है। उसमें दो जड़ों को मिलाने की या अनुसंधान करने की शक्ति नहीं होती।

अपेक्षा-विहीन जड़ की अकारणता

सांख्य सत्कार्यवाद की सिद्धि में यह युक्ति देता है कि कारण और कार्य में वास्तविक भेद नहीं है। ये दोनों परस्पर भिन्न हों तब तो इनमें परस्पर अपेक्षा मानने की आवश्यकता हो क्योंकि अपेक्षा स्व के प्रति नहीं, पर के प्रति होती है। सांख्य में कारण-कार्य स्व ही हैं, पर नहीं। अतः काशैद में भी कारण-कार्य में तादात्म्य माना गया है किन्तु इसके दार्शनिक कहते हैं कि सांख्य के जड़कारणवाद

१४. भागाभिनिवेशवशात् तु कारणकार्यतापरिकल्पनं तस्यैव भावस्य विशनप्रायम्……। ईप्रवि,' २. ४. १८.

१५. 'सांख्यकारिका,' ९.

१६. इह खलु अपेक्षाशून्यत्वात् जडानां कार्यकारणभावो न भवेत्। 'तंत्रावि', ९. १३.

के अनुसार ऐसी व्याख्या सम्भव नहीं है। यदि कार्य-कारण में अभेद है तब उन्हें दो कहना व्यर्थ है अर्थात् यदि कार्य और कारण स्वभावतः एक हैं, तब उनमें एकत्व रहना चाहिए। अतः या तो बीज या अंकुर किसी एक को ही अस्तित्ववान् कहा जा सकता है क्योंकि तादात्म्य और भिन्नता, अलग-अलग स्वभाव के हैं तथा एक और उसी वस्तु में साथ-साथ नहीं रह सकते।[१७]

जड़ परिणामी नहीं

सांख्य कारण को कार्य रूप में परिणत मानता है। इसी मान्यतानुसार मूला प्रकृति का परिणाम यह विश्व है। काशँद इसकी समालोचना में युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जड़ परिनिष्ठित स्वभाव वाला और प्रमेय होता है। उसे परिणामी मानने का अर्थ होगा कि वह परिणमन क्रिया से युक्त है। परिणमन एक क्रिया है। अतः परिणमन क्रिया वाले जड़ या प्रधान को बहुत्व वाला मानना होगा क्योंकि वह महदादि अनेक रूपों में परिणत होता है, जो नील-पीतादि से भिन्न है। दूसरी ओर इसे एकत्व वाला भी मानना ही होगा क्योंकि मूलतः स्वभाव एक का है। परन्तु एक ही वस्तु को एकत्व-अनेकत्व रूप दो स्वभाव वाला मानना परस्पर विरुद्ध है। स्वात्मनिष्ठ एवं संकुचित आभास-रूप जड़ में परस्पर विरोधी गुण नहीं रह सकते।[१८] पाषाण कभी आदमी, वृक्ष, पर्वत आदि का रूप ग्रहण नहीं कर सकता और न ही पुनः अपने पाषाण-रूप में लौट सकता है; अथवा यदि जड़ को अनेक रूपों में परिणत मान भी लें तब भी वह परिणमन-क्रिया रूप सिद्ध होता है। परन्तु प्रधान या जड़ को क्रिया मानना सांख्य मत में कैसे युक्तियुक्त होगा, क्योंकि जड़ में क्रिया नहीं रह सकती। वह तो चेतन में ही हो सकती है। यदि प्रधान को कर्ता मान भी लिया जाए, क्योंकि सांख्य, पुरुष में नहीं, प्रधान में ही कर्तृत्व[१९] मानता है, तब भी वह कर्ता को सिद्ध होता है,

---

१७. परस्पर स्वभावत्वे कार्यकारणयोरपि।
एकत्वमेव भेदे हि नैवान्योन्यस्वरूपता॥ 'ईप्रका', २. ४. १७.

१८. ......जडो हि नाम परिनिष्ठतस्वभावः प्रमेयपदपतितः स च रूपभेदाद्भिन्नो व्यवस्थापनीयो नीलपीतादिवत्, एकस्वभाववत्वाच्चाभिन्नो नीलवत् न तु स एव स्वभावो भिन्नश्चाभिन्नश्च भवितुमर्हति विधिनिषेधयोः एकत्रैकदा विरोधात्। कश्चित् स्वभावो भिन्नः कश्चित्त्वभिन्नः इति चेत्, द्वौ तर्हि इमौ स्वभावावेकस्य भवताम्, न चैवं युक्तम्। 'ईप्रवि', २. ४. १९.

१९. उदयवीर शास्त्री ('सांख्यसिद्धान्त', पृ० ९०-९१) कहते हैं:
परिणति क्रिया के निरन्तर होते रहने के कारण वह (अचेतन तत्त्व) सदा उस परिणति क्रिया का आश्रय एवं कर्ता है। ...सांख्य में कर्तृपद परिणामी तत्त्व का निषेध करता है।

कारण नहीं।[२०] किन्तु सांख्य प्रधान को अथवा जड़ को कारण मानता है। अतः वस्तुस्थिति यह है कि सांख्य की प्रकृति जड़ होने के कारण न तो कर्ता है और न कारण।

सत्कार्यवाद या परिणामवाद में एक रूप तिरोहित होता है और दूसरा प्रादुर्भूत होता है, यह कहना अनुचित है क्योंकि जड़ वस्तु प्रकाश एवं आधार-स्वरूप है तथा क्रिया का आधार है। उसका स्वभाव या धर्म एक ही है प्रकाशन। यह प्रकाशन का धर्म वस्तु में आदि से अन्त तक रहता है। दूध भी प्रकाशित होता है और दही भी। अतः प्रकाश-स्वरूप वस्तु को उसके अनिवार्य धर्म प्रकाश से कभी किसी भी काल में रहित मानना या उसके इस धर्म में परिवर्तन होना अथवा परिणाम होना अयुक्तिक है क्योंकि वस्तु का अपना जो अनिवार्य स्वभाव है वह उससे कभी विलग नहीं होता।[२१] वह उसका प्राणप्रद धर्म है और उससे अविछिन्न है।

इस प्रकार प्रकाश स्वरूप वस्तु या मूल तत्त्व को उसके अनिवार्य धर्म वा गुण प्रकाशन से रहित नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ होगा उस वस्तु को अप्रकाश मानना। तथा अप्रकाश तत्त्व प्रादुर्भूत होते हुए भी प्रकाशित नहीं हो सकता और सर्वत्र अन्यता अथवा वस्तु-प्रत्यक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायगा।[२२]

इसके साथ ही जिस वस्तु में प्रकाशन का स्वभाव या गुण नहीं है उसे प्रकाशन स्वभाव का नहीं बनाया जा सकता। अतः द्वैतवादियों की यह धारणा निराधार है कि वस्तु का स्वभाव प्रकाशन का नहीं है और बाद में प्रमाण या प्रामाणिक ज्ञान के द्वारा उसे प्रकाश-स्वभाव का बनाया जा सकता है।

जड़ के प्रति शैव दृष्टिकोण

काशैद के तत्त्व-विचार में वस्तुतः जड़ तत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इस मत में सभी चेतन और शिवात्मक हैं।[२३] यह मत पृथ्वी आदि जड़ रूप में प्रसिद्ध

---

२०. तथा स्यात्कर्तृतैवं ···। 'ईप्रका', २. ४. १८.

२१. न च स्वभावमुत्सृज्य भावानामन्यत् किंचिदपेक्षणीयम्। 'तन्त्रावि', ६. ११.

२२. परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति, रूपान्तरं च प्रादुर्भवति इति उक्तम्। प्रकाशस्य तु रूपान्तराभावात् तत्तिरोधाने स्यादान्ध्यम् अप्रकाशश्च प्रादुर्भवन् नैव प्रकाशेतेति उभयथापि सुप्तं जगत् स्यादिति न पर्यालोचितम्। 'ईप्रविवि', १, पृ० ६.

२३. चेतनाचेतनानामपि स्वात्मनि निर्विशेषत्वम्। 'अप्रसि', १.

तत्त्वों को भी युक्तिपूर्वक चेतन सिद्ध करता है।[२४] जड़ तत्त्व को असत् मानने का कारण यह भी है कि इस स्वातन्त्र्यवाद में जो तत्त्व प्रमाता में विश्रान्त रहते हुए उसी में आभासित होता है वही सत् है तथा जो प्रमाता में नहीं है वह असत् है। स्वतन्त्र प्रमाता में जड़ अर्थात् आभासन स्वभाव से रहित कोई तत्त्व या विषय या आभास नहीं है। अतः वह असत्कल्प ही है।[२५]

इस प्रकार जिस मत में जड़ असत् है, वह असत् किसी घटादि का अथवा विश्व का कारण कैसे हो सकता है। फलतः यह मत जड़कारणवाद की समालोचना करता है।

शैव युक्तियों की समालोचना

काशैद ने सत्कार्यवाद के विरुद्ध एक युक्ति यह दी है कि जड़ असत् होने से कारण नहीं हो सकता। जड़ स्वात्मनिष्ठ एवं प्रमेय होता है। परन्तु काशैद की यह युक्ति सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को दुर्बल करने में समर्थ नहीं होती। सांख्य एवं काशैद के जड़ स्वरूप में भेद है। काशैद जड़ को असत् ही मानता है। पाषाणादि जिन्हें सामान्यतया जड़ कहा जाता है, उनकी सत्ता काशैद में असत् नहीं, सत् है। इस लिये उन्हें जड़ न मानकर चेतन-सिद्ध करते हुए चेतन-वर्ग में रखा गया है। अतः सांख्य आदि अन्य दर्शनों द्वारा मान्य जड़ तत्त्व काशैद में हैं ही नहीं, ऐसी बात नहीं, अपितु वे चेतन के रूप में मौजूद हैं।

काशैद वृक्षादि को चेतन मानता है। चेतन सत् इसलिये हैं कि प्रमाता में आश्रित रहते हुए, आभासित होते हैं। ये परम कारण शिव से भी अभिन्न हैं और आभासनशील हैं। परन्तु सांख्य जिसे जड़ कहता है वह सत्त्व-रजस् तमस् की साम्यावस्था है। सत्त्व गुण उसे आभासन के लिए प्रेरित करता है। पाषाण जैसी वस्तु

२४. भास्कर ने युक्तिपूर्वक लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध जड़ पदार्थों को भी चेतन सिद्ध किया है—परमार्थदृष्टिस्तावदास्ताम्, बाह्यदृष्ट्यापि जडानामपि ज्ञानक्रियारूपा चेतनता विद्यत एव। तथा हि वृक्षास्तावत् स्फुटं तद्युक्ताः। अन्यथा तेषां स्वं प्रति रसाकर्षणं योग्यदेशे मूलप्रसारणमारोहणं च न युज्यते। ततः तदंगिभूता भूरपि चेतनैव, न हि निर्जी स्यांगिनोऽङ्गं सजीवं दृष्टम्। जलस्य नियमेन निम्नदेशगमनरूपा क्रिया ज्ञानपूर्विकेवानुमीयते। तस्य ज्ञानाभावे तत्र गमनायोगात्। ज्ञानक्रिये एव च चेतनत्वमित्युक्तम्। तेजश्च ऊर्ध्वज्वलनरूपा वायोश्च तिर्यग्गमनरूपस्वभावा क्रिया तादृश्येवेति तयोरपि स्फुटा चेतनता अवशिष्टस्याकाशस्य च दहरत्वेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नत्वेन च चेतनता स्फुटतमैवेति सर्वत्र ज्ञानमनुमीयत एव। यस्तु तां तत्रोपाधिकल्पितां मन्यते स जलादपीन्धनोपाधिन धूममुत्थापयतु किमस्माकं तेन सह चर्चाभिः। 'भा', १. १. ३.

२५. ······प्रमात्रेकाश्रय एव चेतनैकविश्रान्तः सन्नेव युक्तो भवति नान्यथा प्रमात्रगृहीतं जडवस्तु सर्वथा असत्कल्पमेवेति भावः। वही, २. ४. १६.

में भी सत्त्व विद्यमान रहता ही है, चाहे उसमें तम का आधिक्य हो। काशैद भी अपनी शब्दावली में पाषाण को अत्यन्त परिच्छिन्न आभासवाला मानता है।

इस प्रकार, संक्षेप में, जड़ को असत् कहकर जड़कारणवाद को परास्त नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों दृष्टियों में जड़ की व्याख्या में इतनी असमानता नहीं है, भेद मात्र यह है कि एक जिसे जड़ कहता है दूसरा उसे चेतन।

जड़कारणवाद के विरुद्ध काशैद की एक युक्ति है अपेक्षा-विहीनता। सांख्य मत की ओर से युक्ति दी गई थी कि कारण-कार्य भिन्न नहीं जिन्हें परस्पर अपेक्षा हो। अपेक्षा दो भिन्नों में होती है। सांख्य के इस प्रत्युत्तर से भी समस्या इसलिये हल नहीं होती क्योंकि काशैद दो समान में भी कार्योत्पत्ति के लिए परस्पर अपेक्षा मानता है। काशैव भी सांख्य की तरह कारण-कार्य में सर्वथा भेद तो नहीं मानता परन्तु दोनों के चिद्रूप होने से वह अपेक्षा की सहज व्याख्या कर सकता है। अतः काशैद में सांख्य के चिद्-विहीन जड़ को, अपेक्षा के तर्क के द्वारा, कारण सिद्ध करने का विरोध किया गया है। दूसरी ओर सांख्य अपेक्षा की आवश्यकता दो कारणों से नहीं मानता। प्रथम तो यह कि उसके जड़ तत्त्व में रजोगुण क्रिया या सक्रियता का द्योतक है और दूसरा यह कि वह मात्र जड़ को नहीं, चेतन-अधिष्ठित जड़ को कारण मानता है।

सांख्य कारण-कार्य में तादात्म्य मानता है। कारण, कार्य से सर्वथा भिन्न नहीं है अपितु गुणदशा उसी की तरह है। इस मान्यता पर की गई काशैद की युक्ति विशेष महत्त्व नहीं रखती क्योंकि काशैद भी कारण-कार्य में तादात्म्य ही मानता है। परन्तु निश्चित रूप से दोनों विचार-पद्धतियों में तादात्म्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न है। सांख्य सत्त्व-रजस्-तमोमय प्रकृति के विकार भी तद्वत् मानकर उनमें तादात्म्य मानता है क्योंकि अव्यक्तावस्था कारण एवं व्यक्तावस्था कार्य है। काशैद भी कर्तृरूप कारण में ही अवस्थित का बहिराभासन कार्य मानता है। अतः इस मत में कर्ता में उसकी क्रिया और उसका कर्म पूर्वतः विद्यमान है, इसलिये कर्ता-कर्म में वास्तविक भेद नहीं, तादात्म्य है।

काशैद ने सत्कार्यवाद के विरुद्ध एक युक्ति यह दी है कि कारण में वस्तुतः कार्य रहता तो है परन्तु सत्कार्यवाद की पद्धति से इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। काशैद का यह आरोप गम्भीर है। यह आरोप सत्कार्यवाद के मूल स्वरूप पर ही प्रहार है क्योंकि सत्कार्यवाद का अर्थ ही है कार्य अपने कारण में सत् है। काशैद की दृष्टि से इसमें असंगति यह प्रतीत होती है कि कार्य, यदि कारण का परिणाम है, जैसा कि माना जाता है तब कारण और उसके परिणाम में भिन्नता होनी चाहिये। यदि कार्य का स्वभाव भिन्न है और कारण का स्वभाव भिन्न तो इसका

अर्थ होगा कि कारण ने अपने से भिन्न स्वभाव वाले कार्य को जन्म दिया। इस प्रकार कारण-कार्य में तादात्म्य नहीं भिन्नता सिद्ध होगी और ऐसी स्थिति में कार्य को कारण में सत् मानने में एक ओर यह असंगति उत्पन्न होगी कि कारण ने अपने से भिन्न स्वभाव वाले कार्य को जन्म दिया और दूसरी ओर कार्य में वह स्वभाव बाद में आया जो कारण में नहीं था। अतः भिन्न स्वभाव वाले कार्य को भिन्न स्वभाव वाले कारण में मानने की विवशता उपस्थित होगी जो कि सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध है। साथ ही जड़ जैसी परिनिष्ठित वस्तु में दो भिन्न स्वभावों की उपस्थिति को मानने की बात भी युक्ति-युक्त सिद्ध नहीं होती क्योंकि वस्तु का स्वभाव एक ही है–प्रकाशन, जो किसी भी अवस्था में विच्छिन्न नहीं होता।

काशैद की दृष्टि भी मूलतः सत्कार्यवादी ही है। वह भी कार्य को कारण में सत् ही मानता है। परन्तु जहाँ सांख्य में जड़ ही कारण और जड़ ही कार्य है, अतः जड़ कार्य, जड़ कारण में सत् है; वहाँ काशैद में कारण कर्ता है और कार्य है उस कर्ता का अपनी इच्छापूर्विका क्रिया द्वारा बहिराभासन तथा इसलिये कर्म-रूप कार्य कर्तृ-रूप कारण में सत् है। इस प्रकार दोनों ही सत्कार्यवादी हैं। परन्तु कारण-कार्य की भिन्न-भिन्न व्याख्या के कारण इनमें भेद है।

एक जड़ तत्त्व का अनेक रूपों में परिणत होना एक क्रिया है। अतः सांख्य का प्रधान काशैद की दृष्टि में कारण नहीं कर्ता सिद्ध होता है।

वस्तुतः निष्पक्ष रूप से देखने पर प्रधान को काशैद दृष्टि से भी कर्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न नहीं है इसी प्रकार काशैद प्रधान को कर्ता मानने का प्रस्ताव रखकर स्वयं ही उसे अयुक्त बताता हुआ कहता है कि जड़ न तो कारण हो सकता है, न क्रिया, न ही कर्ता, अतः सांख्य का प्रधान कारणवाद अथवा परिणामवाद अथवा सत्कार्यवाद अमान्य है। परन्तु काशैद के इन शब्दों से वास्तविक स्थिति कुछ भिन्न है। स्वयं काशैद में भी प्रधान-सहित सांख्य के पच्चीस तत्त्व मान्य हैं। उसने ग्यारह तत्त्वों को और अधिक जोड़कर तथा सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में से कुछ को परिवर्तित रूप में स्वीकार करते हुए छत्तीस तत्त्वों की मान्यता प्रस्तुत की है। अतः काशैद, जो यहाँ प्रधान के कारणवाद की अथवा जड़ की कारणता की जो समालोचना कर रहा है, उसका आशय उस मत का निषेध या तिरस्कार नहीं है, अपितु इस समालोचना का आशय सांख्य के सत्कार्यवाद को संशोधित रूप में, स्वदृशा स्वीकार करना है।

न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद

न्याय-वैशेषिक दर्शन का कारणवाद सांख्य के सत्कार्यवाद के विपरीत माना जाता है। इस मत में कार्य, कारण में नहीं रहता; वह नवीन आरम्भ या उत्पत्ति

है। अतः यह मत असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहा जाता है। सत्कार्यवाद में कार्य कारण से सर्वथा भिन्न नहीं है परन्तु असत्कार्यवाद में कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न है। तन्तुओं से उत्पन्न होने वाला पट तत्त्व की दृष्टि से दो अलग-अलग वस्तुएं हैं। इस सिद्धान्त में तन्तु ही परिणत होकर पट रूप में नहीं आते, प्रत्युत तन्तु तो पहिले के ही समान, पट के उत्पन्न होने पर भी, ज्यों के त्यों बने रहते हैं किन्तु तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला एक नया द्रव्य पट उत्पन्न हो जाता है अर्थात् तन्तुओं से नहीं, तन्तुओं में पट उत्पन्न होता है।[२६]

अतः संक्षेप में, न्याय-वैशेषिक कारणवाद के प्रमुख बिन्दु हैं—

१. उपादान कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं।
२. कार्य कारण में असत् होता है।
३. कार्य कारण से सर्वथा नवीन वस्तु है।

काशैद की दृष्टि में सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद दोनों में विशेष भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही जड़कारणवादी हैं और सत्कार्यवाद की समालोचना के अन्तर्गत यह दिखाने का प्रयत्न किया गया था कि काशैद जड़ को असत् और अपेक्षाविहीन मानते हुए उसकी कारणता का निषेध करता है।

जड़ की उपादानकारणता की आलोचना

न्याय-वैशेषिक ईश्वर को निमित्त कारण अथवा प्रेरक के रूप में मानता है। यह मत कार्यकारणवाद में भी ईश्वर के स्थानापन्न के रूप में किसी चेतन निमित्त कारण को मानता तो है परन्तु इस मत में कार्य का वास्तविक कारण तो उपादान ही होते हैं। मिट्टी के होने पर ही घट बनता है, वह्नि के आभास के होने पर ही धूम का आभास होता है। इसी प्रकार बीज के होने पर अंकुर उत्पन्न होता है। इन उदाहरणों में कहीं चिद्रूप की कारणता नहीं है। अतः चिद्रूप की मान्यता, विशेषतः कारणरूप में, अयुक्तिक है।[२७]

परन्तु काशैद इसकी समालोचना करते हुए कहता है कि यदि जड़ में ऐसी सामर्थ्य हो कि वह चिद्रूप कर्ता के बिना ही, किसी कार्य अथवा पश्चात्कालीन वस्तु को सत्तावान् बना सके तब तो जड़ या उपादान को कारण माना जाए, परन्तु स्वात्मनिष्ठ जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह किसी अन्य असत् को सत्तावान्

२६. द्र०—Shastri, Dharmendra Nath, *Critique of Indian Realism*, p. 235-36.

२७. सत्यां मृदि घटो वह्न्याभासे धूमाभास इति यथा तथा बीजे सति अंकुरो जायते इत्येवं लोके कार्यकारणभावस्य दृष्टत्वात्कथं चिद्रूपस्य तत्र कारणता येन नासत उत्पत्तिरिति……। 'शिदृ', ४. ४२-४३.

बनाए या उसे आभासन में समर्थ बनाए; जड़ तो परस्पर अनुसन्धान से सर्वथा रहित होते हैं। कार्यकारणवाद में अथवा कार्यकारण के व्यवहार में अपेक्षा, परस्पर अनुसंधान और उनका एकत्व परम आवश्यक है जो जड़ में कथमपि सम्भव नहीं।[२८]

वैशेषिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानता है। नैयायिक की भी इसी प्रकार की मान्यता है कि पट तन्तुओं में ही उत्पन्न होता है, तन्तुओं के बिना पट उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार मिट्टी में घट उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि बिना उपादान कारण के कार्य सम्भव नहीं।

न्याय वैशेषिक की यह मान्यता काशैद से सर्वथा भिन्न है। वह शिव को ऐसा चित्रकार मानता है जिसे चित्र-रचना के लिए अपने से बाह्य किसी उपादान की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् उसकी दृष्टि में उपादान की महत्ता नहीं है और फिर भी यदि उपादान के रूप में किसी को मानना ही है तो वह कारण कर्ता ही हो सकता है, उससे भिन्न नहीं। अतः वह न्याय-वैशेषिक की उपर्युक्त मान्यता को दो प्रकार से अयुक्त सिद्ध करता है। जगत् के प्रसंग में परमाणु कार्योत्पत्ति में असमर्थ है, तथा कार्य-कारणवाद के प्रसंग में, उपादान जड़ होने से कार्योत्पत्ति में असमर्थ होंगे। यहाँ काशैद उपादानों से कार्य-सिद्धि के विरोध में वे ही तर्क प्रस्तुत करता है जो उसने सत्कार्यवाद की आलोचना में कहे हैं। यहाँ उनका विस्तार पुनरावृत्ति होगी।

इस प्रसंग में यदि परमाणुवादी की ओर से स्पष्टीकरण दिया जाये कि हम परमाणुओं मात्र से जगत् की उत्पत्ति या मिट्टी मात्र से घट की उत्पत्ति नहीं मानते अपितु परमाणुओं को क्रिया में प्रेरित करने के लिए ईश्वर और मिट्टी से घट बनाने में कुम्भकार को भी निमित्तकारण के रूप में मान्यता देते हैं। अतः इस मत के कारणवाद को, जड़ को कारण मानने वाला मत कह कर झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि इसमें निमित्तकारण के लिए भी स्थान है, परन्तु नैयायिक की निमित्तकारण वाली युक्ति का विशेष उत्तर न देते हुए काशैद मात्र यही कहता है कि आपका सिद्धान्त तर्कपूर्ण नहीं है। जड़ उपादान कारण नहीं है, इसी से आपका मत असिद्ध हो जाता है।[२९]

---

२८. यदि च चिदनुसन्धानं विनापीदं पूर्वस्य सामर्थ्यं परस्य सत्तेत्यादि सिद्धयति, तदा भवेद्मबदुक्तेरवसरोऽसतः कार्योत्पादे। तत्तु न कथंचनापि स्वात्ममात्रनिष्ठानां परत्रविषये अनभिज्ञातमात्रलेशानामनुसन्धानरहितानां जडानामुपपद्यते। एकानुसन्धानविषया हीयं सर्वापि कार्यकारणभावव्यवहारसरणिरिति······। वही, ४. ४२. ४३.

२९. द्र०–'ईप्रवि', २. ४. ८-९.

योगी का उदाहरण

उपादान को जड़ कहकर, कार्योत्पत्ति में असमर्थ बताने के उपरान्त दूसरी युक्ति में काशैद कहता है कि ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें बिना उपादान के कार्योत्पत्ति देखी जाती है जैसे योगी द्वारा घटादि का निर्माण। वह बिना मिट्टी आदि के केवल स्वतन्त्र इच्छा मात्र से घट का निर्माण करता है।[३०] अतः घट में मिट्टी नहीं, वास्तविक कारण है कर्ता की स्वतन्त्र इच्छा।

योग-सृष्टि परमाणु-सापेक्ष नहीं

न्याय-वैशेषिक पक्ष की ओर से यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि योगी की सृष्टि भी परमाणु सापेक्ष है। योगी जब इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते हैं तब उनकी इच्छा से परमाणु स्वयमेव आकर एकत्र हो जाते हैं। परन्तु इस आपत्ति को अस्वीकार करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि प्रथम तो इस प्रकार की कल्पना का कोई आधार नहीं है। और फिर यदि यह मान ही लिया जाये कि अन्वय-व्यतिरेक-आगमादि से ज्ञात कार्यकारणभाव योगी के विषय में भंग नहीं होता अर्थात् योगी भी इच्छा द्वारा परमाणुओं का संग्रह करके कार्य-रचना करता है तब फिर यही क्यों न माना जाए कि उपादान ही कारण है। योगी की इच्छा उन्हें मिलती है ऐसा कहकर इच्छा को अनावश्यक महत्त्व क्यों दिया जाए? अतः फिर साहस पूर्वक यही स्थिति स्वीकारी जाए कि घट के कारण कपाल है, शरीर के कारण अवयव हैं और कपालादि के भी वही सुप्रसिद्ध कारण हैं। साथ ही इन अवयवों की सगति या संयोग तब तक माना जाए जब तक कार्योत्पत्ति न हो। ऐसी स्थिति में उपादान मात्र कारण सिद्ध होते हैं, जो जड़ हैं। योगी की इच्छा में भी उपादान को ही महत्त्व मिलता है—इच्छा को नहीं, परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि योगी निर्माण में उपादानों का ऐसा उपयोग नहीं देखा जाता, अतः यह सिद्धान्त स्वतः ध्वस्त हो जाता है।[३१]

इस विवाद में सहज ही प्रश्न उठता है कि काशैद तो योगी की सृष्टि का कारण इच्छामात्र मानता है, तब उसकी दृष्टि से इसकी व्याख्या क्या होगी? अभिनवगुप्त इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि काशैद में चिद्रूप ही विविध रूपों में आभाषित होता है। अतः उस स्वतन्त्र-इच्छावान् के लिए कुछ भी असम्भव नहीं।

---

३०. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्॥ 'ईप्रका', २. ४. १०.

३१. ये त्वाहुः नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिः, योगी तु इच्छया परमाणून् पश्यन् संघट्टयतीति। ते वाच्याः - यदि खलु अन्वयव्यतिरेकागमादिपरिदृष्टः कार्यकारणभावो योगिषु न विपर्येति, – इति हृदयमावर्जयति इति वः तत् किं परमाणुग्रहेण……। 'ईप्रवि' २. ४. १०.

महान् ऐश्वर्यशाली महेश्वर, जिसमें पूर्ण स्वातन्त्र्य है, अपनी नियति शक्ति के अनुवर्तन और उल्लंघन दोनों ही में स्वतन्त्र है। अतः इस स्वातन्त्र्यवाद में नियत कारण से नियत कार्य उत्पन्न होना आदि, लौकिक नियमों के अनुसार कार्योत्पत्ति हो अथवा इस लौकिक कारणवाद के नियम का उल्लंघन हो, यथा योगी के उदाहरण में, तब भी कोई अन्तर्विरोध उत्पन्न नहीं होता।[३२] योगी की निरुपादान सृष्टि वस्तुतः उस महेश्वर की पूर्ण स्वतन्त्रता के परिणाम स्वरूप है।

काशैद असत्कार्यवाद के प्रमुख पक्ष पर आपत्ति उठाता हुआ कहता है कि कारण में कार्य को असत् मानना ठीक नहीं। असत्कार्यवाद में कार्योत्पत्ति में कारक तो माने ही जाते हैं। परन्तु ये कारक किस कार्य के उद्देश्य से एवं किसका आश्रय लेकर कार्य-रचना में प्रवर्तित होंगे तथा किस आधार पर कारण-कार्य में भेद किया जाएगा ? साथ ही किस कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य किस कारण में है, यह कैसे कहा जा सकेगा क्योंकि विषय या कार्य तो उसमें असत् है और उसकी अवस्थिति माने बिना, अभिव्यक्ति के पूर्व की सामर्थ्य की व्याख्या नहीं की जा सकती।[३३] यदि यह युक्ति दी जाए कि कार्योत्पत्ति में कारकों का व्यापार ही उनकी सामर्थ्य का द्योतक है, तो यह युक्ति सर्वथा अनुपयुक्त मानी जाएगी क्योंकि उपादान अचेतन होते हैं और यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि जड़ में आकलन परस्पर ग्रहण, संग्रह या अपेक्षा रखने की सामर्थ्य नहीं है।[३४] अतः कार्य को कारण में असत् मानने पर तो परस्पर अपेक्षा की आवश्यकता को और अधिक महत्त्व मिलता है। अपेक्षा की इस महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इसके साथ ही काशैद यह भी कहता है कि मात्र अपेक्षा से ही कार्योत्पत्ति नहीं होती, यह तो केवल जड़कारणवाद के निराकरण की एक युक्ति है। वस्तुतः कारण में जो पूर्वतः विद्यमान है उसी की अभिव्यक्ति कार्य है। केवल जो जिसका सापेक्ष है उसी को कारण नहीं माना जा सकता।[३५]

कारणद्वय मानने में असंगति

नैयायिक के असत्कार्यवाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मात्र उपादान या निमित्तकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं मानता अपितु उसके कारणवाद में दोनों का महत्त्व है। इस मान्यता पर प्रहार करते हुए उत्पल कहते हैं कि यदि कार्य अनेक कारणों द्वारा साध्य है तब किसी एक के अभाव में क्या सभी असत्कल्प

३२. वही।

३३. 'शिदृवृ', ४. ४२-४३.

३४. वही, ४. ४४.

३५. न हि तस्य तत्कारणं सम्पन्नं येन सापेक्षत्वमपितु अन्तः कुम्भकारसंविदि स्फुरत्लेव बहिः गच्छतीति। वही।

हो जाएंगे ? बीज-भूमि में अंकुर उत्पन्न होता है इसमें कार्य का अभाव भले ही मान लें तब भी कारण तो है ही। इसी प्रकार कुम्भकार घट बनाता है इसमें कर्ता, कारण, कर्म, उसका अधिकरण इन सभी कारकों का समन्वय होते हुए कर्म (घट) के न होने मात्र से क्या उसकी (घट की) सिद्धि रुक जाएगी अर्थात इन कर्तृकरणादि के होने पर, किन्तु मात्र कार्य के न होने पर सभी कारकों का अभाव माना जाएगा और क्या इन कारणों के समन्वय से घट रूपी कार्योत्पत्ति नहीं हो जाती—चाहे नैयायिक कहने के लिए कह लें कि वहाँ घट का अभाव है।[३६]

असत्कार्यवाद की मूल भित्ति पर अन्य तीक्ष्ण तार्किक प्रहार करते हुए उत्पल कहते हैं कि यदि कार्य कारण में असत् है तो कार्य की चर्चा में कारण की अपेक्षा ही क्या है ? यह तो असत्कार्यवादी भी मानेंगे ही कि असत् से कार्य-उत्पत्ति नहीं होती, असत् से घट नहीं सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो शशशृंगादि से भी किसी कार्य की उत्पत्ति सम्भव होती। किन्तु ऐसा होता नहीं है।[३७] दूसरे शब्दों में शशशृंगादि से कार्योत्पत्ति इसलिये सम्भव नहीं कि वे जन्म-योग्यता के लक्षणों के स्वभाव से रहित हैं, इसीलिये असत् हैं। असत् होने के कारण ही न तो वे किसी को जन्म दे सकते हैं और न ही उन्हें कोई जन्म दे सकता है।[३८] अतः असत् का अर्थ हुआ जन्मयोग्यता के लक्षणों के स्वभाव से रहित। अब यदि असत् की इस व्याख्या को कार्य पर लागू किया जाए, क्योंकि असत्कार्यवाद कार्य को कारण में असत् मानता है, तब कार्य का अर्थ होगा जन्मयोग्यतालक्षणस्वभाव से रहित। ऐसी स्थिति में असत् कार्य का जन्म ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् काशैद की युक्ति का संक्षेपार्थ यह है कि यदि कार्य को कारण में असत् मानते हैं तब वह बाद में भी कभी सत्ता में नहीं आ सकता क्योंकि असत् का जन्म सम्भव नहीं,[३९] असत् का परमार्थ असत् ही है।[४०] न ही जड़ में ऐसी शक्ति है कि वह असत् को सत् में परिवर्तित

३६. अथ च अनेककारकसाध्यं हि कार्यं. तत्रश्चैकस्याभावेऽपि किं सर्वेऽपि सत्कल्पाः स्युः, तथा हि अंकुरो जायते कर्मणो भावेऽपि कारणमस्त्येव, तथा घटं करोति कुम्भकार इत्यत्र कर्तृकर्मकरणाधिकरणाद्यनेककारकसमन्वये कर्माभावमात्रे किं न सिद्धिरमीषाम्··· । वही, ४. ४५-४६

३७. असत्त्वाच्च स्वयं यदि न जायते इति यदि भवद्भिः कथ्यते, न हि स्वयमसन् शशशृङ्गादिरन्येन जनयितुं शक्त इति। ··· ··· ननु चैतदेव कारणस्य कार्याद्वैशिष्ट्यं यदन्यजननं, तदभावे कथं कारणमिति व्यपदिश्यत······। वही, ४. ४८.

३८. वही।

३९. नहि यस्य सर्वथा शशविषाणतुल्यभावं प्राप्तं रूपं तस्य अर्थस्य पुनः सत्ता भवेत्। वही, ४. ५१.

४०. यदि चासदेवांकुरादि तर्हि तस्यासद्रूपतैव परमार्थः इति कथं स्वरूपविरुद्धं सत्त्वमभ्युपेयात्। 'तन्त्रावि,' ९. ८.

कर दे क्योंकि तथ्य यह है कि वस्तु का स्वभाव कभी नहीं बदलता। जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता और जो असत् है वह सत् नहीं हो सकता।[४१] गीता (२.१६) भी इसी की पुष्टि करती है।

बीजभूमि में अंकुर उत्पन्न होता है इसमें यदि बीजभूमि में अंकुर असत् है तब न तो उसका कोई कारण होना चाहिए न ही कर्ता। कुम्भकार घट निर्माण करता है इसमें असत् कर्म से अन्य कारकों का अथवा कर्ता कुम्भकार का भी क्या सम्बन्ध ? ऐसी स्थिति में क्रिया भी सम्भव नहीं होगी[४२] क्योंकि क्रिया तो किसी लक्ष्य को लेकर चलती है परन्तु यहाँ इस मत में विषय असत् है।

असत्कार्यवाद में मृत्पिण्ड और घट को सत् माना जाता है और उनमें सम्बन्ध भी माना जाता है। यहाँ काशँद कहता है कि यदि मृत्पिण्ड से घट भिन्न है और असत् है तब तो इनका सम्बन्ध पट और शशविषाण की भाँति होना चाहिए, क्योंकि शशविषाण भी असत् है। ऐसी स्थिति में घट का कारण मृत्पिण्ड ही क्यों, शशविषाण भी बन सकता है। परन्तु ऐसा होता नहीं। दूसरी ओर इस आपत्ति से बचने के लिये यदि यह माना जाए कि मृत्पिण्ड और घट में भिन्नता नहीं है तब इसका अर्थ होगा कि मृत्पिण्ड ही घट है और ऐसी स्थिति में कार्य घट को कारण से सर्वथा अपूर्व या नवीन मानने का सिद्धान्त दूषित होगा। साथ ही मृत्पिण्ड के घट सिद्ध होने से असत्कार्यवाद युक्तिहीन सिद्ध होगा।[४३]

शैव युक्तियों की समालोचना

काशँद ने सांख्य के सत्कार्यवाद एवं न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद दोनों मतों को जड़कारणवाद की श्रेणी में रखा है, तथापि इनके कारणवाद में चेतन की चर्चा भी है। सांख्य चेतन से अधिष्ठित जड़ को कारण मानता है। दूसरी ओर न्याय-वैशेषिक भी चेतन को निमित्तकारण मानते हुए उपादान की कारणता सिद्ध करते हैं। अर्थात् दोनों ही मत चेतन का पूर्णतः तिरस्कार नहीं करते। हाँ यह बात अवश्य भिन्न है कि कौन चेतन को अधिक महत्त्व देता है और कौन कम अथवा किस के मत में चेतन का स्थान नगण्य-सा है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि

---

४१. यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वरूपता। सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थं ···। 'ईप्रवि', २. ४. ३.

४२. अंकुरो जायते बीजभूमावित्यत्रासतोऽङ्कुरस्य कारणता कर्तृता न स्यात्, घटं वा करोति कुम्भकारः इत्यसता कर्मणा कारकान्तराणां, कर्तुर्वाकिः सम्बन्धः तत्कथं समूहः कारकाणां ततः क्रिया नोत्पद्यते। 'शिदृ', ४. ४७.

४३. द्र०—वही, ४. ४६-५१.

सांख्य के निर्लिप्त पुरुष की अपेक्षा न्याय का निमित्तकारण ईश्वर उसके कारणवाद में अधिक महत्त्व पाता है ।

काशैद ने इन दोनों मतों को एक श्रेणी में रखा इसका एक कारण यह भी है कि उसके मत में कार्य कारण में सत् है या असत्, इसका उतना महत्त्व नहीं जितना इस बात का है कि वास्तविक कारण कैसा है—जड़ अथवा चेतन, अर्थात् उसकी रुचि कारण में कार्य की सत्ता सिद्ध करने में उतनी नहीं है जितनी चिद्रूप को कारण सिद्ध करने में है । अतः यद्यपि कतिपय तीक्ष्ण और सबल युक्तियों से वह कारण में कार्य को असत् मानने का खण्डन करता है तथापि उसकी समालोचना में जड़ की कारणता का तिरस्कार ही अधिक है । सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद को कारण-जड़ की दृष्टि से एक-सा मानना काशैद के अपने मत के अनुकूल है ।

न्याय-वैशेषिक के कारणवाद के तीन मूल बिन्दु हैं—कार्य की कारण में असत्ता, कारण से कार्य की अपूर्वता और निमित्तकारण के रूप में चेतन की स्वीकृति । इनमें से प्रथम दो बिन्दु ही ऐसे हैं जिनमें काशैद किसी भी स्थिति में सहमत नहीं हो सकता । प्रथम दो बिन्दुओं में से भी दूसरा, पहले का पूरक है अर्थात् कारण में कार्य की सत्ता नहीं है, यही कार्य की कारण से अपूर्वता है । अतः दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक एवं काशैद के कारणवाद की मान्यताओं में तात्त्विक भेद यह मान्यता उपस्थित करती है कि कार्य कारण में असत् है अथवा कहा जा सकता है कि निमित्तकारण के रूप में स्थित कारण से काशैद का उतना वैमत्य नहीं जितना कार्य को कारण में असत् मानने अथवा कारण से कार्य को सर्वथा नवीन मानने से है । परन्तु जैसा कि पूर्व में कहा गया काशैद कारण में कार्य सत् है या असत् इस विवाद से अधिक इसमें रुचि रखता है कि कारण चेतन है अथवा अचेतन । इसलिए उसकी युक्तियों में न्याय-कारणवाद के प्रसंग में भी जड़-कारणवाद की खण्डनात्मक युक्तियों का ही आधिक्य है । फिर भी दोनों का भेदक बिन्दु कारण में कार्य की असत्ता है इसलिए उसने संक्षेप में ही किन्तु बड़ी तीक्ष्ण और समर्थ युक्तियों से इस असत्ता का खण्डन किया है । युक्तियों का यह प्रयोग इस दर्शन में उनकी महत्ता की ओर संकेत करता है । परन्तु इस स्वतन्त्र युक्ति-प्रयोग में इसके दार्शनिक कभी-कभी कुतर्क की ओर भी अग्रसर हो जाते हैं, जैसे जन्मयोग्यतालक्षणस्वभाव से रहित शशशृङ्ग की भाँति कार्य को भी असत् सिद्ध करना । वस्तुतः नैयायिक की दृष्टि से कारण में कार्य शशशृङ्गादि की तरह असत् नहीं है ।

न्याय के कारणवाद में निमित्तकारण के स्थान और महत्त्व के प्रति की गई काशैद की आलोचना अपेक्षाकृत दुर्बल है । उसमें प्रबल युक्तियों का सहारा न

लेकर मात्र यही कहा गया है कि असत्कार्यवाद केवल निमित्त से नहीं अपितु उपादान से भी कार्योत्पत्ति मानता है अर्थात् कार्योत्पादन में निमित्तकारण का प्रमुख योगदान नहीं। इस प्रकार, मान्यता के एक पक्ष को असिद्ध करके, दूसरे पक्ष को भी असिद्ध मानकर संतोष किया गया है। वस्तुतः इसका कारण यह है कि काशैद निमित्त कारण का निषेध नहीं करता है अपितु उसे ही उपादान की तुलना में प्रमुख कारण सिद्ध करता है।

जहाँ तक उपादानों की असामर्थ्य में योगी के उदाहरण का प्रश्न है वह सर्वमान्य उदाहरण नहीं है। फिर भी वस्तुवादी दृष्टि भले ही न मानें, काशैद की दृष्टि में योगी के उदाहरण का बड़ा महत्त्व है। बल्कि कहना यह चाहिए कि यही वह उदाहरण है जिसे काशैद बार-बार आगे रखता है और जो उसकी निरुपादान-कारणवाद की मान्यता के सर्वाधिक उपयुक्त है। इसीलिए काशैद में शिव को महान् योगी भी कहा जाता है। योगी के उदाहरण के साथ ही, दूसरी युक्ति में जहाँ काशैद यह कहता है कि योगी-सृष्टि में परमाणुओं का संग्रह मान भी लिया जाए तब उपादान को ही नैयायिक क्यों नहीं कारण मानता ? निमित्तकारण की आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु काशैद की यह युक्ति नैयायिक की मान्यता को एकांगी बनाती है और उसके साथ न्याय नहीं करती।

संक्षेप में, योगी के द्वारा निरुपादान सृष्टि की सिद्धि काशैद के स्वतन्त्र-कारणवाद की ही विशेषता है और निःसन्देह स्वातन्त्र्यवाद में ऐसा सम्भव है क्योंकि यह मत कर्ता को नियति शक्ति के उल्लंघन अथवा अनुल्लंघन में पूर्ण स्वातन्त्र्य प्रदान करता है।

निष्कर्ष

असत्कार्यवाद के प्रति की गई काशैद की सम्पूर्ण आलोचना को देखा जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने युक्तियों द्वारा असत्कार्यवाद को अधिकाधिक सत्कार्यवाद के निकट लाने का प्रयत्न किया है। उसकी पद्धति यह है कि असत्कार्यवाद में कार्य को न सही कारण को तो सत् माना ही जाता है क्योंकि कारण को असत् मानने का दृष्टिकोण तो उसका कथमपि नहीं है, यह सिद्ध हो ही चुका है। कारण को सत् मानने तथा सर्वथा नवीन रूप में उसकी उत्पत्ति (जो अभिव्यक्ति ही हुई) मानने से किसी न किसी रूप में यह मान्यता आ ही जाती है कि कार्य सत् है क्योंकि तथाकथित असत्कार्यवाद में भी कारण-कार्य में सम्बन्ध तो स्थापित्त किया ही जाता है। इसलिये काशैद जड़कारणवाद की अपनी समालोचना में कहता है कि कार्य को कारण में सत् माना जाए या असत् इससे विपरीत या दोनों को

ही सत् और दोनों को ही असत् माना जाए, सभी स्थितियों में उसमें चेतन की अपेक्षा होगी।[४४] अतः सभी कारण चिद्रूप में विश्रान्त हैं, उन्हीं का बहिराभासन कार्य है और इस बाह्याभिव्यक्ति के उपरान्त भी कारण की एकात्मता प्रतीति होती रहती है।

काशैद का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। प्रस्तुत प्रसंग में भी वह सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद दोनों ही का अनुगृहीत है क्योंकि उसने इन दोनों ही मतों के प्रतिकूल अंशों का परित्याग करते हुए, अनुकूल अंश को ग्रहण किया है और इस प्रकार अपने कारणवाद का स्वरूप निर्धारित किया है, यथा कारण के गुण कार्य में विद्यमान होते हैं, कार्य कारण का ही बहिराभासन है एवं दोनों अभिन्न हैं—इन स्वीकार्य बिन्दुओं को सांख्य से ग्रहण किया है। इसी प्रकार कारणवाद में निमित्त कारण परमेश्वर का महत्त्व है, यह न्याय से लिया गया है। यद्यपि न्याय में निमित्त कारण की अपेक्षा उपादान कारण का महत्त्व अधिक है और काशैद ने न्याय के निमित्त कारण स्वयं ईश्वर को ही उपादान कारण माना है अर्थात् काशैद में उपादान कारण भी ईश्वर अथवा कर्ता या उसकी इच्छा है।

एक बात और। सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद से इन अंशों को लेने का यह अर्थ कदापि नहीं कि काशैद का मत इनका सामान्य मिश्रण या संयोग मात्र है। वस्तुतः काशैद के मत में संयोग या मिश्रण जैसी मान्यताओं का किसी भी प्रसंग में, किसी भी स्तर पर महत्त्व नहीं है। जैसा कि कहा गया है उसने स्वीकार्य अंश को स्वीकारा है, किन्तु वह भी संशोधन के साथ तथा अपने मत की समन्वय-दृष्टि की आवश्यकतानुसार ही। साथ ही उसका कारणवाद इन दोनों मतों का ही समन्वय मात्र नहीं अपितु अग्रिम पृष्ठों में विवेच्य वेदान्त दर्शन के दृष्टिकोणों से भी उसने समन्वय का प्रयत्न किया है। अतः केवल इन दो मतों से समन्वय की बात एकांगी और काशैद की समन्वय-दृष्टि को संकुचित करने वाली है।

---

४४. ततश्च यदि बीजं सदंकुरोऽसन् अथापि विपर्यय उभयमपि वा सत् यदि वासत् अथापि एकं सोपाख्यमन्यत् निरुपाख्यम्, द्वयमपि वा सोपाख्यं वा, तथापि, प्रातिपदिकार्थमात्रं धर्मान्तरेण समुच्चयादिनाप्यनाग्रालिंगितमवतिष्ठते, तस्य समस्तस्यापेक्षारूपत्वेन चैतन्यविश्रान्तत्वात्।
ईप्रवि,' २. ४. १५.

३

प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उसकी समालोचना

यद्यपि बौद्ध दर्शन काशैद का प्रमुख विरोधी है तथापि इसमें कारणवाद के अन्तर्गत बौद्ध की अपेक्षा सांख्य आदि जड़कारणवादी दर्शनों की ही आलोचना विस्तार से की गई है। आलोचना के इस क्रम में आगे बढ़ने से पूर्व बौद्ध दर्शन के कारणवाद के स्वरूप पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न बौद्ध व्याख्याएं

बौद्ध दर्शन में कारणवाद को सामान्यतया प्रतीत्यसमुत्पाद से जाना जाता है, जिसका अर्थ है इसके होने से यह होना अर्थात् प्रत्येक उत्पत्ति का कोई प्रत्यय है। इसी में यह भी अनुगत है कि इसके न होने पर यह नहीं होता। परन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद के इस अर्थ से सभी बौद्ध दर्शन-संप्रदाय सहमत नहीं हैं। स्वयं बुद्ध के काल से निरन्तर इस शब्द की व्याख्या और उसके आधार पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों में सूक्ष्म मत-भेद उत्पन्न होता रहा है। यही नहीं, एक ही बौद्ध शाखा के दो दार्शनिकों में भी इस शब्द की व्याख्या में मत-भेद उत्पन्न हो गये हैं। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद की विविध व्याख्याओं की कहानी ही बौद्ध दर्शन के आन्तरिक मत-भेदों की कहानी है।

बुद्धमत

भगवान् सुगत ने दुःखनिवृत्ति के लिए सर्वप्रथम प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश किया था। इसके द्वारा वे यह प्रदर्शित करना चाहते थे कि दुःख के कारण को जानकर ही उसके विनाश का उपाय किया जा सकता है क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता और कारण के नाश के बिना कार्य का नाश नहीं होता। जीवन की सभी वस्तुएं परस्पर अधीन हैं, सम्बद्ध हैं। कोई भी वस्तु न तो पूर्णतया विलीन होती है, न ही सर्वथा नूतन रूप में उत्पन्न होती हैं। बारह कार्य-कारणों की परम्परा का क्रम निरन्तर चलता रहता है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद है जिसका ज्ञान दुःख-निवृत्ति के लिये एक अनिवार्यता है। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में संक्षेप में प्रतीत्यसमुत्पाद का लक्षण बुद्ध ने यह किया है—यह (कार्य) कारण-समुदाय (प्रत्यय) का फल है। बुद्ध के मत में कार्य और कारण का कार्यकारणभाव सम्बन्ध (धर्मता) उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति से नियत किया गया है। कार्य (धर्म) की कारण के नियम से उत्पत्ति होती है। स्थितता और कारण में कार्य के प्रति निया-

मकता होती है। कारण को प्राप्त करके (प्रतीत्य) जो (कार्य द्वारा) उत्पत्ति का अनुसरण किया जाता है, वही कारण-कार्य-सम्बन्ध है।[४५]

वसुबन्धु मत

बुद्ध द्वारा उपदिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद के इस अर्थ और स्वरूप का क्रमिक विकास हुआ। वसुबन्धु इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"अस्मिन् सति इदं भवति", "इस वस्तु के होने पर यह होता है" इस प्रकार का कारणकार्यभाव ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। इनके अनुसार संस्कृत और प्रतीत्यसमुत्पन्न दोनों समानार्थक हैं। संस्कृत अर्थात् कारणों के द्वारा एकत्र होकर किया गया तथा प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है—भिन्न-भिन्न कारणों के प्राप्त होने पर (प्रतीत्य) उत्पन्न होना।[४६]

श्चेरवात्स्की[४७] के मत में हीनयान शाखाएं प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ मानती हैं "प्रति प्रति इत्यानाम् विनाशिनां समुत्पाद:" अर्थात् प्रत्येक धर्म या वस्तु का उत्पाद उसके विनाश से बँधा है। अतः क्षणवाद से इसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह अर्थ किया गया कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। क्षण-क्षण में भंग होने वाली वस्तुएं ही आभासित हो रही हैं। क्षणिक वस्तुओं का विच्छिन्न प्रवाह ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। इस दृष्टिकोण से वस्तुतः विभिन्न क्षणों वाली वस्तुओं में, अन्य दर्शनों की तरह, कार्यकारणभाव नहीं है क्योंकि वस्तुतः कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, मात्र दूसरे से सम्बद्ध होती है जिसे कहा गया है, ऐसा होने पर यह होता है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या को भिन्न-भिन्न तत्त्वों की सत्ता (क्षणिक सत्ता) तक सीमित रखा गया था। उसमें विभिन्न तत्त्वों के कारण कार्यों की विच्छिन्न परम्परा थी। परन्तु शून्यवाद ने प्रतीत्यसमुत्पाद की इस व्याख्या को नहीं स्वीकारा और उसके अर्थ में इस स्तर तक विकास किया कि प्रतीत्य-समुत्पाद को शून्यता ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

४५. संक्षेपतो हि प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणमुक्तं बुद्धेन इदं प्रत्ययणलम् इति। तथागतानामनुत्पादाद् वा स्थतैषा धर्माणां धर्मता। धर्मस्थितता धर्मनियामकता प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता। इति। भामती', पृ० ५२६.

४६. वसुबन्धु के अनुसार प्रत्यय अर्थात् कारण-सामग्री चार हैं—हेतु, समनन्तर, आलम्बन और अधिपति। उत्पादक कारण अथवा हेतु पाँच हैं–सहम्, सभाग, सम्प्रयुक्तक सर्वत्रग और विपाक। कार्य-कारणसन्तान में पूर्व क्षण (कारण) का नाम समनन्तर है। समस्त संस्कृत और असंस्कृत धर्मों को आलम्बन प्रत्यय कहते हैं। "इसके होने पर यह होता है" इस प्रतीत्यसमुत्पाद नियम को अधिपति-प्रत्यय कहते हैं।

चत्वार: प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पंचहेतव:।
चित्तचेत्ता अचरमा उत्पन्ना: समनन्तरा।
धर्मा आलम्बनं सर्वे पति: कारणमुच्यते॥ 'अभिधर्मकोश', २. ६१–६२.

४७. द्र०–Stcherbatsky, *Conception of Buddhist Nirvana*, p. 9.

शून्यवादी दृष्टिकोण

शून्यवाद के मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद केवल काल-परम्परा या क्षण-परम्परा मात्र नहीं, जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध न हो और जो परस्पर विच्छिन्न हो, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है एक का दूसरे तत्त्व या धर्मों पर निर्भर करना।[४८] अर्थात् विविध क्षणों की क्रम-परम्परा स्वतन्त्र नहीं है अपितु एक दूसरे पर निर्भर है और शून्यवाद में उसकी सत्ता नहीं मानी जाती जो किसी अन्य पर निर्भर हो।

दूसरे शब्दों में शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद को, परम्परागत अर्थ में, कारण-कार्य मानने का विरोध करता है। इस दृष्टिकोण से कारण-कार्य को मानना इसलिये उचित और सम्भव नहीं कि उनमें सम्बन्ध मानना पड़ेगा। सम्बन्ध तभी हो सकता है जब दो वस्तुओं की सत्ता समकालीन हो। परन्तु पूर्वक्षण के धर्म और अपर क्षण के धर्म में समकालीनता नहीं है। अतः सम्बन्ध सम्भव नहीं। यदि सम्बन्ध की चर्चा से हटकर पूर्वक्षण को अपरक्षण का कारण मानें तब भी इनमें कारण-कार्य भाव स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि पूर्व क्षण के कारण से अपर क्षण का कार्य भिन्न है तो पूर्व क्षण के कारण का उच्छेद मानना पड़ेगा और तब कई कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी, जैसे उच्छेद और पुनः नये क्षण की उत्पत्ति के बीच के क्षण को क्या कहा जाए, पूर्वक्षण के कारण से अपरक्षण की स्वभावगत भिन्नता या अभिन्नता की व्याख्या कैसे की जाए आदि। यदि पूर्वक्षण एवं अपरक्षण में अनन्यत्व माना जाए तो इस व्याख्या से जहाँ एक ओर हीनयानी सहमत नहीं होंगे और दूसरी ओर कारण-कार्य की अनन्यता मानने से नित्यता का प्रसंग आएगा क्योंकि कारण-कार्य की परम्परा तो निरन्तर चल रही हैं। इस प्रकार की बाधक युक्तियों से स्वयं को मुक्त करने के लिए शून्यवादी यह निष्कर्ष निकालता है कि सभी वस्तुएं अपनी सत्ता के लिए परस्पर निर्भर हैं, अतः किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं, कोई स्वभाव नहीं। यह निःस्वभावता ही शून्यता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद भी शून्यता में अन्तर्भावित हो जाता है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है।[४९]

कारणवाद के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद की आलोचना का औचित्य

प्रतीत्यसमुत्पाद का यह स्वरूप अन्य दर्शनों के कारणवाद से भिन्न-सा है क्योंकि इसमें वस्तुओं को मात्र पराधीन सत्ता वाला बताया गया है। भरतसिंह उपाध्याय[५०] का मत है कि वास्तव में प्रतीत्यसमुत्पाद का मिलान भारतीय दर्शन

४८. Murti, T. R. V., *CPB*, p. 166.

४९. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते। 'माका', २४. १८.

५०. 'बौदभाद', १ पृ० ४०७.

के अन्य कारणवाद-सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ करना ही नहीं चाहिए क्योंकि भगवान् सुगत ने इसका उपदेश कारणवाद की समस्या को सुलझाने के लिये नहीं दिया था। उनका प्रयोजन दुःख-निवृत्ति था। श्चेरवात्स्की[५१] का भी यही मत है। परन्तु फिर भी अन्य भारतीय दर्शन-ग्रन्थों में प्रतीत्यसमुत्पाद को कारणवाद के साथ तुलना करने की परम्परा रही है। इसका कारण यह है कि यह तुलना और समालोचना बुद्ध के प्रतीत्यसमुत्पाद की न होकर परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों के मतों की होती है जिनमें प्रतीत्यसमुत्पाद को स्पष्ट ही कारणवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। स्वयं उपाध्याय महोदय भी इसे स्वीकार करते हैं कि उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों और अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों ने इसे कारणवाद के प्रसंग में विवेचन और मीमांसा का विषय बनाया है।

पूर्वापरीभाववाद एवं उसका खण्डन

काशैद के ग्रन्थों में प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। फिर भी यह निर्णय करना कठिन नहीं कि उसके साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद की ही आलोचना की गई है। पाण्डेय[५२] के विचार में काशैद में उल्लिखित बौद्ध कारणवाद पूर्वापरीभाववाद है। पूर्वापरीभाव का अर्थ है पूर्वकारण से अपर कारण का भिन्न होना। बौद्ध के कारणवाद का विचार पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि बौद्ध एक ही वस्तु को कारण एवं कार्य नहीं मानता। न ही उन दो वस्तुओं को कारण-कार्य मानता है जिनकी सत्ता एक साथ अर्थात् एक ही क्षण में है यथा घट-पट। बौद्ध उन्हें भी कारण-कार्य नहीं मानता जिनकी क्षणिक सत्ता क्रमिक तो है किन्तु वे नियत रूप से क्रम में नहीं आते हैं—जैसे नील-ज्ञान एवं पीत-ज्ञान। इसी प्रकार उसे यह विचार भी मान्य नहीं कि कोई वस्तु नियत क्रम में आने पर भी, जो पहले आए वह कार्य एवं बाद में आये वह कारण कही जाए। अतः बौद्धमत में जो नियत क्रम में पहले आए वह कारण और बाद में आये वह कार्य कही जाती है। अर्थात् नियत पूर्वभावी कारण एवं नियत पश्चाद्भावी कार्य होता है।[५३] यही बौद्ध का पूर्वापरीभाववाद है।

५१. *Conception of Buddhist Nirvana*, p. 9.

५२. द्र०–*Abhi*, pp. 431-32.

५३. एक एव भावस्तावत् न कार्यकारणभावः, भावद्वयमपि च न युगपद्भावि कार्यकारणरूपं घटपटवत्, क्रमभाव्यपि नानियतक्रमकं नीलपीतादिज्ञानवत्, नियतक्रमिकत्वेऽपि न पूर्वभावि कार्यं पश्चात्कालभावि च कारणं—इत्येवं नियतपूर्वभावं कारणं नियतपरभावं च कार्यम्—इति परस्य तावन्मतम्। 'ईप्रवि' २. ९. ४. १४.

बौद्धानां हि नैकस्य भावस्य कार्यकारणभावो, नापि द्वयोः यौगपद्येन घटपटवत्, न च क्रमिकत्वेऽपि अनैयत्येन नीलपीतादिज्ञानवत्, न च नियतक्रमिकत्वेऽपि पूर्वभावि कार्यं, पश्चाद्भावि च कारणम् अपि तु नियतपूर्वभावं कारणं नियतपरभावं च कार्यम्। इति उक्तम्। तस्मिन् कारणाभिमते बीजादावेव सति तस्य कार्याभिमतस्यांकुरादेरेव अभूतपूर्वतया अवश्यं भाव इति ···। 'तन्त्रावि', ९. ११.

कारणवाद में अपेक्षा का महत्त्व

इस मत का खण्डन करते हुए काशँद अपनी युक्ति प्रस्तुत करता है कि पूर्वता और परतम वस्तु के दो रूप हुये। इन दोनों में क्या कोई वास्तविक भेद है ? इन दोनों में परस्पर कुछ अतिरेक या वैशिष्ट्य है ? यदि पूर्वता और परता में कोई अतिरेक नहीं है तब तो ये केवल भावद्वय ही रहेंगे अर्थात् वह वस्तु और वह वस्तु केवल यही इनका रूप होगा। यही नहीं, इन सर्वथा भिन्न भावद्वय में 'और' का भाव या इन्हें परस्पर मिलाने का भाव भी नहीं रहेगा क्योंकि तब इनमें सम्बन्ध का प्रसंग उपस्थित होगा और सम्बन्ध के लिए चेतन की अपेक्षा है। किन्तु बौद्ध अन्य किसी चेतन की अवस्थिति न मानकर केवल वह वस्तु और वह वस्तु इस प्रकार कारण-कार्य का रूप मानते हैं।[५४] इसीलिए बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य कारणों का अविच्छिन्न प्रवाह नहीं, अपितु विच्छिन्न प्रवाह माना जाता है। अतः चेतन को माने बिना न तो वस्तु की नियतपूर्वता-परता सम्भव है और नहीं इन्हें कारण-कार्य कहा जा सकता है। दूसरी ओर यदि पूर्वता और परता से बौद्ध का आशय प्रयोजक सत्ता से है अर्थात् वह अवस्था जो दूसरी (कार्यावस्था) का कारण है और परता का अर्थ प्रयोज्यसत्ता से है अर्थात् वह अवस्था जो दूसरे (कारण) के द्वारा लायी जाती है, तब स्वाभाविक रूप से मानना होगा कि बीज की जो अवस्था अंकुर का कारण है वह अंकुर में रहती है अर्थात् अंकुर में बीज की सत्ता है क्योंकि यदि ऐसा नहीं है, अर्थात् बीज में अंकुर की एवं अंकुर में बीज की सत्ता नहीं है, तो वह केवल प्रेरक मात्र होगी। और केवल यही नहीं, उसे प्रेरक मात्र मानना भी सम्भव नहीं होगा क्योंकि वह कारणावस्था किसी दूसरे पर निर्भर करती है, जिसका वह कार्य है।[५५] यही आपत्ति प्रयोज्यसत्ता-कार्य के विषय में भी लागू होती है क्योंकि बौद्ध कारण-कार्य की विछिन्न परम्परा मानते हैं। इस प्रकार काशँद बौद्ध के पूर्वता-परता के सिद्धान्त को इसलिए अस्वीकार करता है कि इसमें दो पदार्थ भाव

५४. तत्र स्वरूपादनधिका चेत् पूर्वता परता च तत् भावद्वयमात्रं स च स च-इति। चार्थोऽपि वा न कश्चित् तस्याप्यपेक्षारूपत्वात् स स इत्येव हि स्यात्। 'ईप्रवि', २. २. ४. १४.

५५. अथ पूर्वता नाम प्रयोजकसत्ताकत्वं परता च प्रयोज्यसत्ताकत्वं तर्हि बीजस्यांकुरप्रयोक्त्री सत्ता अकुरविश्रान्ता अकुरान्तर्भावमात्मन्यानयति, अंकुराभावे प्रयोक्तृत्वमात्रं स्यात् तदपि न किंचित् अन्यापेक्षत्वात् तस्य। वही.

नन्वनयोः पूर्वत्वं परत्वं च किं स्वभावादतिरिक्तमनतिरिक्तं वा, तत्र नाद्यः पक्षः न हि भवद्गृहे पूर्वत्वाद्यपि किंचिद्वस्तु सदस्ति यत्तदतिरेकेण सत्तामियात्, व्यवहारमात्रसिद्धत्वे वा तस्य कार्यकारणभावोऽपि एवं स्यादिति स्वसिद्धान्तभंगः, कार्यकारणभावस्य वस्तुस्वभावत्वेनाभ्युपगमात् ······ अनतिरेकपक्षे च कार्यकारणत्वेन संमतं भावद्वयमेवावशिष्यते इति···। 'तन्त्रावि', ६. १२.

मात्र ही सिद्ध होते हैं। उनमें कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता क्योंकि इसके लिये चेतन की अपेक्षा होती है, किन्तु बौद्ध कार्यकारण की परम्परा में चेतन-कर्ता का कोई स्थान नहीं।

कारण-कार्य के प्रसंग में बौद्ध की व्याख्या है कि ऐसा होने पर ऐसा होता है अर्थात् अमुक कारण के होने पर अमुक कार्य होता है। इस मान्यता के दोनों ही पक्ष स्पष्ट हैं—(१) कारण पूर्वभावी और कार्य पश्चाद्भावी होता है तथा (२) नियतकारण से नियत कार्य उत्पन्न होता है।

काशैद की दृष्टि में कार्यकारण की यह व्याख्या भी अपूर्ण एवं असंगत है क्योंकि "ऐसा होने पर" कहने में भूतकाल का भाव है तथा "ऐसा होता है" में वर्तमान का। यह स्थिति कर्ता की क्रिया के कर्म को सूचित करती है। "ऐसा होने पर ऐसा होना" कहने में स्पष्ट ही नियतता है, अन्यथा घट के होने पर धूम भी हो सकता था यह नियतता अपेक्षा रखती है अर्थात् कारण-कार्य अन्योन्यापेक्ष होंगे। किन्तु अन्योन्यापेक्षा जड़ का धर्म नहीं माना जा सकता। इस तरह बौद्ध का पूर्वतापरता का सिद्धान्त चेतन कर्ता को माने बिना सर्वथा असंगत है क्योंकि पूर्वता और परता अर्थात् कारण एवं कार्य परस्पर सापेक्ष होंगे और यह सापेक्षता ही कार्य-कारण-वाद का स्वारस्य है जो जड़ में न रह कर चेतन में रहती है।[५६]

काशैद जड़ में अपेक्षा इसलिए नहीं मानता कि जड़ स्वात्मनिष्ठ होता है, स्वात्म में ही विश्रान्त और संतुष्ट होता है। जड़ एक दूसरे की स्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। तब उनमें कार्य की उत्पत्ति के लिए इच्छा, प्रयत्न, प्रसरण एवं उस प्रकार की शक्ति कैसे हो सकती है? अतः क्या है और क्या होता है, अथवा किसके होने पर क्या होना है, इसका ज्ञान जड़ को नहीं होता। तब जड़ को किसी कार्य का कारण कैसे कहा जा सकता है?[५७]

५६. अस्मिन् सतीदमस्तीति कार्यकारणतापि या।
साऽप्यपेक्षा विहीनानां जडानां नोपपद्यते॥ 'ईप्रवि', २. ४. १४.
तस्मिन् सति हि तद्भाव इत्यपेक्षैकजीवितम्।
निरपेक्षेषु भावेषु स्वात्मनिष्ठतया कथम्॥ 'तन्त्रा', ९. ११,
ननु अयमेव विधो भावस्वभाव एव यत अस्मिन् सतीदं भवतीति अन्यथा हि भावान्तभविऽपि अभवत् तस्मिन् सति भवति, इति कथं स्यात्, न च अमूताकारभावमन्तरेण अन्यत् किंचित् कार्यकारित्वम्······। तन्त्रावि,' ९ ११.

५७ न हि स्वात्मैकनिष्ठानामनुसन्धानवर्जिनाम्। ··· ··· अतोऽनुसंधानविहीनत्वाज्जडो भाव: स्वात्ममात्रविश्रान्तिसन्तोषसंकुचितशरीर: कथं परत्र प्रसरेत्। ईप्रवि,' २. ४ १५.
यदन्यस्मिन्सति अभवत् तस्मिन्नेव सति भवतीति, स्यादेतत् एवं जडानां यदि नियमो न भवेत् यत् सति घटे धमोऽपि स्यात् किन्तु न नैयत्येन इति, नियमे हि अन्योन्यापेक्षा जीवितम् सा च जडानां न संभवती. ते हि स्वात्ममात्रपरिनिष्ठितत्वादन्योन्यवार्तानभिज्ञा, इति कस्मिन् सति किं स्यात्······। तन्त्रावि', ९. ११.

इस प्रकार कारण के रूप में बीज की सत्ता और कार्य अंकुर की असत्ता मानें, या बीज की असत्ता और अंकुर की सत्ता मानें, अथवा दोनों की सत्ता या असत्ता मानें, दोनों को सोपाख्य या निरुपाख्य या एक को सोपाख्य और दूसरे को निरुपाख्य मानें, सभी स्थितियों में जड़ पदार्थ जड़पदार्थमात्र ही रहेगा। उसका मूल स्वभाव स्वात्ममात्रपरिनिष्ठता नहीं बदलेगा। उसमें समुच्चय, अपेक्षा या अनुसन्धान की शक्ति नहीं आयेगी।[४८] यह शक्ति या धर्म तो स्वभावतः चेतन कर्ता में ही होता है। अतः चेतन कर्ता ही कारण माना जाएगा, जड़ नहीं।

काशैंद की उपर्युक्त युक्तियों से बौद्ध सहमत नहीं। उसके मत में अनेक ऐसे लौकिक उदाहरण हैं जिनमें कार्यकारणभाव मानने के लिए चेतन की अपेक्षा नहीं यही क्यों, परस्पर अपेक्षा की आवश्यकता ही क्या है? अर्थात् कारण को कार्य उत्पन्न करने के लिए अथवा कार्य-विशेष का कारण बनने के लिए एवं कार्य को कारणविशेष से उत्पन्न होने के लिये, नियतता तो होती है, किन्तु परस्पर अपेक्षा नहीं। यथा अग्नि और धूम परस्पर अनभिज्ञ हैं, इनका सदैव साहचर्य देखा जाता है, किन्तु इनमें अन्योन्यापेक्षा तो कहीं नहीं दीखती। हाँ, इतना नियम अवश्य रहता है कि अग्नि के पश्चात् अधूम नहीं होता और धूम से पूर्व अनग्नि नहीं होती। इस प्रकार अग्नि और धूम स्वात्ममात्र पर्यवसायी ही सिद्ध होते हुए, दूसरे किसी की या परस्पर अपेक्षा का भाव रखे बिना ही कार्यकारण के रूप में जाने जाते हैं।[४९] अतः कार्यकारण में परस्पर अपेक्षा की बात अनावश्यक है और जब अपेक्षा ही व्यर्थ है तब अपेक्षा-विहीन भाव मात्र को किसी कार्य का कारण मानने में कोई असंगति नहीं।

काशैंद कार्यकारण में अपेक्षा पर बल देता हुआ पुनः कहता है कि अपेक्षा न मानने से दर्शन मात्र ही प्रमाण हो जाएगा अर्थात् किसी को भी देख लेने से किसी का भी ज्ञान हो जाएगा। जैसे अग्नि के बाद धूम की ही प्रतीति होती है, अधूम

४८. ततश्च यदि वीजं सदुंकुरो सन् अथापि विपर्यय उभयमपि वा सत् यदि वासत् अथापि एक सोपाख्यमन्यत् निरुपाख्यम्, द्वयमपि वा सोपाख्यं निरुपाख्यं वा, तथापि प्रातिपदिकार्थमात्रं धर्मान्तरेण समुच्चयादिनाप्यनालिंगितमवतिष्ठते, तस्य समस्तस्यापेक्षारूपत्वेन चैतन्यविश्रान्तत्वात्। 'ईप्रवि', २.४ १५.

४९. नन्वग्निधूमावेव तथा परिदृश्यमानौ अन्योन्यात्मतामनासादयन्तावपि अन्यथा भवन्तौ नियताविर्त्युच्येते. न तु नियमो नामापरः कश्चित्पदार्थो योऽनयोरन्योन्यापेक्षां प्रसजयेत् तदग्नेरयमेव नियमो-यत्तस्य पश्चान्नाधूमः, तस्याप्ययमेव-यत् ततः पूर्वं नानग्निः, इत्यनयोः स्वात्ममात्रपर्यवसितम् अनन्यस्पर्शितया विशिष्टं रूपमेव कारणता कार्यता च, इति न कश्चिदपेक्षार्थः। 'तंत्रावि', ९. ११.

की नहीं, इसी प्रकार धूम से पूर्व अग्नि की ही प्रतीति होती है, अनग्नि की नहीं। यह तो मानना ही होगा कि दृश्य वस्तु के बिना केवल दर्शन मात्र से ही वस्तु की 'ऐसा होने पर यह होता है' ऐसी व्यवस्था उचित नहीं।[६०] अतः धूम और अग्नि के स्वरूप में सन्निविष्ट कुछ विशेष (अर्थात् सम्बन्ध या अपेक्षा) मानना ही होगा जो अग्नि और धूम को नियमित करे। ऐसे किसी नियन्ता को माने बिना अग्नि के बाद धूम ही होगा, अन्य कोई नहीं, धूम से पूर्व अग्नि ही हो और कोई नहीं आदि व्यवस्था कैसे सम्भव होगी?[६१] इसके साथ ही जो दो वस्तुएं क्रम से आती हैं वे कारण-कार्य नहीं होतीं, उनमें भी कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक हो जाएगा। उदाहरणार्थ कृत्तिका के उदित होने पर नियम से रोहिणी का उदय होता है, परन्तु इनमें कार्यकारणभाव तो माना नहीं जा सकता और वस्तुतः है भी नहीं।[६२]

अपेक्षा के दो प्रकार एवं निष्कर्ष

कार्यकारणभाव के प्रसंग में प्रारम्भ से ही जिस अपेक्षा पर काशीद अत्यधिक बल दे रहा है उसे वह दो प्रकार का मानता है—

१. अन्योन्य-अनुषंगितात्मिका।

२. (अभिप्रायात्यिका) अनुसन्धानरूपा।

परस्पर अनुषंगितात्मिका[६३] वह होती है जिसमें दोनों ही एक दूसरे पर इस प्रकार निर्भर रहती हैं कि एक के न होने पर दूसरे की सत्ता ही नहीं होती, जैसे अग्नि और उष्णत्व। इनमें नित्य एकात्मता है। अग्नि के न रहने पर उष्णत्व नहीं रहेगा और जहाँ उष्णत्व नहीं, वहाँ अग्नि भी सम्भव नहीं। परन्तु कार्य-

६०. एवं हि दर्शनमात्रमेव प्रमाणीकृतं स्यात्, यत् पुरुषेण अग्नेः पश्चात् धूम एव प्रतीयते, नाधूमः, तस्यापि पूर्वमग्निरेव नानग्निरिति, न च दृश्यानपेक्षात् दर्शममात्रादेव अर्थतथात्व-व्यवस्थाऽन्याय्या···। वही.

६१. ···अनयोः स्वरूपसन्निविष्टः कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगमनीयो, योऽग्निधूमौ तथा नियमयेत्, अन्यथा हि अग्निः पश्चात् यो धूम एव नापरः स नाग्नेः स्वरूपातिशयो, नापि यो धूमात् पूर्वमग्निरेव नापरः स धूमस्य इति कथमेव भावो भवेत्, नहि परः परस्य स्वरूपमतिशाययति, न च बहुशोऽपि दैवयोगात् पुरुषेण घटादनन्तरं पटो दृष्ट इति तयोः परस्परयोर्निरपेक्षयोरपि तावता किंचित् नियामकं ज्ञातेयमुदियात् येनावश्यं पौर्वापर्यं स्यात्...।

६२. एवं च कृत्तिकारोहिण्युदययोरपि कार्यकारणभावो भवेत् यदुदितासु कृत्तिकासु नियमेन रोहिण्युदयः इति ...। वही.

६३. सा च द्विविधा अन्योन्यानुषंगितात्मिका अभिप्रायात्मिका वा....अन्योन्यानुषंगिता हि द्वयोरर्थयोः परस्पररूपत्वात् वह्न्योष्ण्ययोरि सत्तायामैकात्म्यम्, एकतरापाये पुनः परस्य सत्तैव न स्यात्, उष्णत्वाभाव इव वह्नेः, न च कार्यकारणयोरेवंभावोऽस्ति परस्पर विविक्ततया अग्निधूमयोः प्रतिभासात् तथात्वे धूमाभावेऽग्निरेव न भावात्, तदभावेऽपि वा धूम इति प्रत्यक्षविरोधः स्यात्...। वही.

कारणभाव में ऐसी अपेक्षा नहीं होती । कार्यकारण, यथा धूम और अग्नि, परस्पर विविक्त होकर आभासित होते हैं और कार्यकारणभाव का प्रतिभासन कराते हैं। यदि यहाँ यह तर्क दिया जाए कि अग्नि और उष्णत्व के एकात्म सम्बन्ध की तरह धूम और अग्नि में भी एकात्म सम्बन्ध मान लिया जाए तो कठिनाई यह उपस्थित होगी कि धूम के अभाव में अग्नि ही आभासित नहीं होगी अथवा अग्नि के अभाव में धूम ही आभासित नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता है, इसलिये धूम-अग्नि में अग्नि-उष्णत्व की भाँति सम्बन्ध नहीं माना जा सकता अर्थात् धूम और अग्नि में परस्पर अनुषंगितात्मिका अपेक्षा नहीं है।

दूसरी अभिप्रायात्मक अपेक्षा अनुसन्धानरूपा है जैसे अन्न के प्रति भोक्ता का। भोक्ता अन्न के प्रति सापेक्ष होता हुआ भी अन्न के अनुषंगी के रूप में प्रतीत नहीं होता किन्तु वह उसके संविद् में अभिमुखीभाव को प्राप्त होता है जिससे भोक्ता अन्न की अभिलाषा करते हुए अनुसन्धानपूर्वक उसकी ओर प्रवृत्त होता है। परन्तु अपेक्षा का यह रूप भी कार्यकारणभाव में सम्भव नहीं क्योंकि वे जड़ हैं, उनमें परस्पर अनुसन्धान की सामर्थ्य नहीं[६४] इस प्रकार दोनों ही प्रकार की अपेक्षाएं जड़ में सम्भव नहीं। अतः जड़ों में बिना किसी ज्ञातेय अथवा सम्बन्ध के कार्यकारण भाव उपपन्न नहीं हो सकता।

काशॅंद की बौद्ध-विरोधी युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि कार्यकारण के स्वरूप में ही सन्निविष्ट किसी ज्ञातेय को मानना चाहिये, जिसका अन्वय-व्यतिरेक हो सके क्योंकि ज्ञापक के द्वारा ही सभी वस्तुओं के रूप को जाना जाता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो भ्रान्ति उत्पन्न होगी और वस्तु भी ज्ञापित नहीं हो पाएगी।[६५]

---

६४. द्वितीया चानुसंधानरूपा, यथा भोक्तुरन्नं प्रति, भोक्ता हि अन्नं प्रति सापेक्षोऽपि अन्नानुषंगितया न प्रतीयते, किं तु तदस्य संविदि अभिमुखीभावमेति, येनायं तदभिलाषाद्यात्मना अनुसंधानेन तत्र प्रवर्तते...। तत्रावि', ६. ११.

६५. तस्मात् कार्यकारणयो स्वरूपसंनिविष्टं किंचिज्ज्ञातेयमभ्युपगमनीयं यस्यान्वयव्यतिरेकौ स्याताम्, ज्ञापकेन हि सर्वत्र वस्तुनि संभवदेव रूपं ज्ञाप्यते, नान्यथा, तथात्वे वा भ्रान्तिः स्यात् इति न वस्तु ज्ञापितं भवेत् ।... वही.

४

विवर्तवाद एवं उसकी समालोचना

यद्यपि वेदान्त दर्शन पारमार्थिक स्तर पर किसी प्रकार के कारणवाद को मान्यता नहीं देता तथापि जगत् के प्रसंग में विवर्तवाद का विचार ही व्यावहारिक स्तर पर कारण-कार्यवाद के प्रसंग में समझा जाता है। व्यवहारिक स्तर पर इस विवर्तवाद को एक दृष्टि से सत्कारणवाद भी कहा जा सकता है। परन्तु काशैद के दार्शनिक वेदान्त के कारणवाद की विवर्तवाद अथवा सत्कारणवाद कहकर नहीं अपितु चित्कारणवाद कहकर आलोचना करते हैं।

पक्षद्वय : चिद् की कारणता तथा कार्य का मिथ्यात्व

काशैद द्वारा प्रस्तुत शान्तब्रह्मवाद अथवा अद्वैत वेदान्त के कारणवाद की समालोचना के मोटे रूप में दो पक्ष हैं—प्रथम चिद् की कारणता का पक्ष और दूसरा कार्य के मिथ्यात्व का। इन्हीं दोनों पक्षों में गौण रूप से जड़-चेतन का भेद, सत् और सत्ता की भिन्न व्याख्याएं एवं कार्य की कारण में सत्ता या असत्ता के प्रश्न भी समाहित हैं। इसी प्रकार कारण-कार्य की अनन्यता की मान्यता यद्यपि दोनों मतों में विद्यमान है तथापि उसकी पृष्ठभूमि और व्याख्या का भेद यहाँ भी पूर्ववत् है।

निष्क्रिय चिद् की अकारणता

अद्वैत वेदान्त चिदात्मवादी है। सच्चिदानन्द ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, शेष सब मिथ्या है। इसी नियमानुसार घटादि का कारण मृदादि है, परन्तु मृद् भी जड़ है, मिथ्या है, केवल कुम्भकार में विद्यमान चिदात्मा ही सत्य है जो वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है। काशैद का इस मत से वैषम्य यह है कि वह चिन्मात्र को नहीं अपितु चिद्रूप को कारण मानता है। यह क्षमता चिद्रूप में है, अतः वही कारण है। शैव-दृष्टिकोण से चिन्मात्र कारण इसलिये नहीं बन सकता कि कारण बनना एक कारक क्रिया है। यह कारक क्रिया तभी सम्भव है, जब कारण में (१) कार्य करने की इच्छा हो, (२) इच्छा का लक्ष्य (कार्य) हो, (३) कार्य भी इच्छा ही में हो और (४) इच्छात्मक क्रिया किसी कर्ता में ही हो। दूसरे शब्दों में इच्छा एवं क्रियादि से सम्पन्न कर्ता ही कारण हो सकता हैं। अद्वैत वेदान्ती 'एकोऽहं बहु स्याम्' के रूप में इच्छा तो मानते हैं परन्तु इच्छानुसारी क्रिया का उसमें अभाव मानते हैं। यह एक अपूर्ण मान्यता है क्योंकि जिस कारण

में कार्य करने की इच्छा तो हो किन्तु वह क्रिया न कर सके अथवा उसमें क्रिया का अभाव हो तो यह स्थिति जड़कारणवाद से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। क्योंकि जड़ और चेतन का भेद इच्छा, ज्ञान-क्रियादि का ही भेद है। परन्तु अद्वैत वेदान्ती चिन्मात्र को इच्छा से युक्त मानते हुए भी क्रियादि से रहित मानकर उसे जड़वत् बना रहे हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त बिन्दु पर अद्वैत वेदान्त और काशैद के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट है। अद्वैत वेदान्त का यह विचार काशैद को मान्य है कि इस जगत् का कारण चिद् है। परन्तु चिद् के जिस स्वरूप को वेदान्ती मानते हैं, उसे वह अपूर्ण कहता है। उसकी आलोचना का सार यह है कि चिद् को कारण मानना ही पर्याप्त नहीं अपितु चिद के स्वरूप में स्वातन्त्र्य मानना भी अनिवार्य है।[६६] इस स्वातन्त्र्य या परामर्श के बिना चिद् को कारण सिद्ध करना असम्भव है क्योंकि कारण बनना एक कारक-क्रिया है और क्रिया करने की शक्ति यदि चिद् में नहीं है तो उसको कारण कहने से कोई लाभ नहीं क्योंकि क्रिया अथवा स्वातन्त्र्य-रहित चिद् वस्तुतः जड़ ही है। जड़ और चेतन इच्छा-ज्ञान-क्रियादि-रूपी स्वातन्त्र्य के कारण ही भिन्न कहलाते हैं। अतः जहाँ वेदान्ती स्वातन्त्र्य-रहित चिद् को कारण मानता है वहीं काशैद स्वातन्त्र्य से समन्वित चिद् अर्थात् चिद्रूप को कारण मानता है। काशैद का पक्ष इसलिये समर्थन योग्य है कि लोक व्यवहार में भी कुम्भकार में स्थित केवल चिद् ही नहीं उसके चिद् में रहने वाली कर्तृत्व शक्ति (चिद्रूपस्यैव कर्तृत्वमुपपन्नम्, ईप्रवि, २. ४. १९.) अर्थात् स्वातन्त्र्यात्मक क्रिया के फलस्वरूप ही घटोत्पत्ति होती है।

यही नहीं, काशैद के विचार में क्रिया-रहित चित् में इच्छा का रहना भी असंगत है क्योंकि इस मतानुसार चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ कारण अथवा कर्ता में समन्वित रूप से रहती हैं। इनमें से किसी एक की उपस्थिति और शेष की अनुपस्थिति कदापि सम्भव नहीं क्योंकि ये विमर्शात्मक शक्तियाँ प्रकाश-स्वरूप शिव में सदैव सामरस्य से रहती हैं। इसीलिये इस मत में किसी भी कार्य के लिए शक्तिपंचक का सामरस्य आवश्यक बताया गया है। इस शक्तिपंचक का एवं इसी में समाहित अन्य अनन्त शक्तियों का अपर पर्याय है स्वातन्त्र्य। अतः दूसरे शब्दों में किसी भी कार्य के लिए स्वातन्त्र्य आवश्यक है। परन्तु वेदान्ती चित् में इच्छा मात्र मान कर और उसमें क्रियादि का अभाव मानकर चित् के स्वा-

६६. तस्मात् वस्तुतः चिदेकत्वमभ्युपगम्यापि तस्य कर्तृत्वलक्षणा भिन्नरूपसमावेशात्मिका क्रिया नोपपद्यते परामर्शस्वरूपं तु स्वातन्त्र्यं यदि भवति तदोपपद्यते सर्वम्। 'ईप्रवि', २.४ २०.

तन्त्र्य को न केवल अपूर्ण बना रहे हैं अपितु क्रिया-रहित चित् में इच्छा की भी असम्भवता सिद्ध करने की ओर बढ़ रहे हैं। क्रियादि के स्वातन्त्र्य से रहित चित् में इच्छा का औचित्य ही क्या है ? कुम्भकार के चित् में घट-निर्माण की इच्छा है परन्तु क्रिया करने की सामर्थ्य नहीं क्रिया करने का स्वातन्त्र्य नहीं, तब ऐसी इच्छा का होना न होना एक ही बात है। साथ ही क्रियादि-रहित वस्तु जड़ है और उस जड़ में इच्छा भी नहीं रह सकती।

कारण में स्वातन्त्र्य शक्ति की अनिवार्यता पर बल देने के पीछे काशैद का एक उद्देश्य यह भी है कि नियत कारण से नियत कार्य उत्पन्न हो सके। केवल निर्विशेष चित् में निश्चित कारण से निश्चित कार्य उत्पन्न करने की कोई व्यवस्था नहीं परन्तु काशैद के स्वातन्त्र्य में क्रिया शक्ति के साथ ही नियति शक्ति भी विद्यमान है जो निश्चित कारण से निश्चित कार्य के नियम की प्रकाशिका है। इस नियति शक्ति के बिना कोई कारणवाद पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अतः काशैद में स्वातन्त्र्य शक्ति से रहित वस्तु जड़ है, असत् है। वेदान्ती भी चित्-कारण में स्वातन्त्र्य को न मानकर उसे किंवा असत् सिद्ध करने की ओर बढ़ रहे हैं जो स्वयं उन्हीं के प्रयोजन और उद्देश्य के विपरीत बात है।

यहाँ वेदान्त की ओर से यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है कि वेदान्त में कार्य को वास्तविक नहीं माना जाता। कार्य को वास्तविक मानने पर ही उसकी अपेक्षा से कर्तृरूप कारण और उसमें स्वातन्त्र्यात्मक क्रिया का प्रश्न उत्पन्न हो, परन्तु वेदान्त में कार्य मिथ्या है, कारण ही सत्य है। अतः कारक-क्रिया की आवश्यकता नहीं; और जहाँ तक लोक व्यवहार में प्रतीत होने वाले कारण-कार्य के भेद की बात है, उसका कारण अविद्या, अज्ञान अथवा माया है। वस्तुतः कोई कार्य है ही नहीं। एक ही मृत्तिका के घटादि जैसे अनेक एवं भिन्न-भिन्न दीखने वाले रूप अथवा कार्य मृतिका के ही विवर्त हैं, अतः मृतिका ही सत्य है, घटादि नहीं।

माया की असंगत भूमिका

कार्य-कारण के भेद-व्यवहार में माया अथवा अविद्या को कारण मानने में काशैद को एक असंगति दृष्टिगोचर होती है। वह कहता है कि यदि कार्यकारण में भेद का हेतु माया है तो इस माया का भी तो कोई कारण होना चाहिए। माया को जीवाश्रित मानने पर ब्रह्म से उसकी अभिन्नता में बाधा उपस्थित होती है और यदि ब्रह्माश्रित मानते हैं तो ब्रह्म अविद्यादि दोषों से ग्रस्त होगा,[६७] और अद्वैतवाद

६७. चिद्रूपश्यैकत्वं यदि वास्तवं भेदः पुनरयमविद्योपप्लवात् - इत्युच्यते तदा कस्यायमविद्योपप्लवः - इति न संगच्छते। ब्रह्मणो हि विद्यैकरूपस्य कथमविद्यारूपता, न चान्यः कश्चिदस्ति वस्तुतो जीवादिर्यस्याविद्या भवेत्। 'ईप्रवि', २. ४. २०.

भंग होगा, अथवा दूसरे शब्दों में यदि इस भेद-व्यवहार का कारण विकल्पन-व्यापार माना जाये तब भी वही प्रश्न उठता है कि यह विकल्पन-व्यवहार किसका ? ब्रह्मातिरिक्त कोई तत्त्व है नहीं जिसमें इसे माना जाए और ब्रह्म में मानने से वह अज्ञानरूप विकल्पन-व्यापार का अधिष्ठान सिद्ध होता है। साथ ही वस्तुतः विकल्पव्यापार को असत्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह भी अविकल्प ज्ञान रूप सत्य की भाँति भासित तो होता ही है।[६८]

अतः भले ही अद्वैत वेदान्त में कारण को सत् एवं कार्य को मिथ्या माना जाए तब भी चूँकि वह माया की युक्ति-युक्त व्याख्या नहीं कर सकता जिसके फलस्वरूप उसका यह मत निरस्त हो जाता है कि कार्यकारण और कुछ नहीं, मायाकृत भेद-प्रतीति हैं।

यहाँ यह शंका सहज ही उठ सकती है कि काशैद भी माया को स्वीकार करता ही है तब वह कारणवाद के प्रसंग में उसका क्या उपयोग करता है और उसको स्वीकार करते हुए कैसे अपने अद्वयवाद को सुरक्षित रख पाता है। वस्तुतः काशैद माया को ब्रह्म अथवा शिव का उत्कृष्ट स्वातन्त्र्य मानता है।[६९] अतः उसके मत में ऐसे किसी अन्तर्विरोध का कोई अवसर नहीं। दोनों ही दर्शन-दृष्टियों में माया के स्वरूप एवं परम तत्त्व से उसके सम्बन्ध पर विस्तार से आगे विचार किया जाएगा।

कार्य का मिथ्यात्व असिद्ध

अद्वैत वेदान्त के कारणवाद में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता कारण रूप में ही है कार्यरूप में मिथ्या है, असत् है अर्थात् घट व्यवहार के लिए कार्य है और सत् है परन्तु घट रूप में आने से पूर्व मिट्टी रूप में ही सत् था, घटरूप में नहीं। इस मान्यता पर काशैद की युक्ति है कि यदि मिट्टी में पूर्वतः घट नहीं माना जाएगा तो इसका अर्थ होगा कि कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति हुई। साथ ही इसका यह भी अर्थ होगा कि जो पहले असत् था वह बाद में सत्ता में आया। परन्तु यह मान्यता उचित नहीं क्योंकि असत् का असत् होना ही परमार्थ है। असत् अपने परमार्थ रूप को छोड़ कर उसके विरुद्ध बाद में व्यवहार के लिए भी सत् कैसे हो सकता है।[७०] उदाहरणार्थ अभिनवगुप्त कहते हैं कि काला कभी सफेद नहीं हो

६८. सद्रूपमेव ब्रह्माभिन्नं चकास्त्यविकल्पे, विकल्पबलात्तु भेदोऽयम् इति चेत् कस्यायं विकल्पन-व्यापारो नाम ? ब्रह्मणश्चेत् अविद्यायोगो न च अन्योऽस्ति, अविकल्पं च सत्यं विकल्पकम-सत्यम् इति कुतो विभागो भासमानत्वास्याविशेषात्। 'ईप्रवि', २. ४. २०.

६९. माया नाम तस्य उत्कृष्टं स्वातन्त्र्यम्। 'मर्म', १७.

७०. ......तदानीं तस्यासत्वात्, यदि चासदेवांकुरादि तर्हि तस्यासद्रूपतैव परमार्थः इति कथं स्वरूपविरुद्धं सत्वमभ्युपेयात्। 'तंत्राविं', ९. ८, और भी द्र०-'ईप्रवि', २. ४. ३.

सकता चाहे वेदान्ती लाख बार सिर पटकें। परन्तु यदि वेदान्ती घट को भी सत्स्वभाव का मानें अर्थात् मिट्टी और घट में सत्ता की समानता मानें तब काशैद की युक्ति है कि दण्ड चक्रादि व्यर्थ होंगे। सत्स्वरूप घट को पुनः दण्डचक्रादि के द्वारा सत्ता में लाने की बात कहना उचित नहीं।

इस तरह काशैद के दृष्टिकोण से वेदान्त की दोनों ही व्याख्याएं उचित नहीं कि कार्य असत् है अथवा सत्ता रूप में सत् है। असत् व्यवहार में भी असत् ही होगा क्योंकि वस्तु का स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं होता।

यदि वेदान्ती सत् और असत् के द्वारा न कह कर उसे अनिर्वचनीय कहें, तो इसे भी काशैद उचित नहीं मानता क्योंकि कार्य को उभयात्मक एवं अनुभयात्मक कहने में, उसकी दृष्टि से, स्पष्ट ही विरोध है।[७१] वह स्वरूप से आभासित होते हुए अनिर्वाच्य कैसे हो सकता है। और यदि अनिर्वचनीयता का अर्थ मात्र यह है कि उसे युक्तियों से सिद्ध नहीं किया जा सकता है तो काशैद पूछता है ऐसी कौनसी युक्ति है जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विरोध करती है। वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है यही युक्ति उसकी सत्यता के लिये पर्याप्त है।[७२]

अद्वैत वेदान्त में कारण को सत् एवं कार्य को मिथ्या माना गया है। मिथ्या कहने से अद्वैत वेदान्त का आशय यह है कि परमार्थ दृष्टि से कार्य सत्य नहीं, मात्र व्यवहार में सत्य होता है। परमार्थ-दशा कार्य अपनी कारणरूपता के बिना स्वतन्त्र सत् नहीं। जैसे घटादि की सत्ता अपने कारण पृथ्वी आदि के रूप में तो सत्य है परन्तु पृथ्वी आदि से भिन्न रूप में उसकी सत्ता मिथ्या है। कार्य को मिथ्या मानने के लिये वेदान्ती का एक तर्क यह भी है कि कार्य का ज्ञान कालान्तर में बाधित हो जाता है। शुक्तिका में रजत की प्रतीति भ्रांति है। शुक्तिका रूप में जब उसकी वास्तविक प्रतीति होती है तब रजत-प्रतीति का बाध हो जाता है।

काशैद का कार्य के प्रति दृष्टिकोण भिन्न है। वह कारण और कार्य दोनों को सत्य मानते हुए भी अद्वयवाद की प्रस्थापना करता है, यही उसका वैशिष्ट्य है। उसकी प्रथम वेदान्त-विरोधी युक्ति यह है कि कार्य सत्य है क्योंकि वह कारण

---

७१ ननु वेदान्तिभिरुभयात्मकत्वेऽपि अनुभयात्मकतारूपमनिर्वाच्यत्वमत्र...स्फुटं विरोधात्। 'भा', २. ४. ३

न च तदुभयात्मकमनुभयात्मकमनिर्वाच्यं वा युज्यते विरुद्धत्वादेवं स्वभावत्वस्य। 'तंत्रावि',६.२.

७२. अनिर्वाच्येयमविद्या–इति चेत्, कस्य अनिर्वाच्या–इति न विद्मः स्वरूपेण च भाति, न चानिर्वाच्या, इति किमेतत्? युक्त्या नोपपद्यते इति चेत् सवेदतिरस्कारिणा का खलु युक्तिर्नाम, अनुपपत्तिश्च भासमानस्य कान्या भविष्यति। 'ईप्रवि', २.४.२०; और भी द्र०– 'शिदृ', २. ३४. ३५.

का ही बहिराभासन है। कारण कर्तृ रूप है। उसमें कार्य करने की वास्तविक इच्छा उदित हुई, तदनुसार ज्ञानपूर्विका क्रिया के द्वारा वह इच्छा कार्य रूप में आभासित हुई। इस प्रकार कार्य पूर्वत: कारण में विद्यमान था और क्रिया द्वारा उसी का कार्य रूप में बहिराभासन हुआ। अत: कार्य कोई नूतन वस्तु नहीं है। इसके साथ ही कार्य रूप में व्यक्त होने के लिये कर्तृ रूप कारण की क्रिया कहीं बाहर नहीं होती अपितु उसी में होती है। ऐसा न मानने से कर्ता की इच्छा में अपूर्णता, परिच्छिन्नता के दोष उपस्थित होंगे क्योंकि परिच्छिन्नता भी व्यावहारिक है, परमार्थ नहीं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु या कार्य संविद् में एकात्मरूप से परिस्फुरित होने के कारण आन्तर है। सुखादि की भाँति, अन्त:करण द्वारा ज्ञेय होने से ग्राह्य है अथवा बाह्येन्द्रिय द्वारा वेद्य होने के कारण बाह्य भी है। अत: कार्य संविद् में अवस्थित का ही बहिराभासन[७३] है और संविद् के सत्य होने से वह भी सत्य है।

बाध्यबाधकभाव की असंगति

वेदान्त द्वारा मान्य कार्य के मिथ्यात्व के विरोध में काशैद की एक युक्ति यह है कि घटादि या जगत् रूपी कार्य का प्रत्यक्ष होता है तब इन्हें मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? शकर कहते हैं—जैसे स्वप्न-ज्ञान जागने के वाद बाधित हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था का यह ज्ञान भी परमार्थ तत्त्व की अनुभूति के उपरान्त बाधित हो जाता है। शुक्तिका में रजत-ज्ञान की प्रतीति मिथ्या है, भ्रान्ति है। परन्तु काशैद कहता है यह मिथ्यात्व किसका? शुक्तिका में जिस काल में रजत की प्रतीति हुई क्या वह काल ही मिथ्या था? ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अकाल में किसी का जन्म सम्भव नहीं। क्रिया को काल की अपेक्षा होती है। शुक्तिका में रजत की प्रतीति भी क्रिया है जो काल-रहित नहीं हो सकती। अत: काल को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। तब यदि शुक्तिका में रजत-ज्ञान के जन्म की क्रिया को बाधित मानते हुए मिथ्या कहा जाए तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि शुक्तिका में रजतादि कार्य करके अर्थात् रजतादि का ज्ञान करा कर क्रिया समाप्त हो गई। अन्य वेदान्ती तो क्रिया को सत्य मानते नहीं तब उसके अभाव में कौन वस्तु बाधित हुई? यही नहीं, वेदान्ती तो स्वयं बाध विषयों का ही अर्थात् जो एक ज्ञान में दूसरे ज्ञान के बाधक हों उसे ही अभावरूप, मिथ्या मानते हैं तब किसे बाधित और बाधक कहा जाए।[७४]

७३. इह खलु आन्तरत्वग्राह्यत्वबाह्यत्वभेदात् त्रिधार्थः परिस्फुरेत् ...... । द्र०–'तंत्रावि', ६८.

७४. बाधके च प्रमाणे सति नेदं रजतं नेदं रजतं शुक्तिका, इति निषेधनिष्ठतया प्रतीतो मिथ्यात्वं स्यात्। तेन बाधकेन प्रमाणेन मिथ्यात्वं कार्यम्। तत्कस्य क्रियते, तत्र किं यस्मिन् काले तद्रजतता भवेत्। स काल एव न भवतीति मिथ्यात्वमभ्युपगम:। तन्न। नैव हि अकाले कालाभावे कस्यचिज्जननं नाम किंचित्कालरहिताया: क्रिया अयोगादित्यर्थ। जनिक्रिया वा यदि बाध्यते, तन्न। रजतादिकार्यं कृत्वा क्रिया समाप्ता। तस्या असत्या: को बाधार्थ: स्वमेव तस्या अभावात्। इदानीं च बाधविषयस्याभावात्को बाध:। 'शिदृ', ४. १५-१६.

अद्वैत वेदान्त कार्य (जगत्) को अविद्या मानते हुए मिथ्या मानता है। परन्तु काशैद कहता है कि यह अविद्या कोई पदार्थान्तर नहीं है, कोई अन्य नवीन पदार्थ नहीं है। परम कर्तृरूप कारण शिव ही कार्यरूप में लोक यात्रा में अवस्थित है। अविद्या भी शिव-रूपा होने से सत्य है। उसी परम कारण के स्वरूप का प्रसारण कार्य है, अतः वह कुत्सित या गर्हित नहीं।[७५] कार्य को मिथ्या मानने से लोक-व्यवहार का उच्छेद होगा क्योंकि लोक-व्यवहार कार्य-कारणभाव पर निर्भर करता है। अतः उसका मिथ्यात्व समर्थनीय नहीं।[७६] कार्य को मिथ्या मानने पर कारण से उसका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि असत् से सत् का सम्बन्ध उचित और सम्भव नहीं। ऐसा मानने पर सबका सबसे सम्बन्ध हो जाएगा अथवा किसी से किसी का नहीं होगा। अतः कार्य को **अनादि-अविद्यावशात् असत्य या** अज्ञान रूप कहना भी अज्ञान ही है क्योंकि अविद्या **को अविद्यारूप में स्वीकार करने** से ही वह असत्य सिद्ध हो जाती है जिसके उपरान्त उसका किसी से सम्बन्ध नहीं हो सकता।[७७]

वेदान्त में कारण से कार्य को विलक्षण माना गया है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और जगत् उसके विपरीत। अतः ब्रह्म और जगत् में विलक्षणता है।

यहाँ काशैद की आपत्ति है कि यदि कार्य कारण से विलक्षण है तब इसका अर्थ होगा कि कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति हुई। सत्स्वभाव कारण से असत्स्वभाव या भिन्न स्वभाव कार्य की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय है। परन्तु स्वयं शंकर [७८] कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति मानते हुए कहते हैं कि जड़ गोमय से चेतन वृश्चिक उत्पन्न होते हैं तथा चेतन शरीर से जड़ केशादि।

काशैद कहता है कि गोबर से उत्पन्न होने वाले वृश्चिक तथा वृश्चिक से उत्पन्न होने वाले वृश्चिक में रस के कारण भेद है। क्योंकि कारण के भेद से ही कार्य में भेद होता है।[७९] वस्तुतः परमार्थदृशा काशैद में कोई वस्तु जड़ नहीं है सभी चेतन हैं। वृश्चिक और गोमय दोनों ही जब चेतन हैं तब इबसे विलक्षण कारण की उत्पत्ति की चर्चा व्यर्थ है।

---

७५. द्र०–'शिदृवृ', १. १२, ३. ४८-४९.

७६. द्र०–'ईप्रवि', २. ४. ३.

७७. द्र०–'शिदृवृ', २. २२-२३.

७८. दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः, अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्। 'ब्रसूशांभा', २. १. ६.

७९. 'तन्त्रावि', ९. ४२, और भी द्र०–'ईप्रवि', २. ४. ११.

शांकर दृष्टि के प्रमुख पक्ष

शंकराचार्य कारण से कार्य को विलक्षण भी मानते हैं और अनन्य भी। कारण ही सत् है, चिन्मात्र है और कार्य इससे विपरीत मिथ्या और जड़ है। इस मान्यता की स्थापना के निम्न बिन्दु हैं—

(i) कारण और कार्य की अनन्यता से आशय यह है कि कार्य तो कारण स्वरूप है किन्तु कारण कार्य-स्वरूप नहीं है।[८०]

(ii) कार्य की कारण से उक्तरूप अनन्यता को लौकिक उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे भूमि गन्ध से अभिन्न स्वरूप होते हुए भी गन्ध नहीं होती। समुद्र और उसके फेनतरंगादि समुद्र से भिन्न होते हुए भी उनमें अभेद है।[८१]

(iii) अनन्यत्व का आशय यह नहीं कि कारण अपने एकत्व रूप में कारण है और नानारूप में कार्य। समुद्र रूप में समुद्र एक हो और फेनादि रूप में अनेक यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि एकत्व ही सत्य है नानात्व नहीं। प्रकृति मात्र की सत्यता है, वही अद्वैत तत्त्व है। नानात्व मिथ्या है।[८२]

(iv) पारमार्थिक दृष्टि से ही कार्य और कारण में उक्त रूप अनन्यता है। व्यवहार की दृष्टि से कारण और कार्य अनन्य नहीं, भिन्न हैं।[८३]

(v) कार्य इसलिये भी कारण से अनन्य है कि जिस कारण के रहने पर जो कार्य उपलब्ध होता है उस कारण के न रहने पर वह कार्य उपलब्ध नहीं होता, जैसे तन्तुओं के संस्थान रचना विशेषरूप पट, तन्तु के बिना या उससे भिन्न रूप में उपलब्ध नहीं होता अथवा तिल के रहने पर ही तेल उपलब्ध होता है। सिकता में तेल नहीं है, अतः वह उपलब्ध नहीं होता।[८४]

(vi) लोक व्यवहार में भी घट इच्छा वाले मिट्टी को ही ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं। इस युक्ति से भी कार्य का कारण से अनन्यत्व सिद्ध होता है।[८५]

(vii) कारण और कार्य में अश्व-महिष की तरह भेद नहीं है।[८६]

(viii) कारण जिस प्रकार तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, सदैव सत् ही रहता है, उसी प्रकार कार्य भी त्रिकाल में सत्ता से व्यभि-

८० ब्रसूशांभा, २. १. ६.
८१. वही, २. १ १३.
८२. वही, २. १ १४.
८३. वही, २. १. १४.
८४. वही, २. १. १५.
८५. वही, २. १ १८.
८६. वही, २. १. १८.

चरित नहीं होता। सत्ता की दृष्टि से कार्य कारण से अभिन्न है, अनन्य है।[८७]

(ix) सत्ता की दृष्टि से कार्य विशेष और कारण विशेष में ही नहीं अपितु सभी कार्य और कारण में अनन्यता है। दूसरे शब्दों में, समस्त सत् कार्यों का एक ही कारण परम सत्य ब्रह्म है।[८८]

(x) कार्य की कारण से उक्त रूप अनन्यता का एक प्रमाण है - श्रुति। शंकर 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्', 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि शब्द प्रमाणों के द्वारा भी इनमें अनन्यता सिद्ध करते हैं।[८९]

शैव-दृष्टि

काशैद में भी कारण और कार्य में अनन्यता मानी गई है, परन्तु इस अनन्यता का स्वरूप शांकर मत से कुछ भिन्न है। वस्तुतः इस मतानुसार कारण और कार्य में नित्य समन्वय है। अतः अनन्यत्व के स्थान पर समन्वय शब्द से इस मत का दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट प्रतिपादित किया जा सकता है। सोमानन्द कारण-कार्य में ऐक्य की व्याख्या करने के लिये शंकर की ही भांति समुद्र एवं फेन-तरंगादि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे अम्बुधि और उसकी तरंगों में ऐक्य होते हुए भी व्यवहारदृशा भेद किया जाता है, उसी प्रकार इस विश्व के कारण शिव और कार्य जगत् में ऐक्य है। व्यवहार में तरंग के रूप में दीखने वाला जल, जल नहीं अपितु तरंग ही कहा जाता है, परन्तु उस तरंग रूप में जलता का विनाश नहीं हुआ है, क्योंकि निश्चल और चंचल तरंग रूप में जलत्व से अभिन्नता है। तरंग के जल को भले ही तरंगत्व-विशिष्ट मान लिया जाए तब भी उसके जलता के स्वरूप की कोई हानि नहीं होती।[९०]

तुलनात्मक विवेचन

इस प्रकार शंकर जहाँ समुद्र-फेनादि के उदाहरण से जल मात्र को सत् सिद्ध करते हैं और फेनतरंगादि को मिथ्या अथवा व्यवहार मात्र, वहाँ काशैद समुद्र और वीची में जलता के साम्य के कारण व्यवहार रूप में प्रतीत हो रही वीची को भी जलता से युक्त तद्वत् ही सिद्ध करता है। दूसरे शब्दों में, शांकर मतानुसार फेन-तरंगादि समुद्र-रूप है, समुद्र तरंगादि-रूप नहीं और काशैद के मत में दोनों में जलता समान है।

यहाँ दोनों मतों में भेद यह है कि शंकर जल रूप कारण को ही सत्य मानते हैं और फेन-तरंगादि को मिथ्या कहते हैं वहाँ काशैद फेन-तरंगादि में भी जलता

८७. 'ब्रसूशांभा', २. १. १६.
८८. वही, २. १. १६.
८९. वही, २. १. १८.
९०. 'शिदृ', ३. ३८.-३६.

की अविच्छिन्न प्रतीति के कारण उन्हें भी जल से अभिन्न और सत्य मानता है। काशैद में कारण रूप में समुद्र की एकता और कार्य फेनादि रूप में अनेकता दोनों इसलिये सत्य हैं कि वे सत् का ही, उसी में आभास हैं। चिद्रूप कारण का यही जड़ादि से वैशिष्ट्य है कि वह अनेक और भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करने में समर्थ है, स्वतन्त्र है। अतः उसके इस स्वातन्त्र्य के कारण उसका नानात्व भी सत्य ही है। परन्तु यह स्मरणीय है कि यह नानात्व उसी में एकात्मना रहता है जैसे वीची आदि समुद्र में।

शंकर और सोमानन्द परमार्थदृशा कारण-कार्य में कुछ भिन्नता के साथ उक्त रूप अनन्यता को स्वीकार करते हैं परन्तु इस बिन्दु पर दोनों में पूर्ण सहमति है कि व्यावहारिक दृष्टि से कारण-कार्य भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं एवं कारण-कार्य का भेद पारमार्थिक नहीं है। दोनों ही के मत में शास्त्र कारण-कार्य के व्यावहारिक भेद का ही प्रतिपादन करने वाले हैं।

काशैद शंकर की इस युक्ति से सहमत नहीं कि कारण और कार्य में इसलिये अनन्यता है कि जिस कारण के रहते जो कार्य उपलब्ध होता है, उस कारण के न रहते वह कार्य उपलब्ध नहीं होता। काशैद की युक्ति है कि यह तभी सम्भव है जब कार्य को कारण में माना जाए। घट का इच्छुक मिट्टी का तभी ग्रहण कर सकेगा। सिकता में तेल नहीं है, अतः उससे प्राप्त नहीं किया जा सकता। परन्तु अद्वैत वेदान्ती कार्य को कारण में न मानकर स्वयं अपनी ही युक्ति को असिद्ध कर रहे हैं। वे मात्र कारण को सत् मानकर सत्कारणवाद की स्थापना करते हैं परन्तु उसमें निश्चित कारण से कार्य की व्यवस्था सम्भव नहीं। यह तभी सम्भव है जब कार्य को कारण में सत्य माना जाये। तभी शंकर की इस युक्ति का औचित्य है कि कार्य-विशेष की अभिलाषा वाला पुरुष कारण विशेष की ओर ही उन्मुख होता है।

शांकर मत और काशैद में इस बिन्दु पर पूर्ण सहमति है कि परमार्थ-दृशा सभी का कारण शिव है, एक परम तत्त्व है। परन्तु परमतत्त्व के स्वरूप में दोनों मतों में सूक्ष्म भेद है। यहाँ कारणवाद के प्रसंग में परम कर्ता शिव उन समस्त कार्यों को अपने में समन्वित किये हुए स्थित है जिन्हें वह अपनी स्वतन्त्र क्रिया शक्ति के द्वारा कालान्तर में आभासित करेगा। गान्धिक[६१] अनन्त-गन्धद्रव्यसौगन्ध को धारण करता है। शांकर मत में कार्यप्रपंच जगत् ब्रह्म में विद्यमान नहीं, अतः वह उसका विवर्त है, मिथ्या है।

समालोचना एवं निष्कर्ष

काशैद और अद्वैत वेदान्त के कारणवाद के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन के

६१. द्र०—'शिदृवृ', ३ ८५.

निष्कर्ष रूप में दो भेदक बिन्दु स्पष्ट हैं । अद्वैत वेदान्त कार्य को कारण से विलक्षण और मिथ्या मानता है तथा कारण में कार्य की सत्ता का परमार्थदृशा निषेध करता है । परन्तु काशैद कारण से कार्य को विलक्षण और मिथ्या नहीं मानता तथा कारण में प्रत्येक स्तर पर कार्य की सत्ता को स्वीकार करता है ।

जहाँ तक कारण-कार्य में विलक्षणता का प्रश्न है, शंकर कारण को चित् एवं कार्य को अचित् मानते हैं । इसलिये कारण से कार्य विलक्षण भी है और कार्य की सत्ता भी कारण में नहीं । कारण और कार्य अर्थात् चित् एवं अचित् स्वरूपतः भिन्न-स्वभाव के हैं, अतः चित् में अचित् को कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि तब चित् का स्वरूप शुद्ध नहीं रह सकता । इसी कारण शंकर कार्य की सत्ता का कारण में, परमार्थदृशा निषेध करते हैं । दूसरी दृष्टि से देखने पर शांकर मत में जो चित् है वही सत् है तथा जो अचित् है वह असत् अर्थात् चित् होने के कारण ही सत् है, अचित् कार्य मिथ्या है, असत् है । काशैद भी अचित् को असत् मानता है परन्तु उसके मत में कार्य अचित् नहीं, अतः वह असत् भी नहीं । इस दृष्टिकोण की स्पष्ट मान्यता है कि जो असत् है वह परमार्थतः और व्यवहारतः असत् ही है । शांकर मत की भाँति उसने स्वयं के मत को इस दुरंगी नीति से बचाने का प्रयास किया है कि अचित् परमार्थतः तो असत् है किन्तु व्यवहारतः सत् है ।

यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जब अद्वैतवादी शंकर चित् की शुद्धता की रक्षा के लिये अचित् को उससे सदैव परे ही रखते हैं और किसी भी तरह उसे अचित् का स्पर्श नहीं होने देते, इसीलिये अचित् को मिथ्या मानते हैं तब काशैद इसके विपरीत मत मानकर अपने अद्वैत की रक्षा कैसे करता है ? काशैद के दार्शनिकों ने इस विषमता एवं असंगति से अपने मत को बचाने के लिए सर्वप्रथम यह मान्यता प्रस्तुत की कि कार्य अचित् है ही नहीं, वह भी चित् है अर्थात् कारणरूप है । कार्य भी जब चेतन ही है तब उसके असत् होने का प्रश्न ही नहीं उठता तथा दूसरी ओर चेतन कार्य की चिद्रूप कारण में पूर्व सत्ता मान लेने से कारण का स्वरूप या शुद्धता दूषित नहीं होती क्योंकि अपने स्वरूप के सदृश वस्तु जब उसी में मिलती है तो वह उसे दूषित नहीं करती ।

कार्य को व्यावहारिक रूप में सत् मानने तथा परमार्थरूप में असत् मानने से अद्वैत वेदान्त का अद्वैत निश्चित रूप से बाधक होता है । एक स्तर पर एक वस्तु को सत्य मानना तथा दूसरे स्तर पर उसको सर्वथा असत्य मानने में यह बात साफ है कि असत्य पूर्णतया असत्य नहीं । शंकर कार्य को शशशृंगादि की तरह असत् मान नहीं सकते, मानते भी नहीं, न ही उसे ब्रह्म की तरह सत् कहते हैं । तब उनके मत में यह कठिनाई बनी ही रहती है कि कार्य कारण में है या नहीं । यदि कार्य

कारण में है तो किसी भी काल में उसके न होने का प्रश्न नहीं उठता और यदि नहीं है तो व्यवहारार्थ भी वह कहाँ से और क्यों आया ? उत्तर दिया जाता है कि उसकी प्रतीति अनादि है। अनादि माया के कारण ऐसी प्रतीति होती है। माया अनिर्वचनीय है। परन्तु इस प्रकार के उत्तर काशँद के दार्शनिकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाते तथा वे माया के अनादित्व, अनिर्वचनीयत्व का युक्तिपूर्ण खण्डन करते हैं। उनमें मिथ्यात्व की यह व्याख्या उचित नहीं प्रतीति होती कि जो वस्तु न सत्य हो न असत्य उसे मिथ्या कहा जाता है क्योंकि यह कथन परस्पर विरोध से पूर्ण है।

अद्वैत वेदान्त और काशँद के कारणवाद का यह विश्लेषण एक दृष्टिकोण से किया गया। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण कुछ इस प्रकार का है कि उसमें कारणवाद की समस्या की चर्चा का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं। कहा जा सकता है कि इस मत में कारणवाद की चर्चा को समाप्त-प्राय करने (या उड़ाने) का ही प्रयत्न अधिक है (यह स्वयं इस मत के अनुकूल भी है)। ब्रह्म और जगत् में कार्यकारणभाव नहीं है और ब्रह्म के अतिरिक्त इसमें कुछ भी सत्य नहीं। लौकिक स्तर पर फिर भी कारणवाद की जो स्थिति दीखती है, उसकी व्याख्या के लिए यह सांख्य के परिणामवाद का समर्थन करता है। अतः व्यावहारिक स्तर पर सांख्य का सत्कार्यवाद एवं पारमार्थिक स्तर पर विवर्तवाद ही अद्वैत वेदान्त का कारणवाद स्थिर होता है। यह द्विविध स्थिति उसके सिद्धान्त की एकरूपता के लिए वाधक है तथा उसे दुर्बल बनाती है। काशँद का, इसके विपरीत यह वैशिष्ट्य है कि वह दोनों ही स्तर पर कर्तृकर्मभावरूप कारणवाद की स्थापना करता है और अपने मत को अधिकाधिक निर्दुष्ट बनाने का सफल प्रयास करता है।

दूसरे शब्दों में, शांकर मत जब कारण-कार्यभाव को परमार्थतः मानता ही नहीं तब उसे सत्कारण या सत्कार्यवाद कहने का कोई औचित्य नहीं क्योंकि इस मत में वस्तुतः न कोई कारण है न कोई कार्य। किन्तु काशँद कार्य को कारण में ही समन्वित मानकर, द्वैत का निषेध नहीं, उसे स्वीकार करके निषेधवाद के स्थान पर समन्वयवाद तथा सत्कारणवाद के स्थान पर सत्कार्यकारणवाद की स्थापना करता है।

शंकर [६२] ने चेतन-अचेतन की विलक्षणता को प्रमुख रूप से तीन कारणों से स्वीकार किया है। (१) लोक में यह भेद प्रचलित है। (२) समस्त वस्तुओं का चेतनत्व अज्ञात है। (३) श्रुति से जगत् के चेतनत्व की कल्पना की जाती है परन्तु उसकी विरोधी उक्तियाँ भी मिलती हैं।

काशँद जगत् को चेतन मानते हुए उपर्युक्त बिन्दुओं पर कहता है–(१) लोक-

६२. द्र०–'ब्रसूशांभा', २. १. ४.

व्यवहार में प्रचलित चेतन-अचेतन का व्यवहार औपचारिक है, वास्तविक नहीं। (२) सभी वस्तुओं का चेतनत्व अज्ञात नहीं क्योंकि वृक्ष का बढ़ना, वायु का बहना आदि क्रियाएं उनकी चेतनता को ही पुष्ट करती हैं, क्योंकि जहाँ क्रिया है वहाँ इच्छा और ज्ञान भी अवश्यमेव है। ज्ञान-क्रिया ही चेतनता का लक्षण है अतः सबकी चेतनता सिद्ध है। (३) श्रुति प्रमाण से जगत् अचेतन और चेतन दोनों ही जब सिद्ध किया जा सकता है तब जगत् को अचेतन सिद्ध करने वाली उक्ति ही क्यों मानी जाए ? अर्थात् परस्पर विरोधी उक्तियों से किस श्रुति को प्रमाण माना जाए यह नया प्रश्न उत्पन्न होगा। साथ ही श्रुतियाँ तो भेद का, द्वैत का भी समर्थन करती हैं। शंकर स्वयं शास्त्र अथवा वेदान्त वाक्य को भेदवाद का उपदेशक मानते हुए भी अभेदवाद को सिद्ध करते हैं। काशैद का भी शास्त्र की भेदवादिता के बारे में यही दृष्टिकोण है। अतः श्रुति का प्रमाण चेतन-अचेतन के प्रसंग में विशेष महत्त्व इसलिये नहीं रखता क्योंकि श्रुतियाँ विरोध पूर्ण मत भी प्रस्तुत करती हैं तथा स्वयं शंकर श्रुतियों में प्रतिपादित भेद के पक्ष को त्याग कर अभेद की प्रस्थापना करके स्वयं श्रुति का दूसरा पक्ष लेते हैं। अतः यहाँ भी क्यों न चेतन का ही पक्ष स्वीकारा जाए।

काशैद कारण-कार्य में विलक्षणता नहीं मानता। उसके मतानुसार कार्य भी चेतन है। वह विश्व को चेतन और शिवमय मानता है। शंकर ने ब्र० सू० (२. १. ४) की व्याख्या में कार्य जगत् को चेतन मानने के मत पर विचार करते हुए लिखा है कि जो मत श्रुति के आधार पर जगत् का कारण चेतन मानते हुए कार्य जगत् को भी चेतन सिद्ध करना चाहता है तथा चैतन्य की न्यूनाधिक अभिव्यक्ति के आधार पर जड़-चेतन की लौकिक व्यवस्था की व्याख्या करता है उस मत से चेतन-अचेतन की विलक्षणता का तो निवारण हो सकता है परन्तु शुद्धता-अशुद्धता रूप विलक्षणता की व्याख्या नहीं हो सकती। अर्थात् शंकर जगत् या कार्य को चेतन मानने के मत का पूर्ण विरोध नहीं करते अपितु उस मत को मानने में मात्र यह कठिनाई बताते हैं कि इससे चेतन कारण शुद्ध है और चेतन कार्य ही अशुद्ध है, इस भेद की व्याख्या नहीं होती।

काशैद ने अपने मत में शंकर की इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है। इस प्रयास के दो पक्ष हैं। एक यह कि कारण केवल शुद्ध चित् ही नहीं अपितु चिद्रूप है अर्थात् चिति शक्ति से सम्पन्न कर्ता कारण है। दूसरा यह कि कर्तृ रूप कारण की अभिन्न चिति शक्ति स्वतन्त्र है। यह उस चिति शक्ति का स्वातन्त्र्य ही है कि वह स्वयं को परिछिन्न (अशुद्ध कदापि नहीं) कार्य रूप में आभासित करे। अतः शंकर द्वारा उल्लिखित शुद्धता-अशुद्धता की कठिनाई का हल काशैद ने कर्तृ रूप कारण में अविछिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति मानकर ढूंढ़ लिया है।

तृतीय परिच्छेद

सम्बन्ध-सिद्धान्त

१. सम्बन्ध : एक व्यापक समस्या

२. काश्मीरीय शैव मत

३. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

१

सम्बन्ध : एक व्यापक समस्या

सम्बन्ध की समस्या एक व्यापक समस्या है। इसे देखने और इसकी व्याख्या करने के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। वस्तुओं के बहुत्व को मानने वाले मत अनेक वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध का विचार करते हैं तो आत्मवादी तथा अद्वैतवादी मत वस्तुओं के बहुत्व और उनमें परस्पर सम्बन्ध को नकारते हैं अथवा उसकी पारमार्थिक सत्यता का निषेध करते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से इसके प्रकारों को देखें तो एक वस्तु से दूसरी वस्तु का, धर्म से धर्मी का, कर्ता से क्रिया का, जाति से व्यक्ति का, कारण से कार्य, जड़ से अजड़, शब्द से अर्थ, आत्मा से परमात्मा, परमात्मा और जगत्, वस्तु और देश-काल का परस्पर क्या सम्बन्ध है, आदि बिन्दु इसकी सीमा में परिगणित होते हैं।

उत्पल के अनुसार अष्टविध सम्बन्ध

व्यवस्था और स्पष्टता के लिये काशैद के दार्शनिक उत्पलाचार्य द्वारा प्रस्तुत इसके प्रकारों को देखना लाभदायक होगा जिन प्रकारों को अपने दर्शन की सुविधा और सामान्य वर्गीकरण की दृष्टि से उसने रखा है—

१. पिता-पुत्र में पितृपुत्रभाव।
२. राजा का पुरुष में स्वस्वामिभाव।
३. वृक्ष की शाखा में अवयवावयविभाव।
४. धव और खदिर में इतरेतर योग।
५. नील उत्पल में विशेषण-विशेष्यभाव।
६. "देवदत्त लकड़ी से थाली में ओदन पकाता है" में क्रियाकारक भाव।
७. घट और अभाव में अभाव-सम्बन्ध।
८. "यह इससे भिन्न है"–में भेदरूप सम्बन्ध।

यही नहीं, पुत्र से पिता, पुरुष से राजा की तरह उपर्युक्त उदाहरणों में विपरीत रूप में भी ये सम्बन्ध देखे जा सकते हैं।[1]

सम्बन्ध-विचार के मुख्य पक्ष

सम्बन्ध के विचार में महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख भूमिका निभाने वाला एक

---

१. तत्रायं सम्बन्धो अनेकधा प्रतीयते, पितुः पुत्रः, राज्ञः पुरुषः, वृक्षस्य शाखा, धवश्च खदिरश्च, नीलमुत्पलं, देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति, घटस्याभावः, अस्मादिदमन्यत्, इत्येवमादिरूपेण। तथा विपर्ययेणापि पुत्रस्य पिता, पुरुषस्य राजेति। 'संसि', पृ० ३.

पक्ष वस्तु का स्वरूप होता है अर्थात् कोई दर्शन वस्तु और उसकी सत्यता का क्या स्वरूप मानता है, इस पर सम्बन्ध की समस्या और उसके विवेचन का दृष्टिकोण निर्भर करता है। जिस मत में बाह्य वस्तु या पदार्थ सत्य है उस मत में सम्बन्ध भी सत्य हो, यह स्वाभाविक है, इसी प्रकार जो मत आत्मवादी हैं एवं बाह्य पदार्थों को असत्य मानता है वह इसे भी असत्य माने, यह आवश्यक हो जाता है।

सम्बन्ध के विचार का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रमाता है। प्रमाता ही वस्तु का ज्ञान करता है। अतः सम्बन्ध की सत्यता-असत्यता और स्वरूप का निर्णय भी वही करता है, फलतः प्रमाता का स्वभाव, उसकी मर्यादा और उसका स्वरूप भी किसी न किसी रूप में सम्बन्ध के विचार से संयुक्त हैं, अब यह बात भिन्न है कि कोई दर्शन-विशेष सम्बन्ध के विचार में प्रमाता को कितना महत्त्व या स्थान देता है।

सम्बन्ध का समन्वय स्वरूप

इस प्रकार मोटे रूप में, सम्बन्ध को सत्य और असत्य मानने वाले दो वर्ग हैं। दोनों ही वर्ग इसे व्यावहारिक सत्य मानते हैं। दूसरी बात यह कि दोनों ही वर्ग उसके सामान्य लक्षण में एक बात अवश्य मानते हैं कि वह द्विष्ठ होता है अर्थात् दो में रहता है। इसके अन्य पर्यायों—संश्लेष, संसर्ग, संयोग, समवाय, समन्वय आदि से भी यही ध्वनि निकलती है। पाश्चात्य दार्शनिक मेक्गर्ट[२] के विचार में यह आवश्यक नहीं कि सम्बन्ध दो में रहे—वह एक या दो से अधिक में भी रह सकता है। परन्तु काशँद सहित सभी भारतीय दर्शन यही मानते हैं कि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। काशँद तो स्पष्ट ही कहता है कि अनेक के रहने पर भी उन्हें दो वर्गों या इकाइयों में विभक्त करके ही सम्बन्ध माना जायेगा। जैसे राजा के गज, अश्व, पदाति, रथ के सम्बन्ध में राजा एक इकाई है और गजादि सभी दूसरी। वैसे, एक और दो से अधिक में भी सम्बन्ध हो सकता है – यह विचार प्रकट करने के बावजूद आगे स्वयं मेक्गर्ट भी कहते हैं कि फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि सम्बन्ध में चाहे एक ही वस्तु हो, परन्तु स्वयं उसी वस्तु में किसी न किसी रूप में बहुत्व होगा तभी न किसी का किसी से सम्बन्ध होगा। यदि वस्तु एक ही हुई तो सम्बन्ध का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होगा।[३]

सम्बन्धों के प्रकार के व्याख्यान के प्रसंग में देखा गया कि सम्बन्ध के कई

२. Relations can have more than two terms as when A, B, and C are equal. And again, it is possible for a relation to have only one term, at any rate in the ordinary sense of the word have a relation to itself. F. Mctaggart, *The Nature of Existence*, I, p. 73.

३. द्र० वही.

प्रकार हो सकते हैं। इसे देखने के अनेक दृष्टिकोण हैं। परन्तु सम्बन्ध के सही रूप को समझने के लिये आवश्यक है कि विविध प्रकारों में से उसके सामान्य लक्षण या स्वरूप को समझा जाए। सम्बन्ध का सामान्य स्वरूप ही उसका सही स्वरूप है जो सभी प्रकारों में विद्यमान रहता है।

न्याय-वैशेषिक-मत

वस्तुवादी न्याय-वैशेषिक भी अन्य प्रमेयों की भांति सम्बन्ध को सत्य मानते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रमेय की तरह सम्बन्ध का भी ग्रहण करती हैं। सम्बन्ध की सत्यता के विषय में इनकी प्रमुख युक्ति यह है कि यदि दो वस्तुओं में वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो तो हम एक के आधार पर दूसरी वस्तु की उपस्थिति का अनुमान नहीं कर सकते। धूम और अग्नि में सम्बन्ध है तभी धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो जल से भी धूम या अग्नि का ज्ञान हो सकता था। उद्योतकर के अनुसार लक्षण से उस विषय के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रिय का पहला काम है जिससे अनुमान की क्रिया आगे बढ़ती है। अतः सम्बन्ध और उस पर आधारित सत्य समान रूप से वास्तविक हैं और ज्ञानेन्द्रिय के विषय हैं।[४] तर्कभाषा के अनुसार सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न, उभय-आश्रित और एक होता है।[५]

इस प्रकार सम्बन्ध की सत्ता को सिद्ध करने के उपरान्त उसके दो प्रकार[६] बताए जाते हैं—संयोग एवं समवाय। संयोग और समवाय में महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि संयोग में दो सम्बन्धी भिन्न किये जा सकते हैं और उनका अलग-अलग रूप में ज्ञान हो सकता है। परन्तु समवाय में वे अलग नहीं किये जा सकते। इसीलिए दो अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। इस भेद के बावजूद भी न्याय-वैशेषिक दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों को बाह्य मानता है क्योंकि जो सम्बन्धी इसमें जुड़े हैं वे समान रूप से सम्बन्ध से भिन्न हैं।[७] हिरियन्ना के विचार में सम्बन्ध का यह स्वरूप एकत्व का संश्लेष या बन्धन होने के स्थान पर भेद का संकेत ही अधिक है।[८]

---

४. 'न्यायवार्तिक', ४. १. ६०.

५. द्र०-'तर्कभाषा', पृ० १२२.

६. यद्यपि विभाग, परत्व, अपरत्व आदि सम्बन्ध के प्रकार अनेक हैं तथापि 'न्यायकोश' के अनुसार उनमें प्रमुख दो ही हैं- ......तत्र संयोगसमवायावेव मुख्यौ। तदभिन्ना गौणाः।
और भी द्र०-Hiriyanna, *Indian Philosophical Studies*, p. 107.

७. वही, पृ० १०८-११०,
और भी द्र०-Hiriyanna, *Popular Essays in Indian Philosophy*, p. 102.

८. '... ..To put it briefly, relation as conceived here, is not a bond of 'Unity, It is rather a sign of difference." वही.

सम्बन्ध और गुण में एक तात्त्विक भेद यह है कि गुण एक में रहता है और किसी गुणी का होता है परन्तु सम्बन्ध किसी का नहीं होता अपितु दो के बीच रहता है अर्थात् द्विष्ठ होता है। मेक्गर्ट के विचार में सम्बन्ध और गुण एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकते।[९]

९. Relations, then cannot be replaced by qualities, qualities cannot be replaced by relations. *The Nature of Existence*, Vol. I, p. 83-84.

२

काश्मीरीय शैव मत

भेदाभेद ही सम्बन्ध

परम शिव के विमर्श पक्ष में अनन्त शक्तियों का सामरस्य है। उनमें प्रमुख हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। शिव की क्रिया अथवा निर्माण शक्ति से ही इस जगत् का आभासन होता है। क्रिया शक्ति के तीन पक्ष अथवा नियम हैं—(१) भेदाभेद, (२) मान-तत्फल-मेय (३) कार्यकारण। इन तीनों में से भेदाभेद ही सर्व प्रमुख पक्ष है जो शेष दो में भी व्याप्त रहता है। भेदाभेद का नियम ही इस दर्शन में सम्बन्ध का सिद्धान्त है। इन तीनों पक्षों से सम्पन्न क्रिया-शक्ति के कारण ही लोक-व्यवहार चलता है।[१०]

सम्बन्ध की सत्यता

शिव की निर्माण शक्ति सत्य है और उसके द्वारा निर्मित जगत्-घटपटादि भी सत्य हैं। इसी तरह भेदाभेद या सम्बन्ध का नियम भी सत्य है क्योंकि यह भी उसी परमेश की स्वतन्त्र इच्छा का आभास है। परन्तु सम्बन्ध की सत्ता घट-पटादि की भाँति बाह्य नहीं। वह अनुभविता की अनुभूति मे सत्य है। सम्बन्ध की सत्ता अनुभविता के स्वातन्त्र्य स्वभाव में है। इसके आन्तरिक अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका अनुभव सभी के द्वारा सभी देश-कालों में किया जाता है। अतः इसे किसी भी तरह भ्रान्ति नहीं माना जा सकता।[११] दूसरे शब्दों में परमार्थ-दृशा सम्बन्ध की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के विषय में, उसके स्वरूप के विषय में मत-भेद सम्भव है, परन्तु दैनिक व्यवहार में सम्बन्ध की सत्ता और महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार लोक-व्यवहार सत्य है, उपयोगी है उसी प्रकार सम्बन्ध भी लोक-व्यवहार में सत्य और उपयोगी है। अभिनवगुप्त इसे व्यावहारिक जीवन का मर्म मानते हैं।[१२]

दो प्रमुख भेद

काशैद की मान्यता के अनुसार सम्बन्ध कई प्रकार के हैं। पितृपुत्रभावादि-रूप सम्बन्धों का उल्लेख पूर्व-पृष्ठों में किया जा चुका है। परन्तु प्रमुखतः इनके दो

---

१०. भेदाभेदात्मसम्बन्धसहसर्वार्थसाधिता।
लोकयात्राकृतिर्यस्य... ॥ 'संसि', १.

११. द्र०-'ईप्रवि', २ २. ७.

१२. सकललोकयात्रानुप्राणितकल्पानल्पसम्बन्धबन्धुरीभावम्...वही.

प्रकारों का उल्लेख किया गया है—कार्य-कारणभाव एवं ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव।[१३] ज्ञाप्यज्ञापकरूप सम्बन्ध पर ही मानमेयादि की चर्चा निर्भर करती है। कार्यकारण-सम्बन्ध से आशय है कर्तृकर्मभावरूप सम्बन्ध। इस प्रकार पर पूर्व अध्याय में विचार किया जा चुका है। इन दो के अतिरिक्त इस मत में अपेक्षा[१४] एवं अनुग्रह[१५] भी एक प्रकार के सम्बन्ध हैं। कारणवाद के ही अन्तर्गत अपेक्षा पर विचार किया जा चुका है। सम्बन्ध के ये प्रकार न्यायादि मत से भिन्न हैं। भास्कर के कथनानुसार न्यायादि-सम्मत संयोग-समवाय का व्यवहार में वैसा उपयोग नहीं होता इसलिये इनके प्रकारों को काशैद में इस रूप में नहीं माना गया है।[१६]

प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि काशैद में सम्बन्ध की सत्यता एवं प्रकारों की समस्त चर्चा का आधार परम शिव का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। जगत् एवं शिव में कर्तृकर्मभावरूप सम्बन्ध है, इसीलिये अन्य सभी सम्बन्धों को कार्यकारणभाव (कर्तृ-कर्मभाव) में लीन माना गया है।[१७] साथ ही कर्ता, क्रिया एव कर्म जब सत्य है तो इनमें रहने वाला अतीव दुर्घट[१८] सम्बन्ध भी सत्य है।

सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप-निर्धारण का प्रथम बिन्दु यह है कि वह द्विष्ठ होता है। अनेक वस्तुओं के रहने पर भी उन्हें दो वर्गों में विभक्त करके सम्बन्ध माना जाता है जैसे राजा और हस्ति, रथ, अश्वादि। इसमें राजा का एक वर्ग है तथा हस्ति आदि का दूसरा। अतः सम्बन्ध अनेक में नहीं अपितु अनेक के होने पर भी दो में ही होता है।[१९] काशैद के इस विचार का आधार यह है कि वह वस्तुओं के एकत्व और अनेकत्व को स्वयं वस्तुओं पर नहीं, अपितु प्रमाता या ज्ञाता पर निर्भर मानता है।

पूर्वापरकालीन वस्तुओं में सम्बन्ध

सम्बन्ध को व्यापक आधार प्रदान करने की दृष्टि से काशैद मानता है कि सम्बन्ध केवल दो समकालीन बाह्य वस्तुओं में ही नहीं होता अपितु पूर्वकालीन एवं परकालीन दो वस्तुओं में अथवा एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं में भी हो सकता है।[२०] बीज अंकुर का पूर्ववर्ती है तथा अंकुर बीज का पश्चात्वर्ती है तथापि

१३. तच्च द्विविधमेव परमार्थतः ज्ञाप्यज्ञापकता कार्यकारणता च,...। 'ईप्रवि', २. ३. १.
१४. द्र०- संसि', १, और भी द्र०-वही, पृ० २.
१५. स (अनुग्रहः) चायं द्वितीयः कार्यकारणभावो...। 'ईप्रवि', १. १. १.
१६. द्रष्टव्य...। 'भा', २. ३. १.
१७. कार्यकारणभाव एव सर्वे सम्बन्धाः... । 'मम', पृ० १३७.
१८. सम्बन्धोऽतीव दुर्घटः । 'ईप्रवि', १. १. १.
१९. द्र-'संसि'; पृ० ७.
२०. द्र०-Pandey, *Bhaskari*, I, p. viii.

इनमें सम्बन्ध है। परन्तु यदि सम्बन्ध को दो समकालीन वस्तुओं में ही माना जाएगा तब बीज एवं अंकुर में किसी सम्बन्ध की चर्चा नहीं हो सकेगी एवं उसका स्वरूप संकुचित हो जाएगा।

एकता अनेकता की सत्य अनुभूतियाँ

काशैद अनेकता में एकता अथवा भेदाभेद को क्रिया शक्ति का एक पक्ष मानता है। यह भेदाभेद एक सामान्य वर्ग है जिस पर न केवल सम्बन्ध, अपितु क्रिया, जाति, द्रव्य, दिक् और काल भी निर्भर करते हैं।[२१] अतः सम्बन्ध भेदाभेद-रूप सामान्यवर्ग का ही एक वर्ग-विशेष है। यद्यपि नैयायिक जैसे वस्तुवादी दर्शन कर्म, जाति आदि को सत्य मानते हैं, परन्तु काशैद में इस विचार का समर्थन नहीं किया गया है। इसमें सामान्य को व्यवहारमात्र कहा गया है,[२२] क्योंकि विषय आभास मात्र हैं। ये आभास परमेश अथवा संकुचित प्रमाता के परामर्श के कारण कभी मिश्रित कर दिये जाते हैं, तब इनकी विशेषरूपता होती है और कभी उनका अमिश्रित रूप में ही परामर्श होता है, तब वे सामान्य कहे जाते हैं।[२३]

काशैद लोक-व्यवहार के प्रसंग में एक सामान्य वर्ग मानता है भेदाभेद या अनेकता में एकता। जगत् की वाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में एकता और अनेकता दोनों ही अनुभूतियाँ सत्य हैं। एकता-अनेकता की यह अनुभूति विभिन्न विषयों में अथवा एक ही विषय की विभिन्न अवस्थाओं में भी हो सकती है। विषय स्वात्मनिष्ठ हैं, परस्पर स्वतन्त्र हैं और भेदपूर्ण स्वभाव के हैं। इस रूप में विषयों में अथवा एक ही विषय में अलग-अलग अवस्थाओं में बहुत्व स्पष्ट है। विषयों के इस बहुत्व का, उनकी भेदात्मकता का निषेध नहीं किया जा सकता। जहाँ तक एकता का प्रश्न है वह भी वस्तुओं का आन्तरिक सत्य है। अनेकता देश, काल और विषय-स्वभाव से सम्बद्ध होकर बाह्यरूप में आभासित होती है, परन्तु एकता बाहर नहीं, ज्ञाता के अन्दर रहती है। जब अनेक वस्तुएं एक साथ ज्ञाता में प्रतिबिम्बित होती हैं अथवा प्रमाता जब अनेक प्रमेयों का एक साथ ज्ञान करता है या उनके ज्ञानों को

२१. द्र०-'ईप्रवि', २. २. १.

२२. न हि सामान्यं नाम किंचित् एकम् अनेकगुणाश्रयं प्रकाशते, नापि उपपद्यते वा इति व्यक्तीनामेव व्यवहारः परिसमाप्तः किं सामान्येन। ...... इति व्यवहारमात्रमेतत्। 'पसावि', २७.

२३. इहाभासा एव तावदर्थाः ... ते च परामर्शैक्येन कदाचिन्मिश्रीक्रियन्ते यदा विशेषरूपता, कदाचिदमिश्रा एव परामृश्यन्ते यदा सामान्यरूपता। 'ईपवि', ४. १. ७.

मिलाता है तब उन्हें एक कहा जाता है। एकता-अनेकता का यह स्वरूप ही काशैद में सम्बन्ध की भूमिका का आधार है।[२४]

दूसरे शब्दों में काशैद के दार्शनिकों के अनुसार वस्तुओं का एकत्व और अनेकत्व दोनों ही सत्य हैं। प्रमाता से बाहर जब वस्तु आभासित होती है, वहिरिन्द्रिय-संवेद्य बनती है तब वह अनेकता का रूप धारण कर लेती है परन्तु वहिराभासन से पूर्व जब प्रमाता में विद्यमान रहती है अथवा बाहर आभासित होने के बाद जब वे पुनः प्रमाता में विलीन होती हैं तब उन्हें एक माना जाता है क्योंकि स्वात्मनिष्ठ विषय लीन होते समय न तो एक दूसरे में लीन होते हैं न ही उन्हें लीनावस्था में भी स्वतन्त्र अस्तित्व वाला माना जा सकता है। अतः निश्चय ही वे बहिराभासन से पूर्व जिस प्रमाता में एकत्वेन विद्यमान थे उसी में पुनः एकरूप में विलीन माने जाएंगे।[२५]

प्रमाता का स्वभाव ही विविध ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित करना है। उसके इस अनिवार्य, अविच्छिन्न स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव के कारण ही एकता की प्रक्रिया चलती है। वस्तुओं के ज्ञानों में एकत्व स्थापित करना ही नहीं अपितु वस्तुओं का उससे भिन्न रूप में तथा एक दूसरे से भिन्न रूप में ज्ञान करना भी उसका स्वभाव माना गया है। इसी प्रकार ज्ञान न करना भी उसकी ज्ञानशक्ति का स्वभाव है। वस्तुतः प्रमाता के ये स्वभाव काशैद में परस्पर विरोधी नहीं हैं, ये प्रमाता के स्वभाव में असंगतियाँ उत्पन्न नहीं करते अपितु उसके स्वातन्त्र्य स्वभाव को प्रकट करते हैं।

---

२४. स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा भावा एक प्रमातरि। 'ईप्रका', २. २. ४.
अन्योन्यावयवरूपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम् ॥
......एवं बहिरनेकता, अन्तस्तु परस्परूपश्लेषैरैक्यम्, इतिसम्बन्धस्य रूपम्।
'ईप्रवि', २. २. ४.

२५. द्र०-'ससि', पृ० ५-६.

३

बौद्ध मत एवं उसकी समालोचना

सम्बन्धों की काल्पनिकता : दिङ्नाद का मत

दिङ्नाद सम्बन्ध की सत्ता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सभी सम्बन्ध धर्मधर्मिभाव हैं और काल्पनिक हैं। उन्हें वास्तविक नहीं माना जा सकता। दो बाह्य वस्तुओं में जिस सम्बन्ध की बात कही जाती है वह हमारी कल्पना द्वारा निर्मित नियम मात्र है। वे अनिश्चित हैं और उनकी अपनी कहीं सत्ता नहीं है।[२६]

विनीतदेव का मत

बौद्ध नैयायिक विनीतदेव भी सम्बन्ध की सत्ता के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध की अभिव्यक्ति अथवा उन्हें एक दूसरे पर निर्भर कहना, एक दूसरे के द्वारा समर्थित कहना और एक दूसरे की इच्छा का विषय होना एक ही बात है—पर्याय है। सम्बन्ध मानस है, वास्तविक नहीं।[२७]

धर्मकीर्ति का मत एवं उसका वैलक्षण्य

यद्यपि बौद्ध दर्शन की अन्य शाखाओं एवं उनके अन्य अनेक दार्शनिकों ने सम्बन्ध की सत्ता पर विचार करके विविध युक्तियों से उसका खण्डन करने का प्रयास किया है तथापि समस्त बौद्ध दार्शनिकों में, सम्बन्ध के प्रसंग में धर्मकीर्ति का मत अग्रणी है। उन्होंने न केवल अपनी रचना **प्रमाणवार्तिक**[२८] में इसका विस्तार से विवेचन किया है अपितु **सम्बन्धपरीक्षा** नामक एक लघु पुस्तिका की भी स्वतन्त्र रचना की जिसमें सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप और विशेषतः कारण-कार्य सम्बन्ध का खण्डन किया गया है।[२९] परन्तु सम्बन्ध पर स्वतन्त्र पुस्तिका लिखने से या उसका विस्तृत विवेचन मात्र करने के कारण ही धर्मकीर्ति का यह महत्त्व नहीं। इसका सर्वाधिक प्रमुख कारण यह है कि धर्मकीर्ति ने किसी मतवाद के साँचे में या उसका आग्रह रखते हुए सम्बन्ध का खण्डन नहीं किया अपितु स्वतन्त्र रूप से, अत्यन्त तटस्थ

---

२६. द्र०–Tripathi, *Problem of Knowledge in Yogacara Buddhism*, p 224.

२७. द्र०–वही, पृ० २२५.

२८. 'प्रमाणवार्तिक', तृतीय परिच्छेद, ३२८-४०.

२९. द्र०–Ganguli, H. K., *Philosophy of Logical Construction*, p. 90.

भाव से तथा सिद्धान्तविशेष से निरपेक्ष रहकर सम्बन्ध के सिद्धान्त पर विचार किया है। दूसरे शब्दों में धर्मकीर्ति यद्यपि विज्ञानवादी हैं परन्तु सम्बन्ध के विषय में उनकी समालोचना विज्ञानवाद के दृष्टिकोण पर ही आधारित नहीं। इस प्रसंग में गांगुली की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है कि धर्मकीर्ति की युक्तियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि वे क्रमिक बहुत्ववादी को, चाहे वह आत्मवादी हो या वस्तुवादी अर्थात् आत्मा का बहुत्व मानने वाला मत हो या विषयों का बहुत्व मानने वाला मत हो, सभी को यह स्वीकार करने के लिये विवश कर देती हैं कि सत्ताओं में सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है।[३०]

सम्बन्धियों के पारतन्त्र्य का खण्डन एव स्वातन्त्र्य की स्थापना

सम्बन्ध की सत्ता का खण्डन करने के लिये धर्मकीर्ति की युक्तियों का सारांश इस प्रकार है—

सम्बन्ध का स्वभाव यह माना जाता है कि वह दो में रहता है। इससे अधिक सम्बन्ध का कहीं कोई स्वरूप या अस्तित्व नहीं।[३१]

सम्बन्ध में पारतन्त्र्य होता है। एक सम्बन्धी सम्बन्ध के लिये दूसरे सम्बन्धी पर निर्भर करता है या दूसरा पहले पर अथवा दोनों ही सम्बन्धी सम्बन्ध पर निर्भर करते हैं और सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों पर। अतः किसी भी दृष्टि से देखा जाये सम्बन्ध में परतन्त्रता अवश्य है। परन्तु धर्मकीर्ति कहते हैं कि यदि वस्तु या सम्बन्धी निष्पन्न हैं, अपने में सिद्ध हैं तो वे परतन्त्र नहीं हो सकते। वस्तुएं यदि स्वात्म-सिद्ध हैं तो वे स्वतन्त्र ही जन्म लेती हैं और तब उन्हें परतन्त्रता के बन्धन को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता?[३२] किन्तु यदि वे स्वात्म-सिद्ध नहीं हैं, वे निष्पन्न नहीं हैं तब वे शशविषाण की तरह असत् हैं और उनमें परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है। एक को सिद्ध और दूसरे सम्बन्धी को असिद्ध मानने से भी स्थिति नहीं सुधर सकती क्योंकि सम्बन्ध में कम से कम दो वस्तुओं का रहना आवश्यक है। गांगुली,[३३] धर्मकीर्ति की इस युक्ति के प्रवाह को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि ऐसा कहने में तो कोई औचित्य नहीं है कि सम्बन्ध वस्तुओं को सिद्ध बनाता है क्योंकि ऐसा मानने पर सम्बन्ध, पूर्व-सिद्ध और स्वात्म-

३०. वही, पृ० ८९–९०.

३१. द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोऽन्यत्तस्य लक्षणम्। 'सम्बन्धपरीक्षा', ११.

३२. पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ वही, १.

३३. Ganguli, H. K., *Philosophy of Logical Construction*, p. 90.

सिद्ध वस्तु के रूप में बदल जाता है और सम्बन्ध को पूर्वसिद्ध मानना मूर्खतापूर्ण होगा। न ही यह कहा जा सकता है कि वस्तु और सम्बन्ध एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ रहते और एक साथ नष्ट होते हैं।

धर्मकीर्ति के मत में सम्बन्ध में अन्तर्विरोध अवश्यम्भावी है। सम्बन्ध निश्चय रूप से दो में रहने वाला माना जाता है। परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि दोनों वस्तुएं एक दूसरे से स्वतन्त्र रहें अर्थात् वे दो सम्बन्धी पहले स्वात्मसिद्ध और स्वतन्त्र रहेंगे तभी सम्बन्धी बनेंगे। ऐसा न मानने पर वे एक बन जाएंगे और सम्बन्ध का निषेध करेंगे क्योंकि सम्बन्ध के लिये दो स्वतन्त्र और भिन्न सम्बन्धियों की आवश्यकता होती है। किन्तु यदि दो सम्बन्धी भिन्न नहीं अर्थात् एक हैं तब उनमें सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर इन स्वतन्त्र वस्तुओं का पारतंत्र्य मानना भी आवश्यक है क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि सम्बन्ध पारतन्त्र्य है। निष्कर्ष यह कि स्वतन्त्र वस्तुओं का पारतन्त्र सम्बन्ध होता है। ऐसा सम्बन्ध केवल दो वस्तुओं या सम्बन्धियों को सम्बद्ध ही नहीं करता अपितु उन्हें स्वतंत्र और भिन्न भी बनाता है।[३४] इस प्रकार सम्बन्ध मानने से पारतंत्र्य और स्वातंत्र्य रूप यह अन्तर्विरोध उत्थापित होता है। साथ ही एक बार यदि वस्तुओं को यह स्वातंत्र्य प्रदान कर दिया जाता है तब सम्बन्ध कोई वास्तविक सत्ता न रह कर वस्तुओं को देखने या उनका व्याख्यान करने का एक ढंग मात्र रह जाता है। दूसरे शब्दों में, सम्बन्ध रूपश्लेष है[३५] अर्थात् दो भिन्न पदार्थों में रहने वाला है। परन्तु वस्तु का स्वभाव अपने में रहने का होता है। अतः वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता रूपश्लष की विरोधी है।

सम्बन्ध को जब सत्य कहा जाता है तो इसका आशय क्या है? क्या सम्बन्ध सम्बन्धियों से बढ़कर या उनकी तरह सत्य है। उदाहरणार्थ एक और दो में सम्बन्ध की चर्चा में क्या सम्बन्ध तीसरा सत्य है? यदि यह अपने सम्बन्धियों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र सत्तावान् है तब इसको अपने अन्य सम्बन्धियों से जुड़ने में अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा होगी। साथ ही इस दूसरे सम्बन्ध का भी स्वतन्त्र अस्तित्व होगा तथा इसे अपने सम्बन्धियों से जुड़ने में अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा होगी। इस प्रकार यह क्रम अनन्त बना रहेगा। दूसरी ओर सम्बन्ध को स्वतन्त्र सत्तावान् मानने से अनवस्था दोष उत्पन्न होगा जो सम्बन्ध को स्वतन्त्र इकाई के रूप में भी असम्भव बना देगा। यदि सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से अभिन्न है तब उनसे भिन्न अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं। ऐसी स्थिति में उसे सत्य कहने का कोई औचित्य

३४ वही, पृ० ६१.

३५. रूपश्लेषो हि सम्बन्धो ... । 'सम्बन्धपरीक्षा', २.

नहीं।[३६] साथ ही ऐसा कहने से भी स्थिति नहीं सुधर सकती कि इस अर्थ में सम्बन्ध सत्य है, उस अर्थ में नहीं। क्योंकि सत्य सत्य ही होता है और उसमें यह या वह नहीं होता।[३७]

इस प्रकार शुद्ध बहुत्ववादी दृष्टिकोण से देखा जाए या एकत्ववादी, सभी तरह से सम्बन्ध की सिद्धि असम्भव है। अपने परमार्थरूप में या स्वतंत्र सत्ता के रूप में इसका कहीं कोई अस्तित्व नहीं। धर्मकीर्ति आन्तरिक और बाह्य सभी सम्बन्धों का प्रबल खण्डन करके उन्हें काल्पनिक व मन द्वारा आरोपित मात्र मानता है, वास्तविक नहीं।[३८]

शैव साहित्य में प्रस्तुत बौद्धों का पूर्वपक्ष

सम्बन्ध के प्रसंग में विविध बौद्ध दार्शनिकों के विचारों को स्वतंत्र रूप से देखने के उपरान्त काशैद के साहित्य में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत सम्बन्ध के स्वरूप को संक्षेप में देखना आवश्यक है। इस प्रस्तुतीकरण में काशैद-सम्मत सम्बन्ध की सत्ता एवं स्वरूप के प्रति विरोध का पुट भी है। तदनुसार बौद्ध मत सम्बन्ध की बाह्य सत्ता के विरोध में अपनी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कहता है कि सम्बन्ध का कहीं भी प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञान नहीं होता। मिट्टी और घट में (कर्तृकर्मभावरूप) कार्यकारणभाव-सम्बन्ध की बात कही जाती है। परंतु वस्तुतः मिट्टी ही स्तूपक, शिविका आदि के रूपों में होती हुई घट के रूप में दीखती है अर्थात् मिट्टी ही भिन्न-भिन्न देश, काल एवं आकार में घट के रूप में प्रत्यक्ष होती है। मिट्टी के ही विविध भावक्षणों के विविध देश, काल एवं आकार के अतिरिक्त मिट्टी एवं घट में अन्य किसी सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती। एक भाव-क्षण के बाद नियत क्रम से दूसरा भाव-क्षण आता है इसी को लोक-व्यवहार में कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध कहा जाता है, परंतु वस्तुतः इस तरह के सम्बन्ध की कहीं पृथक् सत्ता नहीं है।[३९] आगे वह कहता है कि सामान्यतया सम्बन्ध को द्विष्ठ कहा जाता है। परंतु (१) जो दो में रहता है वह निश्चित ही अनेक रूपों वाला होना चाहिये, जबकि सम्बन्ध ऐसा नहीं है। वह दो में रहते हुए भी एक माना जाता है। (२) दूसरी बात यह कि सम्बन्ध में परतन्त्रता होती

---

३६. द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः।
क: सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ वही, ४.

३७. Ganguli, H. K., *Philosophy of Logical Construction*, p. 91.

३८. तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे स्वात्मनि स्थिताः।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना ॥ 'सम्बन्धपरीक्षा', ५.

३९. द्र०—'ईप्रवि', १. २. १०.

है। परंतु जिन वस्तुओं में सम्बन्ध की बात कही जाती है वे क्षणिक होने के कारण स्वतंत्र स्वभाव की हैं। (३) इसी प्रकार यदि वस्तुएं सिद्ध हैं तो उन्हें परतंत्र स्वभाव की कैसे माना जा सकता है और यदि वे असिद्ध हैं तो असिद्ध का न तो कोई स्वरूप होता है और न ही उनके विषय में पारतंत्र्यरूप सम्बन्ध की चर्चा ही की जा सकती है।[४०] (४) सम्बन्ध को दो में एकतारूप कहा जाता है परन्तु यह कैसे सम्भव है क्योंकि जो अपने सम्पूर्ण स्वरूप में एकत्र विद्यमान है वही अन्यत्र भी कैसे रह सकता है? यदि सचमुच ऐसा होता ही है तो उसके स्वरूप में परिवर्तन होना आवश्यक है।[४१] (५) बौद्ध दार्शनिक उनसे भी असहमति प्रकट करते हैं जो इसे अनेकता में एकतारूप मानते हैं। एकता एवं अनेकता भाव और अभाव की तरह परस्पर विरोधी गुण हैं जो किसी एक वस्तु में नहीं रह सकते[४२] अर्थात् पहली बात तो यही है कि दो रूप एक नहीं हो सकते। किन्तु यदि ऐसा मान भी लिया जाए तो फिर उनमें सम्बन्ध ही क्या रहा क्योंकि वे तो एक हो गये, जबकि सम्बन्ध में दो की अपेक्षा है। अतः उसके अनुसार एकता अनेकता की यह व्याख्या उचित होगी कि ये दो विविध भाव-क्षणों में रहते हैं अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक इन दो विभिन्न क्रमों में वह संयुक्त रूप से प्रतीत होता है, वस्तुतः है नहीं।

इसी प्रकार की युक्तियों से बौद्ध सभी प्रकार के सम्बन्ध की वास्तविक सत्ता का खण्डन करता है और सम्बन्ध की चर्चा को मानस अथवा काल्पनिक कहता है।

बौद्ध मान्यता का आधार

बौद्ध दार्शनिकों के उपर्युक्त विचारों का आधार क्षणभंगवाद है। वे सम्बन्ध की सत्ता इसलिए नहीं मान सकते कि सम्बन्ध के लिए वस्तु का एक से अधिक क्षणों के लिए स्थायी रहना आवश्यक है। साथ ही सम्बन्ध दो में होता है। अतः केवल एक ही वस्तु का नहीं अपितु दोनों वस्तुओं का एकाधिक क्षण तक स्थिर रहना आवश्यक है। किन्तु बौद्ध के क्षणभंगवाद में वस्तु एक क्षण से अधिक सत् नहीं रहती, अतः इस मत में अनित्य सम्बन्धियों के कारण सम्बन्ध की सत्ता

---

४० द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात् सिद्धस्यान्यानपेक्षणात्।
पारतंत्र्याद्ययोगाच्च... ॥ 'ईप्रका', १. २. ११.

४१. न हि एकत्र विश्रमिताशेषशरीरसारोऽन्यत्र विश्रमितुम् अलम् स्वरूपभेदप्रसंगात्।
'ईप्रवि', १. २. ११.

४२. न च अनेकस्यानेकता सहभाविनी एकता युज्यते भावाभावरूपत्वेन विरुद्धत्वात्।
'संसि', पृ० ४.

एवं नित्यता सम्भव नहीं है।[४३] सम्बन्ध के विचार को प्रमाता पर निर्भर मानें तो भी बौद्ध इसे सत्य नहीं मान सकता क्योंकि इसमें प्रमाता की सत्ता का भी निषेध किया गया है।[४४]

सम्बन्ध की सत्यता-सिद्धि में शैव युक्तियाँ

काशैद के दार्शनिक, बौद्ध के इस विचार से सहमत नहीं कि सम्बन्ध केवल कल्पना या भ्रांति है, सत्य नहीं। वस्तुतः काशैद में कोई भी विचार या वस्तु भ्रांत या असत्य नहीं, तब सम्बन्ध के विचार को भ्रान्त कैसे माना जा सकता है ? इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए प्राथमिक रूप से दो युक्तियाँ दी जाती हैं।[४५]

१. सम्बन्ध सत्य है क्योंकि हमारे दैनिक व्यवहार में इसका उपयोग है। सम्बंध के बिना दैनिक व्यवहार असम्भव हो जावेगा। पितृपुत्रभाव, स्वामी-भृत्य-भाव आदि पूर्वोक्त सम्बन्ध दैनिक जीवन के अनिवार्य अंग हैं, उन्हें झुठलाया नहीं जा सकता।[४६]

२. सम्बन्ध विकल्प ज्ञान में आभासित होता है, अतः सत्य है।

सत्य की विभिन्न परिभाषाएँ

साधारणतया असत्य उसे माना जाता है जो ज्ञान कालान्तर में बाधित हो जाता है जैसे द्विचंद्रादि का ज्ञान। परंतु काशैद का कहना है कि बौद्ध यदि सम्बन्ध को द्विचंद्र की तरह असत्य कहते हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि द्विचंद्र के ज्ञान की तरह सम्बन्ध का ज्ञान कालान्तर में अधिक नहीं होता।[४७] इस प्रकार बौद्ध जहाँ नैयायिक आदि से यह प्रश्न करता है कि सम्बन्ध की सत्यता से क्या आशय है ? वहीं काशैद बौद्ध के सामने वह प्रश्न रखता है कि सम्बन्ध को असत्य कहने से उनका क्या आशय है ? यदि सम्बन्ध द्विचन्द्रादि की भाँति असत्य है तब उसे काल्पनिक भी नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि मन जिसकी कल्पना करता है, वह असत् नहीं अपितु मानस सत्य तो होता ही है, भले ही बाह्य सत्य न हो।

वस्तुतः बौद्ध दर्शन का कार्य भी सम्बन्ध की व्यावहारिक सत्ता माने बिना

४३. सम्बन्धिनामनित्यत्वान्न सम्बन्धेऽस्ति नित्यता। 'प्रमाणवार्तिक', तीसरा परिच्छेद, २३२.

४४ वही.

४५. सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्याम् ···। 'ईप्रवि', २. २. १.

४६. त्रिपाठी (*The Problem of Knowledge in Yogacara Buddhism*, p. 222-23) ने भी बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना के क्रम में सम्बन्ध को लौकिक ज्ञान का जीवन स्वीकार किया है तथा इसके स्वरूप को संयोगमात्र मानने का विरोध किया है।

४७. द्र०–'ईप्रवि', २. २. १.

नहीं चल सकता, इसलिये इस दर्शन में उसे व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार किया गया है तथा पारमार्थिक स्तर पर उसका निषेध किया गया है। किन्तु काशैद का दृष्टिकोण इस प्रकार का है जिसमें व्यावहारिक सत्य को सत्य का ही एक प्रकार माना गया है, न कि बौद्ध की तरह परमार्थ के ज्ञान के बाद उसको भ्रान्त माना गया है।[४८]

दूसरी दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि सम्बन्ध विकल्पज्ञान में आभासित होता है, ऐसा बौद्ध भी मानते हैं। काशैद की मान्यता यह है कि जो विकल्पज्ञान में भी आभासित हो, वह सत्य है अर्थात् सत्यता का मापदण्ड आभासन है, न कि निर्विकल्प या सविकल्प ज्ञान।[४९] सम्बन्ध वैसा है, अतः सत्य है। बौद्ध के ऐसा मानने का कोई आधार नहीं कि विकल्पज्ञान आभासन स्वभाव का नहीं होता क्योंकि स्वयं बौद्ध ही मानता है कि विकल्प ज्ञान में अबाह्य पर बाह्यत्व का आरोप करते हैं अर्थात् शुक्तिका में रजत की तरह अबाह्य ज्ञानसन्तान पर नीलादि बाह्यत्व का आरोप किया जाता है। ऐसे कथन तब सम्भव नहीं जब विकल्प की आभासन स्वभाव से रहित माना जाए।[५०]

बौद्ध यह युक्ति देते हैं कि सामान्य जन तो अर्थ-क्रिया के आधार पर ही वस्तु के सत्यत्व का निर्माण करते हैं। इस पर काशैद कहता है कि यदि आप रुष्ट न हों तो हम कहना चाहेंगे कि समस्त लोक-व्यवहार के क्षेत्र में, उनमें भी जिनमें सम्बन्ध की चेतना स्पष्ट नहीं हैं, यह वैसा ही है अर्थात् प्रकाशमानता से ही वस्तु का निर्णय होना है, अर्थक्रियाकारित्व से नहीं क्योंकि जो विषय स्वात्म-निष्ठ होता है वह किसी भी काल में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता।[५१]

काशैद ने यह युक्ति इसलिये प्रस्तुत की है कि वह अर्थक्रिया को विषयों का स्वभाव नहीं मानता —'अर्थक्रियापि सहजा नार्थानाम्' (ईप्रवि, २. २. ७.) इस मत में सत्ता तथा अर्थक्रिया भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं, सत्ता वस्तु में सदैव रहती है। अब यदि इसे वस्तु का स्वभाव मान लिया जाएगा तो वस्तु सदैव ही अर्थक्रिया

४८. सांवृतिमत्यत्वं सत्यवस्येवं सत्यवस्येव तु प्रकारः ··· इति द्विचन्द्रादिवत् न असत्यता। 'ईप्रवि', २. २. ३.
सकलदेशकालदशापुरुषोपयोगी यदि अयं व्यवहारो न सत्यः तर्हि न अनन्यस्य सत्यत्वं विद्मः, इति न अत्र भ्रान्तिः इति भ्रमितव्यम्। वही, २. २. ७.
४९. न हि विकल्पेषु प्रतिभासमानम् अवस्तुसत् इति··· प्रकाशतैव वस्तुत्वम्···। वही, २.२.३.
५०. अबाह्ये ज्ञानसन्ताने स्वतोऽसदपि बाह्यम् नीलादि, शुक्तौ रजतवद् आरोपयन्तीत्यादि वचो वस्तुशून्यम्, न परमार्थः। 'भा', २. २. ३,
५१. विस्तारार्थं द्र०–'ईप्रवि', २. २. ७,

करती रहेगी। किन्तु लोक-व्यवहार में ऐसी अनुभूति नहीं होती है।[५२] अतः काशैद वस्तु का स्वभाव अर्थक्रियाकारित्व न मानकर प्रकाशन मानता है। यह प्रकाशमानता सम्बंध में विद्यमान है, अतः वह सत्य है।

मतद्वय का तुलनात्मक विवेचन

संक्षेप में कह सकते हैं कि काशैद बौद्ध दार्शनिकों के इस विचार से सहमत है कि सम्बन्ध की बाह्य सत्ता नहीं। किन्तु वह सम्बन्ध की मानस-सत्ता का निषेध स्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् बौद्ध सम्बन्ध की बाह्य और आंतरिक दोनों ही प्रकार की सत्ता का निषेध करता है जबकि काशैद सम्बन्ध की बाह्य सत्ता का निषेध करते हुए मानस सत्ता को स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन में ज्ञाता की कोई स्थिति नहीं है और ज्ञाता का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिये इसके दार्शनिकों ने सम्बन्ध पर केवल वस्तुओं की क्षणिकता के आधार पर विचार किया। उनका यह विचार क्षणिक वस्तुवाद की दृष्टि से उचित भी है। विज्ञानवादी भी विज्ञान का क्षणिक और नूतन प्रवाह मानते हैं, अतः इस दृष्टि से भी सम्बन्ध की सत्ता का निषेध उचित है। परंतु काशैद विषयों को ज्ञाता पर निर्भर मानता है। अतः उसका दृष्टिकोण बौद्धों से भिन्न है।

सम्बन्ध के प्रसंग में काशैद एवं बौद्ध के विचारों में मतभेद का एक कारण एकता एवं अनेकता की उनकी धारणाएं हैं। सम्बन्ध की सत्ता के निषेध में बौद्ध ने यह युक्ति प्रस्तुत की थी कि यदि यह एकानेक रूप है तो दो में नही रह सकता क्योंकि एकता-अनेकता परस्पर विरुद्ध गुण हैं। किन्तु काशैद इससे विपरीत विचार व्यक्त करते हुए कहता है कि एकता और अनेकता परस्पर विरुद्ध गुण नहीं हैं। वे एक ही वस्तु में रह सकते हैं क्योंकि इस मत में विषयरूप जगत्, परमार्थ-दृशा, शिव में रहते हुए ही आभासित होता है। यह विषय-जगत् शिव से एक है अथवा कहें उसमें एकत्वेन रहता है। शिव में एकत्वेन रहने वाला वही जगत् विभिन्न देश, कालादि के सम्पर्क में आते हुए अनेकता को प्राप्त होता है अर्थात् वस्तु का आन्तरिक स्वभाव एकता का है। वह एक वस्तु जब देशसम्बन्ध के कारण यहाँ और वहाँ के अभाव से, अब और तब के रूप में कालाभास से तथा कृश और स्थूल रूप में रूपाभास से संयुक्त होती है और बाह्येन्द्रियों का विषय बनती है तब उसी को अनेक कहा जाता है।[५३] किन्तु जब अन्य आभासों से संयुक्त नहीं होती

५२. सत्त्वं हि भावेषु सर्वदैव स्थितं भवति, तस्य चार्थक्रियाकारिताभावेऽङ्गीक्रियमाणे भावः सर्वदैवार्थक्रियाविष्टः स्यात्, न च तद् दृश्यते इति नार्थक्रियाकारित्वभावः सत्त्वस्येति···। 'भा', २. २. ७.

५३. तदेव देशाभासेन इह अमुत्र इति, कालाभासेन अधुना तदानीमिति, स्वभावाभासेन कृशः स्थूल इत्यादिना, मिश्रतया अनेकमिति बाह्येन्द्रियवेद्यतायां प्रतीयते। 'ईप्रवि', २.२.२.

तब एक होती है, केवल चिद्रूप होती है और चिद्रूप होने से ही अन्तरिन्द्रियों का विषय होती है। इस प्रकार एकत्व स्वयं अनेकत्व के रूप में आभासित होता है। जैसे कारण (बीज) ही अकारण बन जाता है या उपादान और सहकारी का कारण बन जाता है। अब यदि बौद्ध एक ही वस्तु का कारण-अकारणादि बन जाना व्यवहारमात्र मानें, पारमार्थिक सत्य न मानें तो काशैद को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि एकत्व-अनेकत्व के उदाहरण में भी एक ही वस्तु को व्यवहार के लिए ही एक-अनेक कहा जाता है अर्थात् वस्तुत: तो सब एक अर्थात् शिव ही हैं।[५४] फलस्वरूप एकत्व के विरोध की युक्ति से सम्बन्ध के विचार या स्वरूप का खण्डन नहीं किया जा सकता।

काशैद सम्बन्ध के प्रसंग में बौद्ध को अपना प्रमुख विरोधी इसलिये मानता है कि वह काशैद-सम्मत प्रमाता एवं उसकी अविच्छिन्न क्रियादि शक्तियों का ही खण्डन नहीं करता है अपितु जिस सम्बन्ध से काशैद ज्ञान-क्रियादि ऐश्वर्य को परम तत्त्व में मानता है वह उसकी सत्ता को भी ध्वस्त करना चाहता है।[५५] इस मतभेद की पृष्ठभूमि में दोनों दृष्टियों के अनुसार वस्तु-स्वरूप की भिन्नता है अथवा क्षणिक सत् एवं सर्वसत्यता का सिद्धान्तगत भेद है।

निष्कर्ष

भारतीय दर्शनों में वस्तुवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन जब इसे अन्य प्रमेय की भाँति सत्य कहते हैं तब प्रतीत होता है कि वे इसे अत्यधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु उनके द्वारा मान्य सम्बन्ध के स्वरूप पर गहनता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनका दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और संकुचित है। वे वस्तुओं में ही संयोग-समवाय सम्बन्ध की चर्चा तक अपने को सीमित रखते हैं। इस प्रकार न्यायादि दर्शनों ने जहाँ इसे सत्य मानकर भी संकुचित बनाया वहाँ बौद्ध दार्शनिकों ने इसे असत्य मानते हुए भी इसके स्वरूप पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया। धर्मकीर्ति का नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है। इसने सम्भवतया समस्त भारतीय दर्शन-साहित्य में पहली बार सम्बन्ध के विचार को महत्त्व देते हुए नैयायिक मत के खण्डनार्थ **सम्बन्धपरीक्षा** नामक एक लघु पुस्तिका लिखी। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में इसी से प्रेरित होकर काशैद के प्रमुख दार्शनिक उत्पलाचार्य ने भी **सम्बन्धसिद्धि** नामक एक लघु पुस्तिका लिखी जिसमें सामान्यतया बौद्ध मत की परन्तु विशेष रूप से धर्मकीर्ति की **सम्बन्धपरीक्षा** की युक्तियों की समालोचना की गई है। अतः यह माना जा सकता है कि धर्मकीर्ति की **सम्बन्धपरीक्षा** का ही उत्तर उत्पल की सम्बन्धसिद्धि है। यह निष्कर्ष इस बात

५४. द्र०—वही,
५५. द्र०—वही, १. २. १०.

से भी पुष्ट होता है कि उत्पल की **सम्बन्धसिद्धि** में **सम्बन्धपरीक्षा** से न केवल पंक्तियों और शब्दों को उद्धृत किया गया है अपितु स्पष्ट ही धर्मकीर्ति का नामोल्लेख[५६] भी किया गया है। परन्तु, यह सम्बन्ध के क्षेत्र में बौद्ध दार्शनिकों की विशिष्ट देन ही मानी जानी चाहिये कि उन्होंने इसके क्षेत्र को बाह्य वस्तु मात्र तक सीमित न रखकर मन से उसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु दूसरी ओर उनकी क्षणवादी मान्यता ने इसे मात्र विकल्पन व्यापार कहकर ठुकरा दिया और इसे स्पष्ट ही भ्रान्त ज्ञान घोषित कर दिया। कहना न होगा कि इससे भी सम्बन्ध के स्वरूप को महत्ता मिलते-मिलते असत्य होना पड़ा। जहाँ तक अद्वैतवेदान्त का प्रश्न है सम्बन्ध के प्रसंग में बौद्धों से अधिक उन्होंने कुछ नहीं किया अर्थात् अद्वैत वेदान्ती भी, बौद्धों की ही भाँति, इसे माया का व्यवहार मानकर परमार्थतः असत्य कहते हैं। गांगुली के मत में तो धर्मकीर्ति की युक्तियों से अधिक नई बात शंकर ने इस प्रसंग में कुछ नहीं कही है।[५७] काशैद के दार्शनिकों द्वारा सम्बन्ध की चर्चा में वेदान्त मत को न लेना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि वे यहाँ उसका कुछ वैशिष्ट्य न मानते हुए बौद्ध मत का ही प्राधान्य मानते हैं।

काशैद के दृष्टिकोण को इस प्रसंग में सर्वाधिक व्यापक कहना अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इस दर्शन में न केवल सम्बन्ध को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया अपितु सामान्य, दिक्, कालादि को भी उसी का प्रकार मानकर तथा लोक-व्यवहार में उसकी महत्ता स्वीकार कर उसके क्षेत्र को व्यापक बना दिया गया। इस दर्शन का दृष्टिकोण विशिष्ट है। वस्तुतः काशैद सम्बन्ध को सम्बन्ध के रूप में न देखकर समन्वय के रूप में देखता है जिसके अनुसार प्रमेय प्रमाता में ही समन्वित है। इस मत की अन्य विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर न्याय के इस विचार को स्वीकार किया गया है कि सम्बन्ध सत्य है तो दूसरी ओर उसके संकुचित रूप का निषेध भी किया गया है। इसी प्रकार बौद्ध के इस विचार को स्वीकार किया गया है कि सम्बन्ध मानस है, विकल्प व्यापार है, किन्तु असत्यता के विचार को ठुकराया भी गया है तथा निष्कर्ष रूप में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि सम्बन्ध मानस होते हुए भी सत्य है क्योंकि मन का विकल्पन व्यापार, आभासित होने के कारण असत्य नहीं, सत्य होता है। जहाँ तक सम्बन्ध में अन्तर्विरोध की बौद्ध की आपत्ति का प्रश्न है, यह उत्तर उचित है कि अन्तर्विरोध रहने पर भी वस्तु असत्य नहीं होती।

---

५६. द्र०–'संसि', पृ० ६.

५७. द्र०–*Ganguli, H. K., Philosophy of Logical Construction,* p. 92.

चतुर्थ परिच्छेद

जगत्

१. जगत् विचार के विविध पक्ष
वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

१

जगत्-विचार के विविध पक्ष : वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन

दर्शन का एक प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह चेतन-अचेतन तत्त्वों की सत्ता एवं स्वरूप तथा परमतत्त्व से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करे। समस्त भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों ने दर्शन के उपर्युक्त लक्ष्य पर विचार किया है—चाहे वे आस्तिक हों अथवा नास्तिक, वेद–समर्थक हों अथवा वेद–विरोधी, द्वैतवादी हों अथवा अद्वैतवादी। परम तत्त्व को सचेतन तत्त्व से जोड़ने वाले अथवा दोनों को तत्त्वदृशा एक मानने वाले दर्शनों ने इन्हें आत्मा-परमात्मा के रूप में प्रस्तुत किया है तो अन्य दर्शनों ने एक परमतत्त्व की मान्यता पर प्रश्न-चिन्ह लगाकर प्रमुख रूप से केवल जड़ और चेतन तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या का प्रयास किया है। पहली दृष्टि के उदाहरण के रूप में अद्वैतवादी भारतीय दर्शन, शांकर वेदान्त, काशैद आदि को लिया जा सकता है तथा दूसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व द्वैतवादी दर्शन, सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि करते हैं। दोनों ही दृष्टियों में यह समानता है कि इनमें जड़-चेतन रूप से प्रत्यक्ष होने वाले इस जगत् का सर्वथा एवं सम्पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है। अब यह एक भिन्न प्रश्न है कि इस जगत् के कारण, वास्तविक स्वरूप, जड़-चेतन में भेद अथवा अभेद आदि बिन्दुओं पर उनमें तीव्र मतभेद हैं।

जगत्-विचार के इन विविध पक्षों को देखने से प्रतीत होता है कि दर्शन की विविध समस्याओं और उनकी विभिन्न व्याख्याओं का एक कारण जड़-चेतन-रूप जगत् है। जगत् के तात्त्विक विचार की समस्या परमतत्त्व के स्वरूप की भूमिका है। 'दुःखत्रय' के फलस्वरूप उनके कारण एवं उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायों की जिज्ञासा होती है तथा जगत् के वैविध्य को देखकर परमार्थ सत्य की शोध आरम्भ होती है। अतः दुःख एवं उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति की भाँति ही जगत् एवं परम तत्त्व के विचार भी परस्पर सापेक्ष हैं। विशेष रूप से अद्वैतवादी दर्शन इस जगत् को 'व्यवहारमात्र' कह कर एवं इसे अपना प्रमुख प्रतिपाद्य न मानकर[1] यथाशीघ्र परम-तत्त्व की चर्चा आरम्भ कर देते हैं जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि उनका परम तत्व का स्वरूप, जगत् सम्बन्धी उनके विश्लेषण का परिणाम अथवा निष्कर्ष ही है। इसके साथ ही जो दर्शन जगत् और परमतत्त्व - सम्बन्धी अपनी मान्यताओं में जितनी अधिक संगति बिठा सकता है वह उतना ही तर्क संगत एवं निर्दुष्ट माना जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि जगत् एवं परम तत्त्व के विचारों में संगति का कौतुक ही दर्शन है।

१. 'ब्रसूशांभा', १. ४. १४.

(क) स्रष्टा

अद्वैत वेदान्त का परब्रह्म शुद्ध, शान्त, निर्विमर्श और अकर्त्ता है तथा काशैद का परम शिव प्रकाश-विमर्शमय, कर्त्ता, ज्ञाता और स्वतन्त्र है। अतः दोनों के परम तत्त्व में निर्विमर्शता एवं सविमर्शता का प्रमुख भेद जगत् -सम्बन्धी इनकी मान्यताओं में भी व्याप्त है। दोनों दृष्टियाँ जगत् का कारण ब्रह्म अथवा शिव को मानती हैं, किन्तु ब्रह्म अथवा शिव किसके द्वारा सृष्टि करता है तथा ब्रह्म से उसका सम्बन्ध क्या है इस पर दोनों में मतभेद है। एक ओर वेदान्त ब्रह्म को सत्य मानकर जगत् को मिथ्या कहता है तो दूसरी ओर काशैद में सत्य परम शिव से आभासित होने के कारण जगत् को भी सत्य ही माना गया है। इस प्रकार वेदान्त एवं काशैद की जगत्-सम्बन्धी मान्यताओं में समता भी है और विषमता भी।

शैव मतानुसार स्वतन्त्र शिव की कारणता

परम शिव में जब सृष्टि की इच्छा[२] होती है तब वह अपने से अभिन्न शक्ति के द्वारा ही सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होता है। सृष्टि-रचना की इच्छा, उस दिशा में अनुकूल प्रवृत्ति आदि सब उसकी अविछिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति अथवा विमर्श का ही विस्तार है। परम शिव एवं तत्स्वरूप शिव की दृष्टि से देखें तो परम शिव में उससे अभिन्न शक्ति विश्रान्त थी, वह स्व-स्थित थी, स्पन्दित नहीं हो रही थी– अर्थात् परम शिव शक्तिमान् होकर भी अपनी शक्तियों का कोई उपयोग नहीं कर रहा था, किन्तु जैसे ही उसमें सृष्टि-रचना की इच्छा हुई वह इच्छानुसारी प्रवृत्ति में तत्पर हो गया। इसी को उसका शिवरूप कहा जाता है जबकि परम शिव एवं शिव में कोई वास्तविक भेद नहीं है, दोनों ही वस्तुतः शक्तिमान् हैं। ‘परम शिव में शक्तियाँ शान्त रूप में रहती हैं तथा शिव में उनमें प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है।

अतः परम शिव[३], अथवा इससे अभिन्न इच्छा[४], शक्ति[५],

---

२. (क) या नानाकार्यसृष्टिः, तत्प्रवर्तने यदोन्मुखिता, वस्तुतो द्वितीयाभावात् नैरपेक्ष्येणान्तर्मुखित्वात् चित्ता चैतन्यमेव, तदा सा तुटिः सूक्ष्मकालपरिच्छिन्न इच्छाप्रथमभागः। शिवृवृ', १.७.८;
(ख) बोधस्य स्वरूपस्थस्य पूर्णस्य विश्वरचनां प्रति अभिलाषमात्ररचनायोग्यतायाः यः प्रथमो विकासः······। वही, १. १७.

३. (क) एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा। 'शिदृ', ४. ५;
(ख) ······श्रीपरमभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति। 'प्रहसूवृ',३;
(ग) परमशिव. स्वस्वरूपानां पंचानां शक्तीनां भिन्नत्वेन अतद्व्यावृत्या तत्त्वदशां भासयति 'पसावि', १४; 'पसा', ४ - ५;
(घ) चिद्रूपो हि भगवान् शक्तत्वेन परामृष्टं स्वमेव जगद्भावेन प्रादुर्भावयति जलमिव एवं तरंगभावेन। 'भा'. १. मंगलाचरण।

४. (क) अन्तर्विकल्पप्रतिबिम्बितस्य नीलादेः यो बहिरात्मना प्रमातृविच्छिन्नेन स्वभावेन प्रकाशः, स भर्तुः अन्तराभासात् बिभ्रतो बहि सृष्टिं च पुष्णतः ईश्वरस्यैव इच्छया ······। 'ईप्रवि', १. ८. ६;
(ख) या निर्मातृतामयी अभ्युपगमलक्षणा प्रमातृता सैवेच्छा। 'सिदृवृ', १. १०.

५. (क) स्वयं प्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्तजगदात्मना स्फुरति प्रकाशते च। 'पराप्रवे', पृ० ३;
(ख) स संसारार्थं मायाशक्तिकर्तृक्याख्यात्या भावान् अनात्मस्थान् आभासयति। 'शिदृवि', १. १;
(ग) परमेश्वर एव······स्वामेव व्यतिरिक्तां परां शक्तिं ज्ञातज्ञेयभावेनावभासन्। 'स्पका', टीका (रामकण्ठ), १८;
(घ) क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः। 'भा', २. २. ३; और भी द्र०–'स्पनि', पृ० ३-४, 'पसावि', पृ० ६८-६, 'शिसू', ३. ३०, 'पराप्रवे', पृ० ३, 'अप्रसि', २५.

चिति[६] अथवा स्वातन्त्र्य[७] किसी को भी सृष्टि का कारण कहें सबका आशय एक ही है। एवमेव एक ही वस्तु के दो पक्षों की तरह नित्य समरस[८] प्रकाश एवं विमर्श में से कभी प्रकाश[९] पक्ष को, कभी विमर्श[१०] पक्ष को अथवा कभी दोनों को जगत् का कारण कह दिया जाता है जिसका आशय भी पूर्ववत् एक ही है।

शिव स्वात्म-भित्ति पर, स्वेच्छा से, अपने ही द्वारा, अपने से अभिन्न सृष्टि करता है। अतः इस दर्शन में वही उपादान एवं निमित्त कारण है। उससे भिन्न न कोई उपादानादि कारण है और न ही उनकी उसे आवश्यकता है।

काशैद के ग्रन्थों[११] में शिव को एक ऐसा विचित्र कलाकार कहा गया है जो बिना फलक, कूची आदि साधनों के स्वय ही, अपनी ही भित्ति पर, अपने से अभिन्न – किन्तु भिन्न-सी प्रतीत होने वाली सृष्टि-रचना की क्रोड़ा में निरन्तर रत है। आदर्श एवं उसके प्रतिबिम्ब तथा योगी और उसकी रचना के उदाहरण (जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है) इसी मन्तव्य को पुष्ट करते हैं। इन उदाहरणों में काशैद की जगत्—स्रष्टा, अधिष्ठाता, अधिष्ठान–अध्यस्त का भेदाभाव एवं सृष्टि के प्रयोजन आदि सभी मान्यताओं की झलक है।

शंकराचार्य मतानुसार मायाधिष्ठित चेतना की कारणता

शंकराचार्य का ब्रह्मवाद केवल एक ही परमतत्त्व ब्रह्म को मानता है। अतः

---

६. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। 'प्रहृस', १;
(चितिः) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।, वही २.

७. एक एव हि स्वतन्त्रो बोधस्तथा तथा स्फुरेत्। 'तन्त्रावि', १. १. ६५;
परमेश्वर प्रकाश एव स्वमायाशक्त्या अतिदुर्घटकारित्वस्वातन्त्र्यरूपया स्वरूपमनाच्छादितमपि आच्छादितमिव अवभासयति। ईप्रविवि', १, पृ० ४५; और भी द्र०–'ईप्रवि', ३. १ २; पसावि', पृ० ३-४; 'स्वतंटी', भाग ६, पृ० ४.

८. प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्॥ 'विमैवि' (शिवोपाध्याय), १३७. पृ० १२२;
परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। 'पराप्रवे', पृ० १.

९. प्रकाशो नाम यश्चाय सर्वत्र प्रकाशते। 'तन्त्रा', २. १ ५४

१०. ...... इच्छाविमर्शः प्रवर्तते। 'ईप्रवि', १. ५. १०.

११. चिदाकाशमये स्वांगे विश्वालेख्य विधायिने।
सर्वाद्भुतोद्भवभुवे नमो विषमचक्षुषे॥ 'शिद्', १. १;
निरुपादानसभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने॥ स्तचि', ५;
परमशिव एव स्वतन्त्रः सदा स्वभित्तौ विश्वप्रपंचोल्लासनविलापनक्रीडां स्वात्मानतिरिक्तामपि अतिरिक्तामिव आदर्शयन्......'पसा', पृ० ६६.

विश्व का स्रष्टा भी वही होना चाहिये। किन्तु शंकर का ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, परिनिष्ठित, शुद्ध चैतन्य है। अतः वह जगत्सृष्टि का कार्य कैसे कर सकता है। शंकर को 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पुरुषसूक्त १०. ९०. २) और 'नेह नानास्ति किंचन' (बृहउ, ४. ४. १९) जैसे भिन्नार्थवाचक वाक्यों में सामञ्जस्य भी स्थापित करना था। अतः उन्होंने ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हुए जगत्कार्य के लिए अनिर्वचनीय माया को प्रस्तुत किया। यह माया ही जगत् का कारण बनती है। किन्तु सांख्य के प्रधानकारणवाद के खण्डन में शंकर कह चुके थे कि अचेतन को जगत्-कारण या कर्ता नहीं माना जा सकता[१२] और प्रधान को ही वेदान्त में माया कहा गया है तब स्वयं शंकर माया से जगत्सृष्टि कैसे मान सकते थे ? अतः उन्होंने चेतन अधिष्ठित माया को जगत् का कारण कहा अथवा यह चेतन जो माया से आच्छादित है, जगत्कारण है।[१३] इसी मायाधिष्ठित चेतन को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में जगत् का स्रष्टा मायाधिष्ठित अथवा माया से परिच्छिन्न ईश्वर है। किन्तु परमार्थदृशा ईश्वर और ब्रह्म में अभेद है, इसलिये कार्य जगत् का कारण परम ब्रह्म भी कह दिया जाता है।[१४] शंकर के विचार में यही समस्त वेदान्त[१५] एवं उपनिषदों[१६] का सिद्धान्त है।

शंकर ब्रह्म को केवल उपादान कारण ही नहीं, निमित्तकारण भी मानते हैं।[१७] केवल उपादान कारण मानने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित हो जाएंगे। कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है किन्तु निमित्तकारण से भिन्न ही होता है, लोक में बढ़ई प्रासाद से भिन्न ही दीखता है।[१८]

मतद्वय की तुलना

काशैद एवं शांकर मत अद्वैतवादी दर्शन हैं। दोनों ही दर्शन प्रत्यक्ष परि-दृश्यमान इस जगत् के मूल कारण की शोध का निष्कर्ष यह निकालते हैं कि इस जगत् का कारण जड़ नहीं, चेतन तत्त्व है। उस चेतन तत्त्व के अद्वैत होने में भी दोनों मतों के दार्शनिकों को कोई सन्देह नहीं। दोनों ही मतों के सन्मुख एक ही

१२. 'ब्रसूशांभा', १. १. ६.

१३. वही, १. १. २.; २. २. २; २. १. २२.

१४. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म। वही, २. १. १२.

१५. सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। वही, ३. २. ४१.

१६. वही, २. ४. २०.

१७. वहीं, १. ४. २३.

१८. वही.

समस्या है कि अद्वैत चेतन तत्त्व से जड़-चेतन रूप एवं प्रमातृ-प्रमेय रूप इस जगत् का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाए अर्थात् अद्वैत तत्त्व को नानारूपात्मक जगत् का किस प्रकार कारण सिद्ध किया जाए जिससे जगत् के समुचित स्वरूप-विश्लेषण के साथ ही परम तत्त्व के शुद्धस्वरूप की भी रक्षा की जा सके। इस समस्या का समाधान करने में दोनों ही मतों के दार्शनिकों ने गीता एवं उपनिषद् के वाक्यों का आश्रय लिया। शांकर मत वैदिक विचारधारा का दर्शन है इसलिये शंकर ने उपनिषदों को अपने प्रतिपादन का आधार माना है। काशैद आगमिक दर्शन है और इसके सन्मुख समन्वय का लक्ष्य भी था, इसलिये इसके दार्शनिकों ने आगमों की अद्वैतदृष्टि का अनुकरण करते हुए अपने मार्गानुकूल उपनिषद् वाक्यों का सहारा लिया।

शास्त्रों से प्रेरणा, सहयोग एवं मार्गदर्शन लेने के उपरान्त भी दोनों ही मतों के दार्शनिक इस बात से सहमत थे कि केवल एक शुद्ध चेतन तत्त्व से जगत्-रचना की समस्या हल नहीं हो सकती। इस स्थिति ने शांकर मत में माया के विचार को तथा काशैद में शक्ति के विचार को जन्म दिया। अद्वैतवादी दर्शनों द्वारा इस प्रकार के तत्त्व का विचार द्वैत को आमन्त्रण देना था, फिर भी दोनों ही दृष्टियाँ अपने-अपने ढंग से क्रमशः माया और शक्ति तथा अद्वैत परम तत्त्व में सम्बन्ध का व्याख्यान करती हुई, जगत्कारण की गुत्थियाँ सुलझाने में जुट गईं।

किसी भी कार्य अथवा प्रवृत्ति से पूर्व प्रवृत्ति की इच्छा होना अनिवार्य है। बिना इच्छा अथवा संकल्प के प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दोनों ही मतों के दार्शनिकों ने इच्छा की इस अनिवार्यता को स्वीकार किया। किन्तु इनमें दृष्टि-भेद तब उत्पन्न होता है जब शंकर इस इच्छा अथवा संकल्प (एकोऽहं बहु स्याम्) का ब्रह्म अथवा माया में न मानकर मायाधिष्ठित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर[१८] में मानते हैं और काशैद के दार्शनिकों ने इस इच्छा को ब्रह्म अथवा शिव से अविच्छिन्न मानकर इसे उसका स्वातन्त्र्यरूप स्वभाव या शक्ति ही मान लिया। शंकर ने शुद्ध ब्रह्म में इस भय से इच्छा को अस्वीकृत किया कि ऐसा करने से उसमें अपूर्णता का दोष उत्पन्न होगा तथा उसकी नित्य शुद्धता को भी हानि होगी। वह इस इच्छा को माया में भी नहीं मान सकते थे क्योंकि माया को ब्रह्म की तरह सत् मानकर उसमें इच्छा मानने से द्वैत की बाधा स्पष्ट थी। साथ ही माया ब्रह्म से विपरीत अर्थात् जड़ है। किसी भी जड़ वस्तु में इच्छा का होना सम्भव नहीं और फिर माया वस्तु भी कहाँ है, वह तो अनिर्वचनीय अवस्तु है। इस विचार-पद्धति के कारण शांकर

१८. विस्तारार्थ द्र०, शर्मा, 'अवे', पृ० १४६.

मत में जगत् का स्रष्टा मायाधिष्ठित ब्रह्म या ईश्वर माना गया तथा काशैद में शक्तिमान् शिव । प्रथम मत में ब्रह्म से माया का सम्बन्ध अस्पष्ट एव अनिर्वचनीय है किन्तु द्वितीय मत में दोनों का सम्बन्ध नित्य अविनाभाव के रूप में सहज, स्वाभाविक एवं स्पष्ट है ।

ईश्वर एवं शिव में इच्छा की पूर्वोक्त रूप में स्वीकृति से इन दर्शनों के परमतत्त्व सम्बन्धी विचार भी प्रभावित हुए । अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध ब्रह्म एवं मायाधिष्ठित ब्रह्म में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है, इसलिये मायाधिष्ठित ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा कहने का अर्थ है ब्रह्म को स्रष्टा कहना । किन्तु ब्रह्म को परमार्थतः स्रष्टा मानने के लिए शंकर तत्पर नहीं क्योंकि परब्रह्म मायाधिष्ठित नहीं है । यदि उसे भी मायाधिष्ठित माना जाएगा तब अद्वैतवाद विशिष्टाद्वैत के स्तर पर आ जायेगा । दूसरी ओर काशंद के दार्शनिकों ने इसी समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से देखा । वे भी शांकर मत की भाँति शिव एवं परम शिव में स्वरूपतः कोई भेद नहीं मानते । उनकी दृष्टि से जगत्-रचना के प्रसंग में मात्र व्यावहारिक भेद यह है कि परम शिव में शक्ति विश्रान्त थी और शिव में प्रवृत्ति का आरम्भ होने लगता है । इस मत में स्वातन्त्र्यात्मक इच्छा शिव का स्वभाव है । अतः शिव-शक्ति के परस्पर समन्वयरूप सम्बन्ध की व्याख्या एवं अद्वय तत्त्व की शुद्धता[२०] की रक्षा सहल है ।

ब्रह्म में एक से अनेक होने की इच्छा सर्वप्रथम क्यों और कैसे हुई इसका समुचित समाधान शांकर मत में नहीं है । अतः इस मत में सृष्टि को अनादि माना गया । काशैद में एक से अनेक होने की इच्छा का कारण शिव का स्वातन्त्र्य-स्वभाव माना गया है । जैसे अग्नि का स्वभाव ही दाहकता है उसी प्रकार शिव का यह स्वातन्त्र्य स्वभाव ही है कि वह सतत पंचकृत्य करता रहता है । अतः इस मत में भी एक दृष्टि से जगत् अनादि ही है किन्तु उसकी व्याख्या भिन्न है । साथ ही तत्सम्बन्धी शंकाओं का समुचित एवं स्वाभाविक समाधान भी यहाँ विद्यमान है ।

शांकर मत में जिस द्वैत एवं अपूर्णता के भय से ब्रह्म में माया को नहीं माना गया उसके लिये काशैद में अवसर नहीं है, क्योंकि इस मतानुसार कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के तादात्म्य से दूषित नहीं होती और न ही इससे वस्तु और उसका स्वभाव द्वैत को जन्म देते हैं क्योंकि वस्तुतः अपना स्वभाव कहना एक ही तत्त्व के दो अविच्छन्न पक्षों का व्याख्यान मात्र करना है ।

---

२०. तेनैवश्वरेण तथाग्निसंस्कारादिः कल्पिमतः तथा च तस्यानुवर्तनं कल्पितम् । ततस्तदिच्छात्मकमेतद्रूपमेव नाशुद्धिं भेदं वा शिवतत्त्वस्योपस्थापयति । 'शिदृवृ', ३. ४८, पृ० ११६.

पाण्डेय-मत एवं उसकी समालोचना

पाण्डेय[२१] ने वेदान्त एवं काशैद के जगत्-कारण के स्वरूप पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि दोनों दर्शनों में विश्व के कारण परम-तत्त्व के स्वरूप के विषय में पूर्ण साम्य है। किन्तु पूर्वोक्त विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि यह निष्कर्ष शांकर मत एवं काशैद के विचारों के प्रतिकूल है। अर्थात् शंकर मत में ब्रह्म कूटस्थ एवं शान्त है। वस्तुतः उसका कोई स्वभाव नहीं है। वह ज्ञान मात्र, सन्मात्र या चिन्मात्र है। सत्, ज्ञान, चित् उसका स्वभाव नहीं, अपितु स्वरूप है। परन्तु काशैद में ब्रह्म शान्त नहीं सविमर्श, पूर्ण स्वतन्त्र, कर्ता-ज्ञाता है और ज्ञान-क्रियादि उसका स्वभाव है। अतः जगत्-कारण परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में शांकर मत एवं काशैद में पूर्ण साम्य नहीं है। दोनों मतों के परम तत्त्व के स्वरूप में पूर्ण साम्य मानने से इनकी मान्यताओं के भेद का आधार ही समाप्त हो जायेगा।

शांकर मत एवं काशैद के कारणवाद - सम्बन्धी मतों पर विचार किया जा चुका है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में जगत्-स्रष्टा की अपेक्षा से ही इसका संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

शंकर मायाधिष्ठित ब्रह्म से मायारूप सृष्टि की रचना मानते हैं। सृष्टि और ब्रह्म भिन्न भी हैं एवं अभिन्न भी। इनमें नित्यता, परमार्थता एवं चित्स्वरूपता में सर्वथा भिन्नता है, तथा एक ही अद्वैत तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है– 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'–आदि की मान्यतानुसार अभिन्नता भी है। इस द्वयी स्थिति के कारण इस मत में ब्रह्म को उपादान एवं निमित्तकारण दोनों ही माना गया है।

काशैद में भी ब्रह्म को उपादान एवं निमित्त कारण माना जाता है क्योंकि उसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता नहीं, सब उसी के आभास हैं तथा वह अनन्त कर्तृत्व शक्ति से नित्य सम्पन्न है। सृष्टि रचना में अन्य साधन एवं उपादानों की अस्वीकृति शंकर को भी अभीष्ट है।[२२] किन्तु वे इन साधनों को ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं मानते जबकि काशैद ऐसा मानता है। शंकर निमित्त कारण से कार्य को भिन्न मानते हुये ब्रह्म को निमित्त कारण कहते हैं जबकि काशैद में कर्ता शिव से

२१. "There is a complete agreement between the Sankara Vedanta and the Pratyabhijna in respect of the nature of the ultimate cause of the Universe." Pandey, *Abhi*, p. 432.

२२. एतेन अविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्वात् ब्रह्मण: सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाभावो दोष: प्रत्युक्तो वेदितव्य:......आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च। शंकर, 'प्रउमा', ६, ३.

कार्य अभिन्न है। जगत् शिवात्म है, उससे भिन्न नहीं। शंकर परम ब्रह्म को सीधे कर्त्ता न कहकर[२३] कर्तृत्व के लिये माया एवं ईश्वर का सहारा लेते हैं जबकि काशैद में प्रथमतः स्पष्ट ही शिव को कर्ता कहकर इस स्थिति को आगे तक युक्तियुक्त ढंग से बनाए रखा गया है।

उपादान–निमित्त कारण के प्रसंग में शांकर मत में अपनी मिथ्या माया से अलिप्त रहने वाले ऐन्द्रजालिक तथा मकड़ी के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु काशैद में बिना उपादान-निमित्त कारणादि के इच्छा मात्र से रचना करने वाले योगी[२४] एवं प्रतिबिम्ब से अप्रभावित रहने वाले दर्पण के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को साक्षात् कर्ता इसलिए नहीं माना गया था कि इससे उसकी शुद्धता की हानि होने की आशंका थी। परन्तु काशैद की दृष्टि से जगत् पूर्वतः शिव में विद्यमान का ही बहिराभासन मात्र है। अतः जगत् की सृष्टि कोई ऐसी नवीन उत्पत्ति या परिणाम नहीं जिससे शिव का स्वरूप विकृत हो। अतः इस मत में शिवरूप जगत् की स्वात्मभित्ति पर रचना के कारण शिव विकृत नहीं होता अपितु शुद्ध[२५] ही बना रहता है।

(ख) अधिष्ठान

चाहे द्वैतवादी दर्शन हों या अद्वैतवादी, जड़कारणतावादी हों या चेतन कारणतावादी, सभी दर्शनों का जगत् का अधिष्ठान तत्तत् दर्शनानुसार वही होता है जिससे विश्व निःसृत हो। चार्वाक केवल चार भूतों को मानता है, अतः उसके अनुसार जगत् के अधिष्ठान ये चारों तत्त्व हैं। इस मत में चेतन जो कि इन चारों के संयोग से उत्पन्न कार्य-विशेष है, इस जगत् का अधिष्ठान नहीं हो सकता। सांख्य, जो जड़-जगत् का कर्तृत्व प्रधान में मानता है और प्रधान को ही जगत् के रूप में परिणत मानता है, भी उसी प्रधान में विश्व को अधिष्ठित मानने के लिये बाध्य है। न्याय-वैशेषिक की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं। उनके अनुसार जड़-जगत् का अधिष्ठान परमाणु है।

शैवमतानुसार संविद् की अधिष्ठानता

काशैद के मतानुसार विश्व शिव में ही विश्रान्त है।[२६] क्योंकि भावपदार्थों

---

२३. ...न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं या क्रियाकारकफलं स्यादद्वैतत्वात्सर्वं भावानाम्। वही, ६. ३.

२४ तस्य तु परस्य यादृगात्मत्वमभीष्टं तथावस्थानमेवोत्पत्तिर्योगिनामिव। 'शिदृ', ३. ४, पृ०१११

२५. प्रकाशस्य शुद्धसंविद्रूपस्य देहादिसंस्पर्शैरनाविलीभूतस्य यः आत्मा जीवितभूतः सारस्वभावो विच्छेदशून्योऽन्तरभ्युपगमकल्पोऽनन्यमुख-प्रेक्षित्वरूपस्वातन्त्र्यविश्रान्तिरूपः 'अहम्' इति प्रत्यवमर्शः असौ विकल्पो न भवति......न ह्यस्य विकल्पलक्षणमस्ति। 'भा०' १ पृ० ३०२-३,

२६. ......यत् परतत्त्वं तस्मिन्विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्। 'पसा', ११.

की सत्ता या असत्ता, होना या न होना, बिना संविद् में विश्रान्ति के सम्भव नहीं। संविद् में विश्रान्त होकर ही भाव प्रकाशमान होते हैं।[२७] इनकी प्रकाशमानता संविद् से भिन्नता नहीं अभिन्नता ही है। क्योंकि काशैद के मत में सत् और चित् में द्वैत नहीं है। वे वस्तुतः पर्याय हैं। यदि इन दोनों को भिन्न मान लिया गया तो समग्र अस्तित्व अचित् हो जाने से अन्धा[२८] हो जायेगा। अतः जैसे नील और नीलता अभिन्न हैं उसी प्रकार ये भी अभिन्न हैं।[२९]

अस्तु, अधिष्ठान के प्रसंग में काशैद की ये मान्यताएं स्पष्ट हैं—

१. जगत् का अधिष्ठान संविद् है।
२. संविद् में विश्रान्त या अधिष्ठित भाव संविद् से अभिन्न हैं, क्योंकि उनका होना ही संविद् है।
३. संविद् में विश्रान्त विविध भाव-जगत् के कारण संविद् में भेद उत्पन्न नहीं होता।
४. यह संविद् प्रकाश से अभिन्न है।
५. प्रकाश और संविद् का सामरस्य ही शिव या परम शिव है। अतः शिव ही जगत् का अधिष्ठान है।

न्याय दर्शन में जिस प्रकार दिक्, काल, आकाश, सामान्य आदि, पूर्व, अपर, चिर, क्षिप्र शब्दादि से अभिन्न माने जाते हैं,[३०] उसी प्रकार काशैद में अधिष्ठान और अध्यस्त एक है, अभिन्न है। अर्थात् जिस प्रकार विशेषों में सामान्य रहता है, धर्मी में धर्म रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म की दृष्टि से और सब पदार्थों की दृष्टि से, सब पदार्थों के परमार्थ रूप में, आत्मा का प्रकाश और यह भेदात्मक जगत् परमार्थ संविद् में विश्रांत है।[३१]

वेदान्त मतानुसार सत् ब्रह्म की अधिष्ठानता

अधिष्ठान का विचार अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस विचार

---

२७. संविन्निष्ठा विषयव्यवस्थितिः। वही, पृ० ६२.
संविद्विश्रान्ता हि भावाः प्रकाशमानाः भवन्ति। 'ईप्रविवि', १, पृ० ५.

२८. देखिए—'शिदृ', १. २.

२९. तत्प्रकाशादतिरिच्यन्ते च, प्रकाशन्ते चेति उच्यमाने नीलं स्वरूपात् व्यतिरिक्तम्, अथ च नीलमिति उच्यते। 'ईप्रविवि', १, पृ० ५.

३०. दिक्कालाकाशसामान्यादि नैयायिकैस्तल्लिंगानां पूर्वापरचिरक्षिप्रशब्दाभिधानप्रत्ययाभेदात् इति...... । वही, पृ० १०६.

३१. सर्वेषु भूतेषु परमार्थरूपेषु आत्मा प्रकाशस्तिष्ठति, विशेषेष्विव सामान्यं, सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव तिष्ठन्ति धर्मा इव धर्मिणि इत्येवं सर्वमुखेन ब्रह्ममुखेन वा समव्याप्तिकक्रुतकत्वा-नित्यत्वन्यायेन विध्यनुवादयोर्नास्ति वैचित्र्यम्। वैचित्र्येऽपि वस्तुभेदः प्रवेशवैचित्र्यादधिकः। वही, पृ० ४७.

के बिना इस मत के जगत्कारणवाद को अथवा ब्रह्म के स्रष्टारूप को नहीं समझा जा सकता। माया, बिना किसी अधिष्ठान अथवा आधार के जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि 'अधिष्ठान की सत्ता को स्वीकार किये बिना जगत् की आरोपित किंवा व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।'[३२] अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार भी असम्भव है।[३३] व्यावहारिक जगत् ही नहीं किन्तु सत् अधिष्ठान के बिना असत् मृगतृष्णिका भी नहीं हो सकती।[३४] अर्थात् इस दृष्टि में व्यवहार-सत्य को ही नहीं असत् को भी अधिष्ठान की अपेक्षा रहती है। अतः सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् उसमें अध्यस्त है। यही अधिष्ठानवाद है।

इस अधिष्ठानवाद को इस रूप में भी शंकर ने प्रस्तुत किया है। जैसे संसार में मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादान कारण कुम्भकार, स्वर्णकार आदि अधिष्ठाताओं की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं उस प्रकार उपादान कारण सत् ब्रह्म को अन्य अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं है।[३५] यदि उपादान कर्ता से भिन्न अधिष्ठान को स्वीकार किया जाता है तो "एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो सकता है" इस प्रतिज्ञा और दृष्टांत का बोध हो जाएगा। अतः किसी अन्य अधिष्ठाता के न होने के कारण आत्मा कर्त्ता अथवा अधिष्ठान है तथा अन्य उपादान के न होने से वही प्रकृति (उपादान) है।[३६]

मतद्वय की तुलना

यद्यपि इस प्रसंग में काशैद का मत शंकर की भाँति अधिष्ठानवाद नहीं है तथापि इनके दार्शनिकों ने अधिष्ठान की महत्ता को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना कि अधिष्ठान के स्वभाव को। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त एवं काशैद दोनों ही मत अधिष्ठान को स्वीकार करते हैं किन्तु इस स्वीकृति के स्वरूप एवं प्रक्रिया में भिन्नता है।

शंकर और काशैद के दार्शनिक इस बारे में एक मत हैं कि सत् ब्रह्म अथवा शिव जगत् का अधिष्ठान है। प्रथम मत में चेतन के अधिष्ठान से रहित माया जगत् का सृजन नहीं कर सकती उसी प्रकार द्वितीय मत में प्रकाश-रहित विमर्श अथवा शक्ति-रहित जड़ शिव जगत् के आभासन में सर्वथा असमर्थ है। शंकर व्यवहार सत्य

---

३२. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनंगीकारात्। 'वेप', प्रथम परिच्छेद.

३३ न चाधिष्ठानमन्त्रेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। 'ब्रसूशांभा', १. १. १.

३४ न ह्नि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरासपदा भवन्ति। 'गीताभा', १३. १४; और भी देखिये, 'मांकाशांभा', ३. २८; १. ६.

३५. 'ब्रसूशांभा', १. ४. २३.

३६. वही.

एवं असत् के लिए भी सत् अधिष्ठान की अपेक्षा पर बल देते हैं। काशैद में भी कहा
गया है कि 'जो वस्तु प्रकाश-संविद् में विश्रान्त नहीं है वह असत् है। भासित
होने वाली समस्त वस्तुएं सत्स्वभाव हैं, अतः वे प्रकाश में विश्रान्त हैं।[३७] किन्तु
शांकर मत एवं काशैद में भेद यह है कि शंकर केवल अधिष्ठान को सत् मानता है
और अध्यस्त वस्तु को व्यवहार सत्य किंवा मिथ्या मानता है वहाँ काशैद में अधिष्ठान
प्रकाश में अध्यस्त वस्तु को भी सत्य ही माना गया है क्योंकि इस मत में अध्यस्त
वस्तु वस्तुतः अध्यस्त न होकर अधिष्ठानकरूप प्रकाश का विमर्श शक्ति के द्वारा
बहिराभासन है। अध्यस्त वस्तु के सत्यासत्य का विचार आगे किया जाएगा।

शांकरमत की समालोचना

इसी प्रसंग में काशैद में शंकर के इस विचार का खण्डन किया गया है कि
असत् का भी आधार होता है। वह कहता है कि घटाद्यभाव का कहीं भी अधिष्ठान
नहीं देखा जाता।[३८] इसी तरह शुद्ध ब्रह्म मलिन जगत् का अधिष्ठान नहीं हो
सकता।[३९]

अद्वैत वेदान्त के मतानुसार शुद्ध, सत् ब्रह्म में जगत् का आरोप किया जाता
है लेकिन अध्यस्त जगत् की सत्ता अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् नहीं है और इससे उसकी
अखण्डता एवं शुद्धता अबाधित है। अद्वैत वेदान्त के इस मन्तव्य को स्पष्ट करने के
लिए प्रकाशानन्द[४०] दर्पण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः अधिष्ठानवाद के
अनुसार ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना ही भ्रान्ति है। इसी तथ्य को शंकरा-
चार्य रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के उदाहरण से उजागर करते हैं।[४१]

काशैद में लगभग इसी मन्तव्य को भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस
मत में भी जगत् की सत्ता शिव-निरपेक्ष नहीं है। जगत् शिव के स्वातन्त्र्य का
विस्फार होने के कारण उसके अधीन है, उससे भिन्न स्वतन्त्र नहीं है। इस मत में
भी दर्पण[४२] के उदाहरण द्वारा यह दर्शाया जाता है कि अद्वय शिव तत्त्व जगत् के

३७ तथा हि सर्वेऽर्थाः संविदि प्रतिष्ठामुपयान्ति, असंविदिता असन्त एव। संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति। 'शिदृवृ', २. १६.

३८. न हि घटाद्यभावस्य कुत्राप्यधिष्ठानत्वमुच्यते। 'भा', १, पृ० १३.

३९. न च शुद्धस्य ब्रह्मणः मलिनजगदधिष्ठानत्वं युक्तम्। वही, पृ० १३.

४०. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, २४.

४१. विवेकचूडामणि, ४०७.

४२. ......यदिदं किंचित् विश्वतयाभिमतं, तत् सर्वम् आदर्शप्रतिबिम्बन्यायेन मय्येव भाति,...... अस्मदर्थविश्रान्तमेवावभासते ...... तथा ...... पूर्णात् रूपात् स्वात्मनः ...... निःशेषमिदं विश्वं ...... प्रमाण्यपेक्षया अपहृततया स्फुरति ...... स्वप्नविचित्रत्वमिव सुप्तात्। 'पसावि', पृ० ६६-१००.

नानात्व से प्रभावित नहीं होता, इससे उसकी शुद्धता[४३] एकत्व किंवा सामरस्य भंग नहीं होता। दर्पण स्वयं बिम्बों का निर्माण नहीं करता किन्तु विचित्र कलाकार शिव का यह वैशिष्ट्य है कि वह स्वयं ही दर्पण एवं बिम्ब स्थानीय बन जाना है अर्थात् वह स्वभित्ति पर स्वयं को ही नाना रूपों में देखता है। अतः अद्वैत वेदान्त की तरह इस मत में भी यह कहना सम्भव है कि शिव से पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप में जगत् की कल्पना करना अज्ञान है।

काशैद के मत को पाण्डेय[४४] वस्तुवादी प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) कहते हैं। इस स्वातन्त्र्यवाद में अधिष्ठानवाद का उस रूप मे स्थान नहीं जिस रूप में अद्वैत वेदान्त में है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त मात्र आत्मवादी (Idealistic) है। अद्वैतवेदान्त में मिथ्या एवं अनिर्वचनीय माया के कारण परमार्थरूप में असत्य वस्तुओं का अधिष्ठान ब्रह्म बन जाता है, जब कि वस्तुतः है नहीं। किन्तु काशैद में शिव अपनी अविच्छिन्न[४५] शक्ति अथवा विमर्श के द्वारा शिवात्मक वस्तुओं के अवभासन का अधिष्ठान बनता है। इस मत में ब्रह्म एवं माया को अधिष्ठान के रूप में नही अपितु नित्य सामरस्य के रूप में अनुभूत किया जाता है। अतः जिस जगत् का नित्य अधिष्ठान है— ऐसा कहने से भी इस मत के अद्वैतवाद की हानि नहीं होती है।

(ग) स्रष्टा का प्रयोजन

प्रयोजन की परिभाषा

जिसको लक्ष्य करके व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहा जाता है।[४६] तथापि यह प्रयोजन स्वार्थ ही हो, यह आवश्यक नहीं। पर-पुरुष के

---

४३. परमार्थतस्तद्वत्तायामपि स्वात्मस्फुरत्तामात्ररूपत्वादस्य विश्वस्य न कापि भेदकलङ्कदोषकल्पनेति। 'शिदृवृ', १. १.

४४. *Abhi*, p. 31७.

४५. ततश्च विमर्श एव भगवत इच्छा मित्यैत्र रुद्रक्षेत्रज्ञप्रमातृवर्गसुखदुःखनीलपीतादिप्रमेयसंचयं च अवभासयतीति, तथा अवभासमानमपि च संविन्मये प्रकाश एव विश्राम्यति, अन्यथा तथात्वस्यैव असत्कल्पत्वात्, न च प्रकाशमात्रतामुज्झति प्रकाशादतिरिक्तस्य तृणमात्रस्यापि अप्रकाशनप्रसगात्। 'ईप्रविवि', १, पृ० ६;

इह दृश्यमाने सर्वशब्दस्य व्यपदेश्ये नाना यत् प्रकाशेन सह न भवति, प्रकाशतादात्म्येन न वर्तते, तत् किमपि रूपं नास्ति अप्रकाशमानस्य शपथैरपि अप्रत्येयत्वात्। शपथोऽपि तत्प्रकाशताकार्यो भवति। वही, पृ० ४६.

४६. यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् : सर्वो हि यः कश्चित् प्रवृत्तिकारी प्रयोजनमुद्दिश्यैवाभिमुखीभवति। 'शिदृवृ', १. १२;

संपाद्यत्वेन अभिसहितं यत् मुख्यतया तत एव क्रियासु प्रयोजकं तत्प्रयोजनम्। 'ईप्रवि', १. १. १.

कल्याणार्थ की गई प्रवृत्ति को भी सप्रयोजन कहा जा सकता है। इसी व्याख्या का अनुगमन करके भेदवादी दर्शन सृष्टि का प्रयोजन लोक-कल्याण मानते हैं।[४७]

शांकर एवं शैव मत

शंकर की मान्यता है कि इस सृष्टि में परमेश्वर का कोई सूक्ष्म प्रयोजन नहीं है क्योंकि ब्रह्म पूर्ण है, निष्काम है।[४८] उसमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' की इच्छा अवश्य होती है तथापि जैसे[४९] किसी राजा या मन्त्री की सब कामनाएं पूर्ण होने पर भी क्रीड़ा-क्षेत्र में उसकी प्रवृत्तियाँ मात्र लीला के लिए ही होती हैं उसी प्रकार यह सृष्टि उसकी लीला ही है। लीला के अतिरिक्त परमेश्वर का और कोई प्रयोजन न तो तर्कसम्मत है और न ही श्रुतिसम्मत।[५०]

शिवदृष्टि[५१] में भी कहा गया है कि परमेश्वर को यदि लीलार्थ सृष्टि-रचना में प्रवृत्त माना जाता है अथवा लोकानुग्रह ही उसका प्रयोजन माना जाता है तो इससे अनेक असंगतियाँ उत्पन्न होंगी क्योंकि सृष्टि में जो वैषम्य है, दुःख है उसके लिए किसे उत्तरदायी कहा जाएगा, और इसका अर्थ होगा परमेश्वर एक ऐसा सर्वाधिक असफल प्रवृत्तिकारी है जिसने कल्याण के लिए कार्यारम्भ किया और कार्य का फल दुःखपूर्ण निकला। दूसरी ओर यदि परार्थ या लोक-कल्याण का मार्ग छोड़कर स्वार्थ के लिए सृष्टि रचना मानी जाए तो एक कठिनाई उसके महा-स्वार्थी होने की है। इसके अतिरिक्त वेदान्त दर्शन जब परमेश्वर को पूर्ण और निष्काम मानता है तब उसकी पूर्णता और निष्कामता की हानि होती है, जो वेदान्त को कदापि मान्य नहीं। अतः इस मत में अपरिमित शक्ति से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त सहज रूप से इस सृष्टि का आभासन करता है।[५२]

इस प्रकार सृष्टि-रचना में प्रयोजन का प्रश्न द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही दृष्टियों में असंगतियों से घिरा प्रतीत होता है।

---

४७. परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव तल्लक्षणत्वात्, न हि अयं दैवशाप: स्वार्थ एव प्रयोजनं न परार्थ इति—तस्यापि अतल्लक्षत्वे सति अप्रयोजनत्वात् ······ अत एव भेदवादेऽपि ईश्वरस्य सृष्ट्यादिकरणे परार्थ एव प्रयोजनम् ··· । 'ईप्रवि', १. १. १.

४८. यदि नाम लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैवात्र किंचित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुते:। 'ब्रसूशाभा', २. १. ३३.

४९. वही

५०. न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायत: श्रुतितो वा सम्भवति। वही, २. १. ३३.

५१. 'यदाहुरेके ईश्वर: स्वात्मन्यवाप्तसर्वकाम: किमस्य सृष्ट्यादिना फलमिति। ··· ··· ··· तच्चास्यावाप्तकामत्वान्न संभाव्यम्' इति भगवाँल्लोकानुग्रहार्थमेव प्रवर्तते इति कथनें दुःखमयीं कस्मात् सृष्टं कुरुते दयालुत्वात्तस्येति दयादीनां निमित्तानां क्वास्मिन्नयें पर्येषणा। 'शिदृ', १ १२.

५२. 'ब्रसूशाभा', २. १. ३३.

काशैद ने लोकानुग्रह वाली मान्यता को सर्वथा असंगत मान कर लीला को ही सृष्टि का प्रयोजन माना है। किन्तु साथ ही वह यह भी आरोप लगाता है कि शंकर के मतानुसार यह सम्भव नहीं।

शंकर की ही तरह काशैद का परम तत्त्व भी पूर्ण है। उत्पल का कहना है कि सृष्टि-रचना या आभास उस परम तत्त्व की किसी अपूर्ण इच्छा की पूर्ति नहीं। उसे किसी प्राप्तव्य की आकांक्षा नहीं—क्योंकि प्रवृत्ति के बाद जो कुछ प्राप्तव्य है[५३] वह स्वयं उसमें पूर्णतः विद्यमान है। किन्तु शंकर के मतानुसार जगत् पूर्णतः शान्त ब्रह्म में विद्यमान नहीं है। उसके अनुसार तो जगत् माया है, भ्रम है, व्यावहारिक सत्य है, परमार्थ नहीं : अतः शकर का ब्रह्म या ईश्वर मात्र लीला के लिए सृष्टि करे और फिर भी पूर्ण रहे यह कैसे सम्भव है—क्योंकि उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजन या उद्देश्य ब्रह्म मे विद्यमान नहीं है। अतः अप्राप्त को प्राप्त करने का प्रसंग उठ खड़ा होता है जिससे ब्रह्म की पूर्णता की हानि होती है।[५४]

काशैद के मत में जगत् अपने बहिराभासन से पूर्व शिव में विश्रान्त था। अतः एतदनुसार विश्वाभासन की प्रवृत्ति द्वारा शिव किसी अप्राप्त की प्राप्ति नहीं करता। यही नहीं, इस अवभासनरूप प्रवृत्ति के बाद भी जगत् शिव में ही विश्रान्त रहता है, अभिन्न रहता है और यह शंका व्यर्थ है कि जब आभासन से पूर्व जगत् उसी में विद्यमान है तब बहिराभासन मे व्यर्थता आएगी क्योंकि बहिराभासन की बात भी व्यवहार ही है। वस्तुतः उससे बाह्य कुछ भी नही है। उसका स्वभाव ही आभासन है। इसीलिए उसे 'स्वैरी'[५५] कहा गया है।

लीला शब्द का व्याख्या-भेद

शांकर मत और काशैद में सृष्टि का प्रयोजन लीलामात्र माना गया है। काशैद की भाँति शकर भी लीला का अर्थ स्वभाव ही करते हैं। यह स्वभाव अग्नि-दाहकता की भाँति परस्पर न तो भिन्न किया जा सकता है और न ही उसका खण्डन किया जा सकता है।[५६] तथापि दोनों दृष्टियों में भिन्नता यह है कि काशैद में परम शिव में ही इस लीला स्वभाव[५७] को विश्रान्त माना गया है जबकि शांकर

५३. प्रवृत्तिकारी हि तदा प्रवृत्ति करोति यदि स्वस्मात्किंचिदाधिक्याविकमनुभवति, यदि च स्वयमेव स तथाभूतः केन निमित्तेन प्रवृत्ति करोतीति। 'शिदृवृ', ३. ५१.

५४. देखिये—'शिदृवृ', ३. ५६.

५५. स्वम् आत्मीयम् उपकरणम् ईरयति स्वकर्तव्येषु अवश्यं तच्छीलः। स्वं च आत्मानमीरयति न पुनः स्वकर्तव्ये प्रेरकमपेक्षते इति 'स्वैरी' स्वतन्त्रः। 'ईप्रवि', १४. १.

५६. देखिये–ब्रसूशांभा', २. १. ३३.

५७. देखिये–'शिदृवृ', २. २५.

मत में मायोपहित ईश्वर का स्वभाव लीला है, न कि नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव परब्रह्म का। इस दृष्टि-भेद का कारण भी पूर्ववत् यही है कि काशैद में सत्य शिव का आभास होने से सृष्टि सत्य है, जबकि शंकर इस विचार के प्रति सावधान करते हुए कहते हैं कि 'यह सृष्टि परमार्थ नहीं है। सृष्टि-सम्बन्धी श्रुतियाँ भी परमार्थ नहीं हैं। ये अविद्या से कल्पित नामरूपात्मक, व्यवहार-विषयक और ब्रह्मात्मभाव-प्रतिपादनपरक हैं, इस बात का विस्मरण नहीं करना चाहिये।'[५८]

दूसरे शब्दों में, काशैद ने वेदान्त के लीला-सिद्धान्त को मानकर भी व्याख्या की दृष्टि से इसमें भेद माना है। उसके मत में लीला का अर्थ है स्वभाव या स्वातन्त्र्य। विश्वरूप में आभासित होना परमेश्वर का स्वातन्त्र्यमूलक स्वभाव ही है। इसी व्याख्या पर निर्भर रहकर वह जगत् की अनादिता एवं अनन्तता की व्याख्या करता है अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय, अनुग्रह, तिरोधानरूपी पंचकृत्य करना उसका अविच्छिन्न स्वभाव है।

(घ) सत्यता

शैव मतानुसार जगत् की सत्यता

शिवाद्वयवाद में सभी भाव-पदार्थ शिवात्म[५९] माने गये हैं। यदि इन भाव-पदार्थों को शिव से सर्वथा भिन्न, निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र माना जाता है तो न केवल अद्वयवाद ही भंग होगा अपितु कोई भी वस्तु प्रकाशित ही नहीं होगी। भावों की प्रत्यक्षानुभूति ही असम्भव हो जायेगी। इसका कारण यह है कि भाव पदार्थ भवन एवं आभासन स्वभाव के हैं। भवन–प्रकाशन का यह स्वभाव उनमें शिव के कारण है। दूसरे शब्दों में, यह परम शिव का स्वातंत्र्य ही है कि वह भाव पदार्थों के रूप में स्वयं को आभासित करता है। भाव पदार्थ नाना हैं और यदि उन्हें स्वतंत्र शिव से भिन्न माना जाएगा तो वे या तो नाना रूप में ही सत्य रह कर अद्वयवाद के सिद्धान्त को बाधित करेंगे अथवा नाना रूप में उन्हें यदि असत् मानेंगे तो इससे उनका कभी किसी भी देश-काल में किसी के द्वारा प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकेगा और इस प्रकार सर्वान्ध्य प्रसंग उपस्थित होगा।[६०] इन दोनों ही विकल्पों को अस्वीकार करके जगत् की सत्यता के प्रसंग में काशैद के दार्शनिक यह मत व्यक्त

५८. 'ब्रसूशांभा', २. १. ३३.

५९. सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव इति। 'शिदृवृ', १. २;
इह यद्यत्किंचन स्फुरति तत्तद् ······ ईश्वररूपस्वात्ममात्रम्। 'ईप्रवि', १. १. १.
और भी द्र०–'पसावि', ७७.

६०. सर्वभावानां य आत्मा वेद्यताख्यः स एव शिव इति तं विना प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात् इति नीत्या सर्वान्ध्यः। 'शिदृवृ', १. २.

करते हैं कि जगत् शिवात्म होने से अर्थात् सत्य शिव का सत्य आभास होने से–सत्य है। भाव रूप जगत् का भवन–प्रकाशन स्वभाव शिव के स्वातंत्र्य के कारण है और जगत् शिव में पूर्वतः विद्यमान[६१] का ही बहिराभासन[६२] मात्र है। अतः वह सत्य है। जो प्रकाशित हो रहा है वही नहीं अपितु जो प्रकाशित होने वाला है वह भी शिवात्म है। उसे भी अप्रकाश सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वस्तु-स्वभाव अपरिवर्तनीय है।

गौडपाद एवं शांकर मतानुसार जगत् का मिथ्यात्व

आचार्य गौडपाद ने जगत् को मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये सभी प्रकार के बाह्य एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होते हैं[६३], क्योंकि जागने के बाद उनकी प्रतीति मिथ्या सिद्ध होती है, उसी प्रकार जगत् की भी स्थिति है। जाग्रत अवस्था में प्रत्यक्ष होने वाला यह जगत् भी परमार्थ दृष्टि से मिथ्या ही है।[६४] अतः गौडपाद का मत है कि स्वप्न और जागरित ये दोनों अवस्थाएं एक हैं, इनमें विशेष भेद नहीं है।[६५]

शंकर परमार्थिक सत्ता तो एकमात्र ब्रह्म की ही मानते हैं; किन्तु जहाँ तक प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का प्रश्न है उनका मत गौडपाद से भिन्न नहीं। गौडपाद-कारिकाओं की व्याख्या[६६] में और ब्रह्मसूत्र की व्याख्या[६७] में भी उन्होंने स्वप्न के आधार पर जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया है। किन्तु अनादिकाल से अद्या-वधि प्रत्यक्ष हो रहे इस जगत् को मात्र स्वप्न की भाँति मिथ्या कह देना ही शंकर ने पर्याप्त नहीं समझा। उन्होंने उसकी पारमार्थिक सत्ता तो नहीं किंतु व्यावहारिक सत्ता अवश्य स्वीकार की है। इसको मिथ्या कहने से उनका आशय यह है कि जगत् की सत्ता त्रिकाल में नहीं रहती क्योंकि स्वाप्निक पदार्थ जैसे जाग्रत अवस्था में मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं (यद्यपि स्वप्न में वे सत्य ही प्रतीत हो रहे थे), उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में परिदृश्यमान यह जगत् परमार्थ अवस्था में मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

---

६१. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥ 'परात्रिंशिका', २४–२५.

६२. 'पसावि', ४१.

६३. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्नमाहुर्मनीषिणः। 'मांका', २. १.

६४. वही, २. ४.

६५. स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः। वही, २. ५.

६६. 'मांकाभा', २. ४.

६७. 'ब्रसूशांभा', २. १. १४.

संक्षेप में, शंकर का मत यह है कि जगत् परमार्थदृष्टि से असत्[६८] है किन्तु व्यवहारदृशा सत् है, असत् भी इसलिये कि इसकी सत्यता परमार्थ अवस्था में बाधित हो जाती है—त्रिकाल सत्य नहीं रहती। अतः जगत् को न तो केवल सत् कहा जा सकता है, न असत् अपितु यह सत्-असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

काशैद एवं अद्वैत वेदान्त के परम तत्त्व के स्वरूप का वैषम्य उनकी जगत् सम्बन्धी धारणाओं में भी मतभेद उत्पन्न करता है। जिस प्रकार एक अद्वैत तत्त्व को परमार्थ मानते हुए भी उसके स्वरूप एवं सिद्धि-प्रक्रिया में दृष्टि-भेद है उसी प्रकार जगत् को समान रूप से व्यावहारिक सत्य मानने पर भी उसकी सत्यता के स्वरूप एवं सिद्धि-प्रक्रिया में भिन्नता है।

वेदान्त मत में परमार्थ सत्य वह है जो नित्य, अपरिवर्तनीय, स्वरूपनिष्ठ एवं शुद्ध बोधमात्र हो। इसके विपरीत जो परिवर्तनशील हो, सत्ता के लिए परतन्त्र हो एवं जड हो, वह अनित्य है, मिथ्या है। परमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्ताओं के त्रिविध भेद का आधार यही दृष्टि है। प्रत्यक्ष परिदृश्यमान एवं सत्य से प्रतीत होने वाले जगत् की सत्यता उस क्षण मिथ्या ज्ञात हो जाती है जब परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। अद्वैत तत्त्व की अनुभूति के बाद द्वैत प्रपंच का लोप नहीं होता, इसका सर्वथा अभाव नहीं होता, अपितु इसकी द्वैतता अथवा द्वैतमूलक प्रपंचता के व्यवहार का लोप हो जाता है। यदि परमार्थावस्था में जगत् का अभाव अथवा लोप मानते हैं तो एक के मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः शंकर जब जगत् को व्यावहारिक सत्य कहते हैं तो उनका यह कथन सापेक्ष होता है। साथ ही जब असत्य कहते हैं तो इसका अर्थ सत्ता का अभाव न होकर द्वैत-प्रपंच या नानात्व का निषेध करना ही उनका मूल आशय होता है। दूसरी ओर काशैद में दोनों ही कथन मिलते हैं 'जगत् सत्य है' तथा 'जगत् पारमार्थिक सत्य नहीं है।' अतः इस मत में सत्ता के त्रिविध नहीं, द्विविध प्रकार हैं—पारमार्थिक एवं व्यावहारिक। तथापि इसके दार्शनिक शंकर की भाँति, प्रकार भेदों द्वारा अपना मन्तव्य प्रस्तुत नहीं करते, अपितु यह कहते हैं कि जब सभी कुछ शिव है तब सत्य-असत्य का भेद ही व्यर्थ है।[६९]

---

६८. एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे। ब्रसूशांभा', २ १. १४; तस्मान्न कश्चित् प्रपंचः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीति ··· ···। 'मांकामा', १. १.

६९. तथा च सर्वतैक्ये संसारव्यवहाराय संज्ञामात्रं तत्कल्पितं भवति। 'शिदृवृ', ३. ४७.

जगत् को सत्य मानने की पृष्ठभूमि में काशैद की विचार-पद्धति यह है कि जगत् शिवात्म है, शिव में पूर्वत: विद्यमान का बहिराभासन है। अत: ऐसी कोई वस्तु नहीं जो परमार्थत: उससे बाह्य हो।[७०] जगत् को परमार्थत: सत्य न मानने की पृष्ठभूमि में यह विचार है कि परमार्थ सत्य शिव है। वह परम पूर्ण स्वतन्त्र है। जगत् की सत्ता शिव के कारण है किन्तु शिव की भाँति इसमें पूर्ण नहीं, संकुचित स्वातन्त्र्य है। इसी संकोच के कारण इसे परमार्थ सत्य अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इस दर्शन में भी शिवैक्यावस्था में जगत् का सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु साथ ही शंकर की तरह द्वैत का लोप भी नहीं होता, अपितु उसके स्थान पर द्वैत में आत्मैक्य की अनुभूति होती है। इस दर्शनानुसार जीवन्मुक्त पुरुष जगत् को मिथ्या नहीं मानता अपितु उसमें आत्मीयता देखता है, उसे शिवात्म किंवा स्वात्मरूप समझता है। वह जगत् की वस्तुओं को स्वात्म से अभिन्न मानकर उनका उपभोग करता है। यही इनके दृष्टिकोण की भिन्नता है।

सर्वशिववाद के विपक्ष में अद्वैत वेदान्त की ओर से यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि सभी वस्तु शिवरूप होने से सत्य हैं तो इस मत का उन ईश्वरीय शास्त्रों से विरोध होगा जो इस जगत् को ऐन्द्रजालिक की माया के समान असत्य मानते हैं।[७१]

काशैद के दार्शनिक इस आपत्ति के औचित्य पर ही प्रश्न-चिन्ह लगाते हैं। क्योंकि शास्त्रों के प्रति काशैद का दृष्टिकोण[७२] भी वही है जो अद्वैत वेदान्त का है तथा जिसका पूर्वपृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। तथापि वे उदाहरणों द्वारा यह भी प्रदर्शित करते हैं कि इस मत का शास्त्रों में विरोध नहीं है। उदाहरण के रूप में गीता के निम्न वाक्यों को देखा जा सकता है जिनमें सर्वशिवता अर्थात् परम तत्त्व और जगत् में एकरूपता की बात कही गई है—

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' ६. ३०.
'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि॥' ६. २९.

---

७०. अत एव च न बाह्यं नाम किंचन परमार्थत्वे विद्यते। 'शिदृवृ', १. २.
व्यवहारतयैवाऽस्ति सत्यत्वं न निबन्धनात्, 'शिदृ', ४. १३.
व्यवहाराय सत्यत्वं न च वा व्यवहारगम्। वही, ४. ६.
यच्च जगतस्तुच्छता कथ्यते तज्जगत्वापेक्षामात्रेण, परमार्थतस्तु सारात् प्रादुर्भूतत्वेन तदपि सार एव। 'भा', १. ५. १४.

७१. सर्ववस्तूनां च शिवैकरूपत्वे सत्यत्वं स्यात्, एवं च मायेन्द्रजालोपमत्वं जगतः पारमेश्वरैव शास्त्रैर्यद्वर्ण्यते तद्विरुद्धं स्यात्। 'शिदृवृ', ३. ३२.

७२. शास्त्रमपि व्यवहारगामिसंस्कारोपदेशकं न शिवतत्त्वभेदाय ...... । वही ३, ४८.

ऐन्द्रजालिक एवं स्वप्न दृष्टान्तों का विश्लेषण

जहाँ तक ऐन्द्रजालिक की माया का प्रश्न है, काशँद की दृष्टि में ऐन्द्रजालिक से उसकी माया अविच्छिन्न है तथा वह माया उसी स्तर एवं परिमाण में सत्य है जिस स्तर-परिमाण में स्वयं ऐन्द्रजालिक है। यही नहीं सत्य ऐन्द्रजालिक अपनी सत्य माया द्वारा जिन मायीय वस्तुओं का प्रकाशन करता है वे भी सत्य ही हैं क्योंकि वस्तुतः वे उनके अन्तर में विद्यमान का ही बहिराभासन है। इस मत में वस्तुओं की मायीय अथवा व्यवहार-सत्य कहने का आशय मात्र यह है कि ये ऐन्द्रजालिक के स्वातन्त्र्य किंवा माया के अधीन हैं। वह जब चाहे इन्हें यथार्थ स्वरूप में जान सकता है। साथ ही मायीय वस्तुओं का बहिराभासन भी शिव से बाहर नहीं, उसकी स्वात्म भित्ति पर ही है। इसीलिये उसे विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण कहा जाता है।[७३]

अद्वैत वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व के प्रसंग में स्वप्न-सृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था। काशँद के ग्रन्थों में भी इस उदाहरण के उल्लेख इसी प्रसंग में प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से असत्य का आशय आकाश-कुसुम[७४] की भाँति मिथ्या होना नहीं है क्योंकि आकाश-कुसुम का अनुभव नहीं होता किन्तु स्वप्न-जगत् का तो अनुभव होता है। अनुभव अभावात्मक नहीं होता, अयथार्थ नहीं होता।[७५] शंकर जाग्रत अवस्था में स्वप्न के अनुभवों को तथा पारमार्थिक सत्ता के अनुभव के बाद जाग्रत अवस्था के अनुभवों को मिथ्या मानते हैं, जबकि काशँद की मान्यता के अनुसार ये अनुभव बादवाली अवस्थाओं में मिथ्या नहीं अपितु अपूर्ण अथवा संकुचित समझे जाते हैं। 'स्वप्न देखा था तब वह सत्य था, अब वह सत्य नहीं है' ऐसी अनुभूति में यह निहित है कि स्वप्नकाल में वे आकाश-कुसुम की भाँति असत्य नहीं थे क्योंकि असत्य होते तो उनकी किसी भी देश–काल, आकार एवं अवस्था में अनुभूति सम्भव नहीं थी। असत् अभावात्मक है। वह किसी भी देश, काल, आकार अथवा अवस्था में सत् नहीं है। जानने के उपरान्त होने वाले ज्ञान से स्वप्न-ज्ञान की अपूर्णता बाधित होती है। यह वस्तुतः बाध नहीं संकोच है। चूँकि स्वप्न-ज्ञान सर्वथा एवं सम्पूर्ण रूप से बाधित नहीं होता, अतः वह भी सत्य ही है। अपूर्णता को असत्य अथवा बाधित नहीं कहा जा सकता और 'जो ज्ञान अथवा अनुभव दूसरे अनुभव से बाधित न हो वह सत्य है।'[७६]

७३. अत एव अयं विश्वमयत्वेऽपि विश्वोत्तीर्णस्तदुत्तीर्णत्वेऽपि तन्मयः। 'तन्त्रावि', १. १. ६६.

७४. कः सद्भावविशेषः कुसुमाद्भवति गगनकुसुमस्य। यत् स्फुरणानुप्राणो लोकः स्फुरणं च सर्वसामान्यम्। 'मम', २२.

७५. अनुभवा हि नायथार्थो भवति। 'शिदृवृ', ३. ३०.

७६. ··· ··· यद् यथा यावत् अबाधित विमृश्यते तत् तथा तावत् अस्ति। 'ईप्रवि', १. १. ३.

व्यावहारिक सत्ता-विषयक दृष्टिभेद

वेदान्त जगत् की व्यावहारिक सत्ता मात्र मानता है किन्तु काशैद का प्रश्न है कि व्यावहारिक सत्ता से क्या आशय है? यह व्यावहारिक सत्ता भी परमार्थ सत्ता से पृथक् तो हो नहीं सकती। साथ ही जब पृथक् नहीं है, कोई पदार्थान्तर नहीं है और उसी के कारण अथवा उसी के अन्तर्गत है तब इसका स्पष्ट ही यह आशय होगा कि ईश्वर या शिव ही लोक यात्रा के रूप में आभासित हो रहा है।[७७] अर्थात् परमार्थ सत्ता ही जगत् रूप में आभासित हो रही है—जिसे वेदान्ती व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। ऐसी स्थिति में जगत् को असत्य मानने में भला क्या औचित्य है?

पाण्डेय[७८] भी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु या तत्त्व को सत्य या असत्य कहने का आशय दर्शन के क्षेत्र में कुछ विशिष्ट होता है। दर्शन में असत्य कहने का यह आशय नहीं कि उस वस्तु की सत्ता ही नहीं है, क्योंकि यदि कुछ होता ही नहीं तो उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। किन्तु हम देखते हैं कि दर्शन मे जिन वस्तुओं को असत्य कहा जाता है उनका भी प्रत्यक्ष तो होता ही है। अतः असत्य कहने का आशय होगा कि व्यष्टिगत, बिषयिगत आभास है और ऐसा होने से वह विषयगत आभास से भिन्न प्रकार का है, जिस पर लोक व्यवहार निर्भर है। इसी प्रकार किसी वस्तु को सत्य कहने का आशय है कि वह वस्तु सत्तावान् है चाहे किसी भी रूप में आभासित हो। अतः आभासवाद में किसी वस्तु की सत्यता का अर्थ है कि वह सत्तावान् है क्योंकि वह आभासित होती है। प्रकाश का अनिवार्य स्वभाव आभासन है तथा प्रकाश और आभासन परस्पर अभिन्न हैं, यही काशैद में परम सत्ता है।

जगन्मिथ्यात्व का विवेचन

पाण्डेय यह भी मत[७९] व्यक्त करते हैं कि कोई आभास विषयगत है या विषयिगत इसका दर्शन के क्षेत्र में अधिक महत्त्व नहीं है क्योंकि दर्शन का उद्देश्य दो प्रमेयों में भेद की व्याख्या करना नहीं है। फलतः वेदान्ती की यह पद्धति अथवा यह कथन कि बाह्य जगत्-शुक्तिका में रजत की भाँति, भ्रम है, दर्शन के मूल और वास्तविक प्रश्न से परे जाता है। दत्ता-चटर्जी[८०] भी शांकर मत पर यही आरोप लगाते हैं।

---

७७. 'शिदृवृ' ३. ४६.
७८. Pandey, *Abhi*, p. 340,
७९. वही, पृ० ३४१.
८०. 'भाव', पृ० २४३.

वेदान्त पर लगाये गये उपर्युक्त आरोप से पूर्णतया सहमत नहीं हुआ जा सकता। यह ठीक है कि वेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा गया है किन्तु साथ ही यहाँ यह भी नहीं भूला जा सकता कि यह कथन, एक दृष्टि से, सापेक्ष है। जगत् परमार्थ-दृष्टि से मिथ्या है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से तो सत्य ही है, जैसा कि काशैद भी मानता है। यदि एक और शुक्तिका आदि उदाहरणों से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है तो दूसरी ओर प्रातिभासिक सत्ता से व्यावहारिक सत्ता को अधिक सत्य भी माना जाता है। इसी प्रकार स्वप्न-जगत् से जाग्रत अवस्था के जगत् को भी श्रेष्ठतर और दीर्घकाल तक सत्य रहने वाला माना ही जाता है।[८१] साथ ही जहाँ तक सत्यता या असत्यता के साथ आभास या होने के भाव (भवन) का प्रश्न है शंकर भी काशैद की ही भाँति सत्तावान् को सत्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में भी जगत् के पदार्थ सत्ता रूप में तो सत् हैं ही किन्तु विशेष रूप में असत् हैं[८२] अथवा सत् से भिन्न मानने पर असत्य हैं।[८३]

वस्तुतः शंकर ने जगत् की सत्यता की प्रहेलिका[८४] को विविध स्तरों पर, विविध दृष्टियों से सुलझाने का प्रयत्न किया है। वे जगत् की त्रिविध सत्ता मानकर अनुभवों की सत्यता के भिन्न-भिन्न स्तर मानते हैं। अतः जगत् को समष्टि रूप में जानने के अनुभव को उन्होंने सत्-असत् से विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय कहा है। किन्तु जगत् का आशय यदि स्थूल घटपटादि से है तो इसे वे प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा सत्य मानते हैं और पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा से मिथ्या अथवा कम सत्य। दूसरी ओर यदि जगत् को अधिष्ठान अथवा कारण की दृष्टि से देखा जाए तो इसे सत्य कहने में शंकर को संकोच नहीं क्योंकि जहाँ तक सत्ता का प्रश्न है कारण और उसका कार्य दोनों ही सत्य हैं क्योंकि दोनों की अस्तिता त्रिकाल में भी बाधित नहीं होती है।[८५] बाधित होती है तो केवल घटपटादि के रूप में उसकी विकल्पताएं।

अस्तिता तथा अस्तिभातिमयता का भेद

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में कहा जा सकता है कि जहाँ वेदान्त जगत् की सत्ता को मात्र अस्तिता के आधार पर ब्रह्म की ही भाँति सत्य कहता है वहीं काशैद इसकी सत्यता का आधार या कारण केवल अस्तिता को न मानकर 'अस्ति-भाति-मयता' को मानता है क्योंकि उसके अनुसार विश्व या किसी भी वस्तु का स्वरूप केवल अस्ति अथवा केवल भाति नहीं, अपितु अस्तिभातिमय है।

८१. विस्तारार्थ द्र०—'ब्रसूशांभा', २. २. ६.

८२ सर्वं च नामरूपादि सदात्मनेव सत्यं विकाराजातं, स्वतस्तु अनृतमेव। 'छाउभा', ६. ३. २.

८३. सतोऽन्यत्वे अनृतत्वम्। वही ७. ३. २.

८४. शर्मा, 'अवे', पृ० १६८,

८५. 'ब्रसूशांभा', २. १. ११.

अनिर्वचनीयता की आलोचना

अद्वैत वेदान्त में आखिर जगत् को अनिर्वचनीय क्यों कहा जाता है ? वह इसलिये कि इसके दार्शनिकों को केवल सत् अथवा असत् कहने में खतरा नजर आता है। यदि अनादि काल से प्रत्यक्ष हो रहे इस जगत् को असत् कहा जाता है तो यह कथन प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी होगा। दूसरी ओर यदि सत् कहा जाता है तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्म की सत्स्वरूपता में विकार उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। एवं एकाधिक अथवा नानात्व के सत् हो जाने से अद्वैतवाद के मन्तव्य में दोषोत्पत्ति की भूमिका तैयार हो जाती है। साथ ही जगत् अथवा माया को अनिर्वचनीय कहकर वेदान्त के विविध वाक्यों में संगति स्थापित करने का जो सूत्र शंकर ने ढूंढ़ा था, वह छिन्न-भिन्न हो जाता है।

इस प्रसंग में भास्कर वेदान्तियों से पूछते हैं कि यदि यह अनिर्वचनीय है तो आप इसे कहकर वचनीय क्यों बनाते हैं ? वेदान्ती के यह कहने पर कि हम जगत् किंवा माया अथवा अज्ञान का अनिर्वाच्य के रूप में व्याख्यान मात्र करते हैं, भास्कर कहते हैं कि तब इसमें और ब्रह्म में क्या भेद रहा ? ब्रह्म भी तो अनिर्वचनीय है क्योंकि उसके विषय में भी श्रुति है—'यतो वाचो निवर्तन्ते।'[८६]

वस्तुतः इस प्रकार के रोचक आरोप–प्रत्यारोपों के गर्भ में मुख्य बात अनिर्वचनीय शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हैं। शंकर अनिर्वचनीय को सत् असत् से विलक्षण मानते हैं किन्तु शैव दार्शनिकों की दृष्टि में, जिसका शब्दों द्वारा व्याख्यान सम्भव न हो वह अनिर्वचनीय है। दूसरे, वेदान्ती इसे विलक्षण कहकर इसकी सत्यता के साथ असत्यता जोड़ देता है, जब कि काशैद में साहस-पूर्वक समस्त सत् को अनिवार्यतः सत्स्वभाव मानते हुए शिव में मान लिया गया है और असत् तो स्वयं कुछ है ही नहीं ऐसी व्याख्या करके अनिर्वचनीयता की बाध्यता से छुटकारा पा लिया गया है। वस्तुतः काशैद में अनिर्वचनीयता नाम की कोई वस्तु नहीं, कोई प्रसंग नहीं। सब कुछ सत्य है, शिवात्म है। जगत् भी शिवात्म है और सत्य है। सत्यता का आशय मात्र सत्तावान् नहीं अपितु सत् में आभासित होने वाला भी है।

सत्यता की व्याख्या के इस सूक्ष्म दृष्टि-भेद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काशैद और वेदान्त, दोनों ही अद्वैतवादी मत दर्शन के क्षेत्र में इस

८६. अनिर्वाच्य एव स इति चेत् तर्हि त्वया कथमुक्तः। अनिर्वाच्यतयेति चेत्, तर्हि सोऽपि ब्रह्मैव। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुत्या ब्रह्मण एवानिर्वाच्यत्वकथनात्। 'भा', १, १. १. १. पृ० १३.

बात के सुन्दर उदाहरण हैं कि कोई दो विचारधाराएं एक दूसरे के निकटतम होते हुए भी कितनी दूरतम हो सकती हैं तथा दो विचार-धाराओं में परमतत्त्व के स्वरूप का सूक्ष्म मतभेद धीरे-धीरे किस प्रकार बृहत्तर होता जाता है।

(ङ) नानात्व

प्रमातृ-प्रमेय, जड़-चेतनादि के वैचित्र्य के कारण, विश्व में नानात्व की अनुभूति होती है। अद्वैतवादी दार्शनिकों के सम्मुख इस नानात्व के अन्तर्गत अनेक चुनौती-भरे प्रश्न हैं, यथा यह नानात्व सत्य है अथवा असत्य, एक परम-तत्व से भिन्न है अथवा अभिन्न, परम तत्त्व और नानात्व में क्या सम्बन्ध है, यदि परमार्थ तत्व एक है तो इस नानात्व का कारण क्या है आदि। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस नानात्व के दो पक्ष हैं–व्यवहाररूप में प्रसिद्ध जड वस्तुओं का नानात्व और चेतन जीवों का नानात्व अर्थात् जीव एक है अथवा अनेक हैं।

शांकर मत में सत्यता तथा नानात्व का सम्बन्ध

जहाँ तक जड जगत् के नानात्व का प्रश्न है शंकर का दृष्टिकोण द्विविध है। जगत् व्यावहारिक रूप में जितना सत्य है उसी रूप में इसका नानात्व भी, एवं परमार्थ रूप में जगत् जिस प्रकार मिथ्या या द्वैत प्रपंचमात्र है, उसी रूप में नानात्व भी मिथ्या है। वस्तुतः शंकर इस सृष्टि का होना परमार्थतः नहीं मानते। वे कहते हैं कि यदि वस्तुतः सृष्टि हुई हो तब तो इसके नानात्व का प्रश्न उत्पन्न हो और उसे सत्य माना जाए। किन्तु शास्त्रों में 'नेह नानास्ति किंचन' आदि वाक्यों द्वारा द्वैतभाव अथवा नानात्व का निषेध किया गया है।[८७] अतः इस मत में जगत् के नानात्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। तथापि व्यावहारिक स्तर पर जिस नानात्व की चर्चा की जाती है वह माया है और उसका कारण भी अनिर्वचनीय माया ही है।

शैव दृष्टि

काशैद में जगत् शिवात्म है—शिवरूप है। सभी पदार्थ चाहे वह पाषाण ही क्यों न हो, जड़ नहीं, चेतन ही हैं।[८८] जड़ का अर्थ अशिव है, असत् है, और असत् वस्तु का परमार्थ भी असत् ही है। अतः शिव-शक्ति के सामरस्यवादी इस अद्वयवाद में जड़ अथवा असत् अथवा अशिव के विचार का कोई प्रसंग नहीं।

सांख्य के अनुसार चेतन को भोक्ता एवं जड़ को भोग्य माना जाता है। इसी तरह न्यायादि मत में जड़ को ग्राह्य एवं चेतन को ग्राहक माना जाता है।

---

८७. द्र०–'मांकाभा', ३. २४०.

८८. विस्तारार्थ द्र०–'भा', १, १. १. ३.

परन्तु काशैद में भोक्ता एवं भोग्य तथा ग्राह्य एवं ग्राहक शिव ही है। ये भेद उसी में उपचरित होते हैं। वही इन नाना रूपों में आभासित होता है। उसके अतिरिक्त वस्तुतः न कोई ग्राह्य है न ग्राहक, न भोक्ता और न भोग्य।[८९] शिव के इस नाना रूप से यह समझना भूल होगी कि उसे नाना रूपों में आभासित होने के लिए, परिणत अथवा विवर्तित होना पड़ेगा अथवा उसमें सावयवत्व का दोष आयेगा। वह किसी भी अवस्था में सावयव नहीं।[९०] कारणवाद एवं जगत्-सर्जना के प्रसंग में इस पर विचार किया जा चुका है।

अतः जड़ अथवा चेतन दोनों ही दृष्टियों से इस मत में नानात्व परमार्थतः नहीं है[९१] किन्तु जगत् की भाँति व्यवहार-सत्य है; भेद-पूर्ण व्यवहार का आधार शिव-शक्ति के विभाजन की कल्पना मात्र है।[९२]

मतद्वय का तुलनात्मक विवेचन

जड़ जगत् के नानात्व के प्रति शांकर एवं शैव-दृष्टियों का भेद स्पष्ट है। शंकर केवल जगत् की व्यावहारिकता से ही इसका सम्बन्ध जोड़ कर जगत् की भाँति इसे सत्य मानते हैं। किन्तु काशैद में जगत् की जड़ कही जाने वाली वस्तुओं को चेतन मानकर इसको परमार्थिकता की दृष्टि से देखा गया है। जड़ के यथार्थ स्वरूप को चेतन मानते हुए उन्हें परमतत्त्व शिव के अन्तर्गत माना गया है। इस मत में भेद मिथ्या नहीं, अपितु शिव-रूप में है। भावों को शिव रूप समझना ही ज्ञान है।

अतः काशैद में जड़ का नानात्व, जड़ का नहीं वस्तुतः चेतन का नानात्व है जबकि शांकर मत में जड़ का नानात्व जड़ का ही नानात्व है किन्तु वह जगत्

८९. न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति……। 'प्रहृवृ' सूत्र ३;
…… एवमयं भगवान् मायाशक्त्या स्वात्मककल्पेऽपे भाववर्गे कांश्चित् पुर्यष्टकस्वरूपान् वेद्यखण्डानपि अहन्ताव्यवस्थारसाभिषिक्तान् वेदकी करोति, कांश्चित् वेद्यीकरोति ……। 'पसावि', ८;
न पुनः शिवव्यतिरिक्तं किंचित् पदार्थजातमस्ति। एष एव च भगवान् शिवः स्वातन्त्र्यान् भोक्तभोग्यलक्षणं प्रमातृप्रमेययुगलकं क्रीडनकमिव समुत्थापयति। तदपेक्षया अयं भेदप्रधानो व्यवहारः। वही, ५; और भी द्र०—वही, १३.

९०. ……न कश्चित् कस्यामप्यवस्थायां सावयवः स्यात्। स्वयंशिवात्मतयावस्थाने च किमपेक्षया भोग्यता यया सावयतत्वं स्यात् 'शिदृवृ', ३. ११४.

९१. अयं भावः—अस्मन्मते सर्वथा शिवैकरूपत्वं प्रतिपादनीयं तच्च भावनामेकत्वमस्तु अनेकत्वं वास्तु न केनापि खण्ड्यत इति। वही, ३. ७. १.

९२. आलेख्य विशेष इव गजवृषभयोर्द्वयोः प्रतिभासम्। एकस्मिन्नेवार्थे शिवशक्तिविभागकल्पनां कुर्मः। 'मर्म', २८.

की तरह व्यावहारिक सत्य है। इस मत में पुरुष के नानात्व पर ही प्रमुख रूप से विचार किया गया है, जड़ जगत् के नानात्व पर नहीं।

शंकर जीवों के नानात्व को उपाधि-भेद[६३] से उपचरित मानते हुए जीवों अथवा चेतन तत्त्वों के नानात्व का परमार्थदृशा निषेध करते हैं। इस प्रसंग में अद्वयवादी काशैद शंकर से पूर्ण सहमत है। जीव-सम्बन्धी इस पक्ष का मोक्ष के प्रसंग में आगे विवेचन किया जायेगा। अत: इस विषय में यहाँ मात्र यही कहना पर्याप्त है कि दोनों ही मत, परमार्थदृशा, जीवों का नानात्व नहीं मानते हैं।

जड़ एवं चेतन दोनों ही के व्यावहारिक नानात्व का कारण शांकर मत में अनिर्वचनीय माया तथा काशैद में शिव की अविच्छिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति है।

शंकर के मतानुसार जिस प्रकार मायावी अपनी माया से तथा स्वप्नस्रष्टा अपनी स्वप्नदर्शन माया से तीनों ही कालों में तनिक भी स्पृष्ट नहीं होता क्योंकि वह माया अवस्तु है, उसी प्रकार परमात्मा भी संसार रूपी माया से सर्वथा अस्पृष्ट है, परे है। वह सभी भेदात्मक अवस्थाओं से अव्यभिचरित है।[६४] ब्रह्म को यद्यपि अधिष्ठान कहा गया है, तथापि वह भी व्यावहारिक कथन ही है। वह सब व्यापारों से अतीत और परिणाम-रहित है। अधिष्ठान कहने से भी वह सावयव नहीं होता क्योंकि कोई भी वस्तु-सत्य अविद्या-कल्पित-रूप भेदों के कारण सावयव नहीं होता। तिमिर दोष से दूषित चन्द्रमा अनेक-सा दृश्यमान होने पर भी अनेक नहीं हो जाता। वैसे ही अविद्या के कल्पित नामरूपात्मक, व्यक्त और अव्यक्तरूप सत् और असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीयरूप भेद से ब्रह्म परिणामादि व्यवहारों का आश्रय होता है फिर भी इससे उसकी निरवयवता बाधित नहीं होती है।[६५]

काश्मीरीय शैव दृष्टि के अनुसार परम तत्त्व जगत् के नानात्व एवं वैचित्र्य से प्रभावित नहीं है किन्तु जगत् के इस व्यवहार का विस्फार करने वाली स्वातन्त्र्य शक्ति शान्त एवं अविच्छिन्न रूप में उसमें विद्यमान रहती है। यह शक्ति (अथवा शंकर की भाषा में कहा जाए तो माया) मायावी की माया आदि की भाँति मिथ्या नहीं है, सत्य है। शक्ति की इस सत्यता के उपरान्त भी शिव तत्त्व पूर्ण, शुद्ध एवं एक ही बना रहता है। यही इस मत का शांकर अद्वैतवाद से वैलक्षण्य है तथा यही इस रहस्यवादी अद्वयवाद का रहस्य एवं मर्म है।

---

६३. द्र०-'ब्रसूशांभा', ३. २. ३४.

६४. वही, २. १. ६.

६५. वही, २. १. २७.

२

बौद्ध मत एवं उसकी आलोचना

काशैद एवं वेदान्त दर्शनों के जगत्-सम्बन्धी विचारों के विवेचन के उपरान्त प्रस्तुत विभाग में बौद्ध मत का विवेचन अपेक्षित है। काशैद के दार्शनिकों ने इस प्रसंग में बौद्धों के दो पक्षों को आलोचनार्थ लिया है—आलयविज्ञान की क्षणिकता तथा वस्तु का स्वभाव।

शैव पक्ष

काशैद के अनुसार सभी आभास महासमुद्र की भाँति संवित् में विश्रान्त हैं।[९६] संवित्, परम तत्त्व का शिवपक्ष अथवा प्रकाश-पक्ष है। जो पदार्थ इस पक्ष में विश्रान्त है वही सत् है। साथ ही प्रकाश चित् है जिसका स्वभाव चिति अथवा विमर्श है। अब यदि जगत् के आभासों को प्रकाश, चित् अथवा संवित् में विश्रान्त नहीं माना जाएगा तो ये अप्रकाश एवं अचित् हो जाएंगे। इनके अप्रकाश होने का अर्थ यह होगा कि फिर ये कभी किसी के प्रति प्रकाशित नहीं होंगे तथा इस प्रकार सर्वान्ध्य प्रसंग उपस्थित होगा। दूसरी ओर इन्हें चित् में विश्रान्त न मानने का अर्थ अचित् मानना होगा। इस दर्शन में अचित् असत् है, अतः उनका असत् होना ही परमार्थ हो जाएगा।[९७] दूसरी ओर यदि विमर्श पक्ष की दृष्टि से देखें तो उस विमर्श अथवा स्वातन्त्र्य की यही कृतार्थता है कि वह प्रकाश में विश्रान्त रहे। प्रकाश पक्ष में विमर्श की विश्रान्ति ही अहंता है।[९८] शिव शक्ति के बिना शव है परन्तु शक्ति भी शिव के बिना निरालम्ब किंवा असत्कल्प है। अग्नि के बिना दाहकता कहाँ और किस पर आश्रित होगी? जगदाभासों की संविनिष्ठा मानने में इस दर्शन की यही विचार-प्रक्रिया है।

विज्ञानवादानुसार आलयविज्ञान का स्वरूप

विज्ञानवाद के मतानुसार आलयविज्ञान समस्त विज्ञानों का उत्पत्ति-स्थान है।[९९] इसी को समस्त विज्ञानों एवं धर्मों का आश्रय भी कहा गया है।[१००] इसे

९६. …… प्रमातृरूपे महासंवित्समुद्रे प्रतितिष्ठन्ति। 'ईप्रवि', १ ७. २.

९७. …… संविद्विश्रान्ति विनासत्कल्पत्वात् … । 'अजडप्रमातृसिद्धि', १३.

९८. इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥ वही, १५.

९९. 'त्रिंशिका', २.

१००. 'त्रिंशिकाभाष्य', २.

हेतुरूप तथा आश्रयरूप कहकर, काशैद की भाँति, समुद्र से इसकी उपमा दी जाती है अर्थात् समुद्र जिस प्रकार तरंगों का कारण एवं आश्रय है उसी प्रकार आलयविज्ञान विविध-विज्ञानों का कारण एवं विश्रान्ति-स्थान है। आत्मा को मानने वाले अद्वैत-वादी मत भी समस्त जड़ एवं चेतन का विश्रान्ति-स्थान आत्मा को मानते हैं। सांख्य जैसा द्वैतवादी मत जड़-जगत् का विश्रान्ति-स्थान प्रधान को और चेतनों के पुरुष-बहुत्व का विश्रान्ति-स्थान पुरुष को मानता है।

संवित्, आलयविज्ञान एवं आत्मा की तुलना

संवित्, आलयविज्ञान एवं आत्मा को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट है कि आलयविज्ञान क्षणिक है और निरन्तर परिवर्तनशील है, किन्तु आत्मा तथा संवित् नित्य, विभु एवं अपरिवर्तनशील हैं। आलयविज्ञान ज्ञानरूप है, ज्ञाता नहीं। न्याय, वैशेषिक मतानुसारी आत्मा ज्ञाता है और ज्ञान उसका धर्म अथवा गुण है। परन्तु काशैद के संवित् का इनसे वैशिष्ट्य यह है कि वह न केवल ज्ञान है और न ही ज्ञानरूप विच्छिन्न गुण का आश्रयरूप ज्ञाता है अपितु ऐसा आश्रय है जिसका अविच्छिन्न स्वभाव ही प्रकाशन अथवा ज्ञान है। इस मत में केवल ज्ञान अथवा केवल प्रमाता को मानने से विश्व-विश्रान्ति की व्याख्या सम्भव नहीं क्योंकि दोनों ही जड़ता की स्थितियाँ हैं। ज्ञान, आश्रय रूप ज्ञाता के बिना, क्षणिक होने से जड़ है और निरालम्ब है तथा ज्ञान को प्रमाता का अविच्छिन्न स्वभाव न मानने के कारण वह भी जड़ ही है।

वस्तु की क्षणिकता एवं अर्थक्रियाकारित्व

क्षणिकवाद के नियमानुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति का आशय अर्थक्रिया-सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य किसी नित्य वस्तु में नहीं अपितु क्षण-स्थायी वस्तु में ही सम्भव है। जगत् के पदार्थों को नित्य मानने पर उनकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठेगा क्योंकि स्थिर पदार्थों में क्रमशः अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य नहीं रह सकती। यह भी नहीं माना जा सकता कि नित्य पदार्थ अन्य किसी सहकारी कारणों से क्रमश इस कार्य-प्रपंचरूप जगत् को जन्म देते हैं। इन सहकारी कारणों को नित्य पदार्थों के अर्थक्रियाकारित्व का कारण माना जाता है क्योंकि तब वे स्वयं भी नित्य वस्तु के कारण बनेंगे और वह नित्य वस्तु इनके द्वारा ही उत्पन्न होना चाहिये क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य इन्हीं में है और नित्य वस्तु सदा विद्यमान होने से उत्पन्न हो नहीं सकती।[१०१] इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह है कि इन सहकारी कारणों एवं नित्य पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध क्या माना जाएगा। तादात्म्य मानने पर इनमें भेद नहीं रह पाएगा तथा इन्हें परस्पर

१०१. अथापि सन्ति नित्यस्य क्रमिण: सहकारिण.।
यानपेक्ष्य करोत्येष कार्यग्रामं क्रमाश्रयम् ।। 'तत्त्वसंग्रह,' का. ३९९.
और भी द्र०—वही, ३९७-४००,

भिन्न मानने पर, इन्हें सम्बन्धित करने के लिए अन्य सम्बन्धी की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होंगे, अतः इनमें कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है और सम्बन्ध के अभाव में नित्य वस्तु से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। फलतः वस्तु क्षणिक है तथा उनमें अर्थक्रियाकारित्व ही होता है।[102]

शैवमतानुसार वस्तु एवं उसकी प्रकाशमानता में अभेद

बौद्ध के उपर्युक्त मत से भिन्न काशैद की यह मान्यता है कि जिन पदार्थों का इदं-रूप में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट ज्ञान होता है उनकी सत्ता तभी सम्भव है जब उन्हें स्वप्रकाश नित्य आत्मा में माना जाए। काशैद वस्तु और उसकी प्रकाशमानता में अभेद मानता है। बौद्ध मत में यह अभिन्नता इसलिये सम्भव नहीं कि उक्त मतानुसार ज्ञान तो स्वप्रकाश है, किन्तु विषय स्वप्रकाश नहीं। तब दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वस्तु कैसे अभिन्न हो सकती हैं? दूसरी बात यह कि यदि इस कठिनाई से बचने के लिए वस्तु को ज्ञान के द्वारा प्रकाशित माना जाए तो या तो वस्तु सब के प्रति सर्वदा प्रकाशित होगी या किसी के प्रति नहीं होगी अथवा केवल नील ही रूप में प्रकाशित होगी। क्योंकि दो स्वतन्त्र वस्तुओं को एक-दूसरे पर आश्रित तो कहा नहीं जा सकता। अथवा अपने में यह न नील होगी न अनील। क्योंकि विचार के प्रकाशन के बिना किसी वस्तु के विषय में सकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता।[103] दूसरी ओर ठीक यही कठिनाई ज्ञान की प्रकाशता के बारे में उपस्थित होगी कि या तो वह सबके प्रति प्रकाशित होगी या किसी के प्रति नहीं, अपने में प्रकाशित होगी या वह भी नहीं। इस प्रकार यदि ज्ञान को स्वप्रकाश मानें और वस्तु को अप्रकाश के स्वभाव से रहित मानें और तब भी इन दोनों में अभिन्नता मानते हैं तो सर्वान्ध्य प्रसंग उपस्थित होता है। परन्तु यदि बौद्ध यह तर्क देता है कि विषय में प्रकाशता इन्द्रिय एवं आलोक आदि के क्षणों के कारण आई है तो भी कठिनाई पूर्ववत् बनी रहती है।[104]

१०२. 'तत्त्वसंग्रह', ८. ४०१-३.

१०३. अर्थो नीलादिः तस्य नीलादिरूपतैव यदि प्रकाशमानता न पुनः सापरा काचित् अर्थ-शरीरोत्तीर्णा प्रकाशात्मता तर्हि यथा सर्वान् प्रति नीलमेव तत्संभवानया भण्यते, न कंचित् वा प्रति, वस्तुतो वा स्वात्मन्येव तत् नील परस्य परनिष्ठत्वानुपपत्तेः, स्वात्मनि वा न नील न अनील प्रकाशानुग्रहेण विना व्यवस्थानायोगात्। तथा प्रकाशमानतापि अस्य सर्वान् प्रति न कंचिन् वा प्रति अपि तु स्वात्मन्येव, स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः। 'ईप्रवि', १ ५. २;
अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न काचित्। वही, १. ५ ३, और भी द्र०– 'शिदृवृ', ४. ६-७, 'तन्त्रा', १०. २८-२९.

१०४. अथ इन्द्रियालोकादिक्षणवर्गात् प्रकाशरूपोऽसौ नीलक्षणो विशिष्ट एव जातः एवमपि स एव प्रसंगः ···। 'ईप्रवि', १. ५. २.

अतः काशैद की मान्यता है कि विषय का स्वभाव ही प्रकाशन है। यही उसका सत्त्व है। विषय की प्रकाशता उससे अभिन्न है, ऐसा कहना तभी सम्भव है जब ज्ञान और विषय दोनों को प्रकाश-स्वभाव मानकर अभिन्न माना जाए,[१०५] अन्यथा ज्ञानकाल में विषय जो निश्चय ही प्रकाशित होता है, वह सम्भव नहीं होगा। उसकी व्याख्या असम्भव होगी।

विषय-प्रकाशता की समर्थक युक्तियाँ

विषय में प्रकाशता मानना इसलिये भी अनिवार्य है कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी व्याख्या से ज्ञान-प्रक्रिया फिर सम्भव नहीं होगी। प्रमाता के संपर्क से विषय में प्रकाशमानता नहीं मानी जा सकती क्योंकि प्रमाता के इन्द्रियादि साधन विषय की प्रकाशता के कारण नहीं हो सकते। ऐसा मानने में कठिनाई यह उपस्थित होगी कि विषय या तो उसी प्रमाता के प्रति प्रकाशित होगा जिसके संपर्क में वह आया है, अन्य प्रमाता के प्रति नहीं। क्योंकि विषय की प्रकाशता का कारण प्रमाता मानने पर इनमें कार्य-कारणभाव होगा और कार्य-कारणभाव में यही होता है कि एक कारण एक कार्य को ही जन्म देता है जैसे बीज अंकुर को। अंकुर बनने के बाद अंकुर बीज पर निर्भर नहीं करता।[१०६] इस प्रकार विषय में यदि प्रकाशमानता नही है तो वह प्रमाता के कारण से बाद में भी उत्पन्न नही की जा सकती और तब विषय अप्रकाश होगा जिसके फलस्वरूप विषय का ज्ञान और लोक-व्यवहार सम्भव नहीं होगा।

इसी विचार-प्रक्रिया के क्रम में अद्वयवादी काशैद का मत है कि यदि विविध विषयों में इस प्रकाशता को भिन्न-भिन्न माना जाएगा तो उनका एकत्व कदापि सम्भव नहीं होगा क्योंकि तब ये विविध प्रकाश अथवा घटपटादि की विविध प्रकाशमानता अपने में ही स्थित होगी। परन्तु लोक-व्यवहार के लिए इनमें ऐक्य परमावश्यक है, अतः एक ही प्रकाश को मानकर उसी के अन्तर्गत इनकी प्रकाशमानता सिद्ध होती है।[१०७]

ज्ञानों में परस्पर भेद की समस्या

विज्ञानवाद बाह्यार्थ और ज्ञाता का निषेध करके सबको ज्ञान-सन्तान अथवा

---

१०५. अर्थस्य स्वरूपं प्रकाशमानता प्रकाशाभिन्नत्वम्। 'ईप्रवि', १. ५. २;
प्रकाशमानतैव अनुन्मूल्यमानतथोचितविमर्शपरिस्पन्दाभावस्य सत्त्वम्। वही, २. २. ७.

१०६. द्र०—वही, १ ५ २.

१०७. प्रकाशश्च यदि घटेऽन्यः पटेऽन्यः तदा अनुसंधानस्य अयोगः, द्वयोः प्रकाशयोः स्वात्ममात्रपर्यवसानात्, ··· तस्मात् एक एव प्रकाशः। वही.

क्षणिक विज्ञानों का सतत, प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रवाह मानता है। इस मत में यह शंका उठना स्वाभाविक है कि जब नील-ज्ञान और पीत-ज्ञान भी ज्ञान ही हैं तब इस प्रकार के विविध ज्ञानों में, स्थिर ज्ञाता के अभाव में, परस्पर भेद कौन करेगा ? दूसरी ओर यही प्रश्न विज्ञानवादी बौद्ध की ओर से काशैद के प्रति उठाया जा सकता है कि यदि सब कुछ शिव है, शिव ही सबका आत्मा है और वह एक है तो वही नील एवं पीत का भी आत्मा होगा तब काशैद के मत में नील और पीत का भेद कौन करेगा और कैसे करेगा।[१०८] यही समस्या चेतन-अचेतन में भेद के प्रसंग में भी है।[१०९]

इस प्रकार दोनों मतों के सन्मुख ज्ञानों में परस्पर भेद का प्रश्न उपस्थित किया जाता है।

विज्ञानवाद के वासना-विचार की समालोचना

विज्ञानवाद में बाह्यार्थ की विचित्रता का कारण वासना माना गया है। निर्विकल्पक ज्ञान ही वासना के कारण, घट-ज्ञान पट-ज्ञान आदि सविकल्पक ज्ञानों के रूप में आभासित होता है। इस पर काशैद का प्रश्न है कि वासना तो संस्कार-मात्र है जिससे स्मृति उत्पन्न होती है। इस वासना-संस्कार से स्मृति तो सम्भव है, किन्तु ज्ञानों में विचित्रता का कारण वासना नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान विविध हैं, अतः उनकी कारण रूप वासनाएं भी अनेक या भिन्न-भिन्न होंगी। साथ ही यह शंका भी उठती है कि वासनाओं की भिन्नता या विचित्रता का कारण क्या है।[११०] यदि यह मानते हैं कि वासना ज्ञान की शक्तिमात्र है जो विषयों को अवभासन में समर्थ बना सकती है, प्रबोध या ज्ञान उसके स्वकार्य-सम्पादन में एक स्थिति है तथा इस प्रकार संस्कार ही ज्ञान के विषय रूप वैचित्र्य में कारण हैं।[१११] परन्तु इस व्याख्या पर काशैद की शंका है कि भले ही ज्ञान के अन्तर्वर्ती आभासों या प्रमेयों के विषय में यह कहा जाए कि उनकी सत्ता या प्रकाशता अवास्तविक है फिर भी जो इन विचित्र आभासों का कारण है उसे तो सत्य मानना ही पड़ेगा; क्योंकि यदि

---

१०८. 'ईप्रविवि', १, पृ० ४३-४४.

१०९. विज्ञानसंतानवादिनां मते सर्वेषां भावानां क्षणिकत्वात् स्वलक्षणात्मके प्रातिस्विके स्वरूपे विशेषाभावः संतानिन एकस्यानुसधातुरनभ्युपगतत्वात्। एव चेतनाचेतनानामपि स्वात्मनि निर्विशेषत्वम्। 'अजडप्रमातृसिद्धि', १.

११०. तथा हि विज्ञानवादिना यो हेतुः वैचित्र्ये वासनाप्रबोधलक्षण उक्तः स न उपपद्यते स्मृतिजनकः संस्कारो वासना इति तावत् प्रसिद्धम् ···। 'ईप्रवि', १. ५. ५.

१११. अस्तु वा नीलाद्याभाससंपादनसामर्थ्यरूपा ज्ञानस्य योग्यतात्मिका शक्तिः वासना, तस्याश्च स्वकार्यसम्पादनान्मुख्यं प्रबोधः, ततो बोधेषु आभासवैचित्र्यम् इति। वही.

उसे सत्य नहीं मानेंगे तो इसका अर्थ होगा कि वह अवस्तु है, असत्य है और फिर भी सब कार्यों को करने की सामर्थ्य उसमें है; और यह कैसे सम्भव है कि जो अवास्तविक है वह सर्व सामर्थ्यवान् हो।[११२]

यदि इन वासनाओं को परमार्थ सत्य न मानकर संवृत्ति सत्य मानते हो तो फिर इन्हें विविध प्रत्यक्षों (ज्ञानों) का कारण नहीं माना जा सकता।[११३]

विज्ञानवादी कहता है कि ये वासनाएं जगत् के वैचित्र्य में उस अर्थ और सीमा में कारण हैं जिस अर्थ में सत्य हैं। तब काशैद कहता है कि ऐसी स्थिति में इन वासनाओं का वास्तविक रूप होगा निर्विकल्प ज्ञान (क्योंकि विज्ञानवादानुसार सत्य का अर्थ यही है) और निर्विकल्प ज्ञान में विकल्प नहीं रहेंगे।[११४]

अतः क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध मतानुसार नीलादि विषयों में वैचित्र्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। वासना में ही जब विचित्रता सिद्ध नहीं की जा सकती और उनके वैचित्र्य का कारण जब विज्ञानवादी नहीं बता सकता तब विचित्र वासना के कार्य, ज्ञान-वैचित्र्य की व्याख्या वह कैसे कर सकता है?

यदि तर्क-विस्तार के लिए मान भी लें कि वासनाएं विचित्र हैं, तो भी वासना-वैचित्र्य को धारण करने वाले देशकालादि को ही विज्ञानवादी नहीं मानता, तब उनके अभाव में वासना-वैचित्र्य संभव नहीं होगा और तब एक ही प्रबोध होगा जो एक साथ नीलादि रूपों में आभासित होगा।[११५]

विज्ञानवाद वासना-संस्कारों की विचित्रता का कारण, स्वसन्तानवर्ती भिन्न-भिन्न ज्ञानों को बताता है।[११६] इसके उत्तर में काशैद का कहना है कि यह सम्भव नहीं क्योंकि सुख, दुःख, नील, पीत, पूर्व, उत्तर, देशिक एवं कालिक भेद विज्ञानवादानुसार विज्ञानमात्र रूप हैं और विज्ञान केवल बोध-स्वरूप, प्रकाश मात्र

११२. इह यद्यपि आभासानां ज्ञानान्तर्वर्तिनाम् अपारमार्थिकत्वं संवृतिसत्वम् उच्येतापि, तथापि यदेषां कारणं तद् वस्तु सदेव अंगीकार्यम् अवस्तुनः सर्वसामर्थ्यविरहितालक्षणस्य कार्यसंपादनप्राणितसामर्थ्यात्मकस्वभावानुपपत्तेः। 'ईप्रवि'.

११३. अथ संवृतिसत् तर्हि तेन रूपेण कारणतानुपपत्तिः। वही.

११४. अथ येन रूपेण आसां पारमार्थिकता तेन कारणता, तत् तर्हि ज्ञानमात्रं तत्त्व अभिन्नम् इति नीलाद्याभासरूपस्य कार्यभेदस्य असिद्धिः। वही.

११५. भवन्तु वा वासना भिन्नाः तथापि बोधमात्रातिरिक्तस्य देशकालभावादेः प्रबोधकाभिमतस्य विचित्रस्य कारणस्य अभावात् प्रबोधो विचित्र इति एक एव प्रबोधः इति सममेव नीलादिवैचित्र्यं भासेत। वही.

११६. अथ स्वसंतानवर्तीनि ज्ञानान्तराणि विचित्राणि प्रबोधकारणानि इति तदसत्, सुखदुःखनील-पीतादि पूर्वापरादिदेशकालभेदस्य विज्ञानमात्र रूपत्वे विज्ञानस्य च प्रकाशमात्रपरमार्थतायां स्वरूपभेदासम्भवे तथा बोधवैलक्षण्यानुपपत्तेः। वही.

है। अतः जब उसी के स्वरूप में विचित्रता नहीं है तब उसके कार्य, विविध ज्ञानों में वैचित्र्य की क्या सम्भावना ?

वासना की इस कारणता पर शंकर ने भी अनेक आपत्तियां उठाई हैं तथा इस मान्यता से विज्ञानवाद के सिद्धान्त में उत्पन्न होने वाली असंगतियों की ओर संकेत किया है। उनकी आलोचना का सारांश यह है कि वासना भेद का कारण क्या है ? वासना को यदि क्षण भर के लिए ग्राहक में भेद उत्पन्न करने वाला मान भी लिया जाए तो वह ग्राह्य में भेद कैसे उत्पन्न करेगी ? वासना भी तो क्षणिक ही है, उसका कोई नित्य आधार नहीं, तब वह भेद कैसे उत्पन्न करेगी ? सर्वप्रथम जब वस्तु ही नहीं है तब उसके ज्ञान से उत्पन्न वासना की कल्पना करना अनुचित है। फिर वासना तो एक संस्कार विशेष है और संस्कार बिना आश्रय के टिक नहीं सकता। अतः वासना की स्थिति के लिए उपयुक्त प्रमाणों के अभाव में, वासना को ज्ञान-भेद का कारण नहीं माना जा सकता।[११७]

---

११७. विस्तारार्थ द्र०-'ब्रसूशांभा', २. २. ३.

पञ्चम परिच्छेद

परम तत्त्व

१. काश्मीर शैव मत

२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

३. ब्रह्मवाद एवं उसकी समालोचना

१
काश्मीरीय शैवमत

काशैद एक अद्वयवादी दर्शन है। अद्वयवादी होने के कारण वह एक ही तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता मानता है। वही तत्त्व विविध रूपों में आभासित होता है। अतः अन्य आभासित तत्त्वों की सत्ता तो है किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं है।[1]

विभिन्न व्यावहारिक अभिधान

इस दर्शन-मत में उस परम तत्त्व के लिए कोई लौकिक अभियान समुचित नहीं। वह शिव-शक्ति के सामरस्य की ऐसी स्थिति है जो लौकिक शब्दों से पूर्णतः व्यपदिष्ट नहीं हो सकती क्योंकि वह इन शब्दों के परिच्छिन्न अर्थ से अपरिच्छिन्न है।[2] तथापि लोक-व्यवहार और लौकिक-व्याख्यान की दृष्टि से उसे शिव, महेश्वर, प्रकाश-विमर्शमय आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। जब वह परमतत्त्व शुद्ध सृष्टि की अवस्था में आभासित होता है तब उसके लिए शिव शब्द का व्यवहार होता है। इसमें चित् का प्राधान्य होता है।[3]

स्वातंत्र्य स्वभाव

काशैद में परम तत्त्व को महेश्वर भी कहा जाता है जिसका आशय यह है कि वह इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियों के ऐश्वर्य का परम निधान है। ये शक्तियाँ उससे कभी किसी भी देश-काल में विच्छिन्न नहीं होतीं। इसलिये वह नित्य शक्ति से सम्पन्न है, शक्तिमान् शिव है। महेश्वर की नित्य शक्ति-सम्पन्नता इस भेदात्मक जगत् के आभासन और उनकी निवृत्ति में बाधा उत्पन्न कर सकती थी, किन्तु शैव दार्शनिकों ने इसका निराकरण इसे स्वतन्त्र मानकर किया है। इच्छा, ज्ञान, क्रियादि ऐश्वर्य अथवा शक्तियाँ उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति के ही अपर पर्याय हैं। वह इच्छा करने, जानने एवं क्रिया करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। इसी प्रकार

१. स एव ··· विविधेन रूपेणावस्थितो न हि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ता अस्तीति। स्वच्छन्दतन्त्र'. टीका, ११. ३४.

२. व्यपदेष्टुमशक्या-सावकथ्या परमार्थतः। 'विमै', १४;
नात्र योगस्य सद्भावो भावनादेरभावतः।
अप्रमेये परिच्छिन्ने स्वतन्त्र भाव्यता कुतः॥ 'तन्त्रा', २. ७. ६.

३. चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्। 'तन्त्रसार', पृ० ७४.

यह उसका स्वातन्त्र्य स्वभाव है कि वह प्रमातृरूप में प्रकाशित हो या प्रमेय रूप में,[४] भागशः प्रकाशित हो अथवा पूर्णतः और प्रकाशित हो भी या न हो।[५] परमतत्त्व को ज्ञाता और कर्ता मानना तथा ज्ञानादि शक्तियों के प्रयोग में उसे स्वतन्त्र कहना इस दर्शन-मत की ऐसी प्रस्थापना है जिसके कारण अन्य दर्शनों से इसका दृष्टिकोण भिन्न हो गया है। यही दृष्टिकोण इसके लिए स्वातन्त्र्यवाद की संज्ञा सार्थक करता है।

प्रकाश विमर्श

परम तत्त्व के लिये पारमार्थ तत्त्व या पारमार्थिक सत्ता का भी व्यवहार किया जाता है। परमतत्त्व अर्थात् शिव को परमार्थ सत् कहने का भी काशैद का एक विशिष्ट अर्थ है। इस दर्शन में सत्ता का स्वाभाविक अर्थ किया जाता है सत् से युक्त होना अर्थात् भवनकर्तृता। जो सत् है, सत्तावान् है वह असत् तो कभी हो ही नहीं सकता।[६] दूसरे शब्दों मे सत् का अर्थ प्रकाश है और सत्ता का अर्थ प्रकाशवत्ता या प्रकाशमानता। अतः जो भी वस्तु सत् है वह सत्तावान् है, प्रकाशमान है। इसी तरह जो भी प्रकाशित हो रही है, वह भी सत् है। जगत् की समस्त वस्तुएं प्रकाशित हो रही हैं अतः वे सभी सत् हैं। इन्हें सत् और सत्तावान् मानते हुए भी परमार्थ सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि जागतिक वस्तुएं किसी अन्य पर निर्भर हैं। इनकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं अर्थात् ये अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य पर निर्भर हैं।[७] परम सत्ता वह है जो सत्ता के लिये किसी अन्य पर निर्भर न रहे। वह परम स्वतन्त्र है।[८] सर्वश्रेष्ठत्व के इसी दृष्टिकोण से उसे अनुत्तर[९] कहा जाता है।

प्रकाश शब्द विश्वमय परमेश्वर के उस स्वरूप को प्रकट करता है जो समस्त विश्वाभासों के लिये आधार का काम करता है। जैसे बुद्धि सभी मानसिक आकृतियों का आधार होती है। प्रकाश परम तत्त्व के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है। यह दर्पण के सदृश है। दर्पण जिस प्रकार विविध प्रतिबिम्बों को ग्रहण करके

४. परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादि प्रमेयरूपतया च ···। 'ईप्रविवि', १. १.

५. 'ईप्रवि', १. १. २.

६. द्र०– शिदृ, ४. ६.

७. जडस्य सत्तैव कथं चिद् व्यक्तिं विना सिद्धा। स्फुरद्रूपता हि सत्ता। स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता। वही, ४. ७.

८. द्र०–'ईप्रवि', १. १.

९. 'परात्रिशिकाविवृति' (लक्ष्मीरामकृत), पृ० २, १८ एवं २१.

भी दर्पणत्व की, एकत्व की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार शिव तत्त्व के इस स्वरूप में भी उसी के द्वारा सृष्ट सृष्टि आभासित होती है। किन्तु दर्पण और प्रकाश में भेद भी है। दर्पण अपने से बाह्य वस्तुओं का निर्माता स्वयं नहीं होता। उन्हें प्रतिबिम्बित करने के लिए दर्पण को स्वात्म-भिन्न प्रकाश की आवश्यकता होती है क्योंकि अन्धकार में दर्पण कोई प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करता। किन्तु प्रकाश स्वरूप आत्मा के साथ ऐसा नहीं है। वह बिना किसी बाह्य प्रकाश की अपेक्षा के सदा ही स्वरचित प्रतिबिम्बों को प्रकाशित करता रहता है।

आत्मा और विश्वात्मा के सन्दर्भ में प्रकाशस्वरूपता के अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होते हैं, सदा प्रकाशित होते हैं एवं वस्तु के साथ एक होकर आभासित होते हैं। किन्तु आत्मा और विश्वात्मा के सन्दर्भ में प्रकाश स्वरूप में भेद केवल यह है कि आत्मा अपने आन्तरिक एवं बाह्य वस्तुओं से भी प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है; जैसे क्रमशः स्वप्न अथवा कल्पना में और प्रत्यक्ष में। किन्तु विश्वात्मा सर्वमय है। अतः उसकी प्रकाशस्वरूपता पर किसी बाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१०]

इस प्रकार प्रकाशस्वरूपता परमतत्त्व के स्वरूप का अनिवार्य लक्षण है। तथापि यह स्मरण रहना चाहिये कि यह उसके स्वरूप का एक पक्ष है। परमतत्त्व दो के सामरस्य की नित्यावस्था है। अतः प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा पक्ष है विमर्श। प्रकाशस्वरूप आत्मा को मुक्तावस्था में स्वरूप का ज्ञान हो पाना, अन्तर्बाह्य आभासों के अपने पर पड़ने वाले सभी प्रतिबिम्बों की व्याख्या कर सकना, इन्हें संस्कार रूप में ग्रहण किये रहना, स्वेच्छया कभी स्मृति के रूप में इन्हें प्रस्फुरित कर सकना और इन्हीं को कल्पनावस्था में भिन्न रूप भी दे पाना आदि विमर्श के कारण ही सम्भव होता है।

विमर्श ही माहेश्वर्य

विमर्श प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की अभिन्न शक्ति है। इच्छा, ज्ञानादि विविध शक्तियाँ विमर्श के ही विविध रूप हैं।[११] विमर्श स्वरूप के कारण ही

१०. द्र०—Pandey, *Abhi*, p. **326**.

११. विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः। 'ईप्रवि', १. ८. ११,
चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमेशितुः॥ वही, १. ५. १३,
एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण विद्यते।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः॥ 'तंत्रा', १. ६७-८,
और भी द्र०—'ईप्रवि', १. ८. ११.

परमशिव अपने आपको, अपनी ही इच्छा से, अपने ही स्वरूप में, भिन्न रूप में भी आभासित करता है। अपने ही अन्य आभासों को आत्मीय-सा आभासित करता है। पर-अपर दोनों ही आभासों को एक करता है और पुनः भिन्न भी करता है।[१२] विमर्श पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति है। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्वप्रकाश एवं संहारकाल में विश्व संहरण रूप होती है।[१३] इस विमर्श को चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरता, सार, स्पन्द भी कहा जाता है।

महेश्वरानन्द[१४] इस विमर्श की दो कोटियाँ निर्धारित करते हैं—शुद्धविमर्श एवं प्रपंच स्फुरणवैचित्र्यात्मविमर्श। जब विमर्श क्रिया प्रकाशस्वरूप आत्मा में ही स्थिर रहती है तब शुद्धविमर्श कहलाती है तथा जब यह मैं हूँ इस प्रकार इदमिति रूप क्षोभ का अनुभव करने लगती है तो विश्व-विस्तार की अपेक्षा से उसे दूसरी कोटि में रखा जाता है। प्रकाश स्वरूप महेश्वर का यह विमर्श ही माहेश्वर्य है[१५] जो उससे अपृथक् है।

अस्ति-भातिमयता

अतः परमेश्वर के परम तत्त्व के इस विश्वमय को न केवल प्रकाश के द्वारा और न केवल प्रकाश-रहित विमर्श के द्वारा समझा जा सकता है क्योंकि वह केवल प्रकाश या विमर्श स्वरूप नहीं अपितु प्रकाश-विमर्शमय है। प्रकाश और विमर्श उस परम शिव के पूर्ण स्वरूप की दो संज्ञाएं हैं। प्रकाश और विमर्श अस्ति और भाति के सदृश हैं। इस दर्शन की यह महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक मान्यता है कि जिसका अस्तित्व है वह भासित अवश्य होता है। अतः अस्ति और भाति एक ही तत्त्व के दो पक्षों को, स्वरूपों को प्रकट करते हैं। किन्तु तत्त्व वस्तुतः एक ही है और वह केवल अस्ति या भाति नहीं अपितु अस्तिभातिमय है। यही एक परमतत्त्व प्रकाश-विमर्शमय एवं शिवशक्तिमय कहा जाता है।

शिवशक्ति-सामरस्य

उपर्युक्त विवेचन से यह भी फलित होता है कि अस्ति और भाति में,

---

१२. विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति उभयमेकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः। वही.

१३. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिममहमिति स्फुरणम्। 'परा-प्रवेशिका', पृ० २.

या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्। 'अजडप्रमातृसिद्धि,' १५.

१४. यदा स्वस्मिन् हृदयप्रकाशस्वरूप एव आत्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श एव इत्येवं व्यवह्रियते, यदा तु विकल्पोपश्लेषणलक्षणक्षोभमनुभवति, तदा विश्वविस्तारः प्रपंचस्फुरण-वैचित्र्यात्मा विमर्श इति। 'मपं', ११.

१५. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः। 'ईप्रका,' १. ८. ११.

प्रकाश और विमर्श में, शिव और शक्ति में परमार्थतः कोई भेद नहीं। प्रकाश ही विमर्श है और विमर्श ही प्रकाश है।[१६] बिना विमर्श के प्रकाश असत्कल्प है।[१७] ये दोनों कभी परस्पर भिन्न नहीं होते। प्रकाशमान प्रकाश से पृथक् नहीं है और वह प्रकाश विमर्श से भिन्न नहीं है।[१८] इसी प्रकार प्रकाशरूप शिव, विमर्शरूप शक्ति से रहित नहीं है और न ही शक्ति शिव से रहित।[१९] शक्ति-रहित शिव शव है, जड़-तुल्य है। अतः इस दर्शन में शिव-शक्ति का, अग्नि और दाहकता की भाँति, नित्य सामरस्य माना गया है।[२०] इसके साथ ही, सामरस्य की अवस्था में ही जब उसका स्वरूप प्रकाशरूपता अथवा विमर्शरूपता के प्राधान्य से प्रकाशित होता है तभी परम स्वरूप में स्थित परम शिव के लिए विश्वमय, विश्वोत्तीर्ण, प्रकाशविमर्शमय, शक्तिमान् जैसे शब्दों का व्यवहार होता है।[२१]

काशैद में परम तत्त्व के लिए शिवभट्टारक और यदा कदा ब्रह्म शब्द का भी व्यवहार हुआ है। परन्तु ब्रह्म शब्द की व्याख्या इस मत में वेदान्त से भिन्न है। इस व्याख्या-भेद का कारण और आशय क्या है इसका विचार इसी परिच्छेद में अन्यत्र विस्तार से किया जाएगा।

परम तत्त्व के लिए प्रयुक्त ये विविध नाम दृष्टि-सापेक्ष हैं। लोक-दृष्ट्या इन विविध नामों से अभिहित होने पर भी वस्तुतः इस दर्शनानुसार परम तत्त्व समस्त विकल्पों से रहित, शुद्ध, शान्त, लयोदय से रहित एवं सनातन है। वह कालातीत है, देशातीत है क्योंकि देश एवं काल भी उसी का समुल्लास है।[२२]

काशैद के परम तत्त्व की एक अन्य महती विशेषता है उसकी पूर्णता। इस पूर्णता से आशय यह है कि वह अद्वय तत्त्व जगत् के विविध और सत्य रूपों में आभासित होते हुए भी एक और पूर्ण बना रहता है। यह दर्शन एक ही तत्त्व में एकता और अनेकता की एक साथ उपस्थिति को दर्पण के उदाहरण द्वारा युक्ति-युक्त सिद्ध करने का प्रयास करता है।[२३]

---

१६. प्रकाशो हि विमर्शसारः विमर्शोऽपि प्रकाशसारः। 'भा,' १. १. ३., प्रकाशमानता हि प्रकाशा-भेदः। 'शिदृ', ४ ७.

१७. प्रकाशश्च विमर्शं विनाऽसत्कल्प एव। 'भा', १. १. १.

१८ प्रकाशमान न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथग् विमर्शात्। 'विभैवि', १३७

१९. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवशक्तस्तथाभावानिच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शवे जातु न वर्ण्यते। 'शिदृ', ३. २–३.

२०. द्र०-'ईप्रवि, १. ६. ७.

२१. द्र०-'तंत्रावि', ६. ५१.

२२. 'पसावि', १०. ११.

२३. द्र०–वही, ६. ७.

२

बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

बौद्धमत का सत्ताविषयक मत-वैभिन्य

बौद्ध दर्शन का चार दार्शनिक सम्प्रदायों के रूप में श्रेणी-विभाग सत्ता के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर किया गया है । सत्ता-मीमांसा का यह क्रम क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुआ है। बाह्य एवं आभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रत्यक्ष द्वारा स्वीकार करने वाला मत वैभाषिक एवं इनकी सत्ता को अनुमान द्वारा स्वीकार करने वाला मत सौत्रान्तिक है । दोनों ही मत सर्वास्तिवादी हैं[२४] जिनके मतानुसार बाह्य जगत् की सत्ता उतनी ही प्रामाणिक और अभ्रान्त है जितनी आन्तर जगत् अथवा विज्ञान की। विज्ञानवाद का दृष्टिकोण इनसे कुछ भिन्न है। यह बाह्य जगत् की सत्ता को सर्वथा भ्रान्त कल्पित मानता है । इस मत में चित्त ही एक मात्र परमार्थ सत्ता है जिसके नानाविध आभास ही जगत् की संज्ञा पाते हैं। यह चित्त ही विज्ञान है। सत्ता के विषय में चौथा मत शून्यवाद का है । यह सत्ता-विषयक सभी दृष्टिकोण, मान्यताओं का निषेध करता है । इस मतानुसार सत्ता सत्, असत्, सदसत्, एवं न सत् न असत् इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त है अर्थात् बाह्य एवं आन्तर जगत् अथवा विज्ञान किसी की परमार्थ सत्ता नहीं है। परमार्थ सत् निःस्वभाव है, शून्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विज्ञानवाद यद्यपि शून्यवाद के बाद का माना जाता है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से शून्यवाद को बौद्ध दर्शन के चरम कोटि के सिद्धान्त का प्रतिपादक माना गया है ।[२५] जिस अद्वैतवादी दृष्टिकोण से हम बौद्ध दर्शन-सम्प्रदायों को देखना चाहते हैं, उसके लिए भी शून्याद्वैत का विचार, विज्ञानाद्वैत के बाद का ही विकसित रूप प्रतीत होता है । अतः सर्वप्रथम विज्ञानाद्वैत को ही विचारार्थ लेना उपयुक्त है ।

बाह्यार्थ की सत्ता के खण्डन में विज्ञानवाद की युक्तियाँ

विज्ञानाद्वैत, अपने ही दो दर्शन-सम्प्रदायों की बाह्य-सत्ता की मान्यता पर

---

२४. श्चेरबात्स्की सर्वास्तिवाद का अर्थ सर्वदास्तिवाद करते हैं। अर्थात् धर्मों का त्रिकालमें अस्तित्व मानने वाला मत ।
द्र०–*Central Coception of Buddhism*, p. 35.

२५. द्र०–नरेन्द्र देव, 'बौद्ध धर्म-दर्शन', पृ० १७०.

आक्षेप करते हुए कहता है कि जब चित्त के ही आधार पर बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व निर्भर है तब बाह्यार्थ को मानने से क्या लाभ ? चित्त के बिना बाह्यार्थ की अवस्थिति तो सम्भव नहीं किन्तु चित्त की अवस्थिति बाह्यार्थ के बिना भी सम्भव है। अतः चित्त का ही प्राधान्य स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त बाह्यार्थ का अवलम्ब चित्त है किन्तु चित्त अपने अवलम्बन के लिए किसी पर निर्भर नहीं है। अतः बाह्यार्थ की नहीं, एक मात्र चित्त की ही सत्ता है। चित्त को मानना इसलिये भी आवश्यक है कि बाह्यार्थ का निषेध करने वाला कोई तत्त्व होना चाहिये।

विज्ञानाद्वैतवादी बाह्यार्थ का निषेध इसलिये भी करता है कि बाह्यार्थ का ज्ञान, उसके मत में सम्भव नहीं क्योंकि बाह्यार्थ या तो अणुमात्र है या उनका संघात है। दोनों ही स्थितियों में इस प्रकार के बाह्यार्थ का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं।[२६] अतः पूर्णज्ञान की इस असमर्थता के कारण भी यह मत बाह्यार्थ का निषेध करता है। जहाँ तक विज्ञान या चित्त के पूर्ण ज्ञान का प्रश्न है, इस मतानुसार, यद्यपि बुद्ध वचन है कि चित्त चित्त का ज्ञान नहीं कर सकता (न हि चित्तं चित्तं पश्यति) तथापि यह उसे स्वप्रकाश मानकर अन्ततोगत्वा यह घोषणा करता है कि चित्त ही है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।[२७]

आलयविज्ञान का स्वरूप

चित्त की ही मन, विज्ञान आदि संज्ञाएं हैं।[२८] इसे विज्ञानवादी आलयविज्ञान भी कहते हैं। आलयविज्ञान को **लंकावतारसूत्र** में समुद्र के समान कहा गया है। विषयरूप वायु से प्रेरित होकर आलयविज्ञान रूपी समुद्र में विविध विज्ञान रूप तरंगें उठती हैं और इसी में विलीन हो जाती हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट किया गया है कि विज्ञानवाद द्वैतवादी नहीं अपितु अद्वैतवादी है। जिस प्रकार समुद्र और उसकी तरंगों में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार आलयविज्ञान और विविध विज्ञानों में कोई भेद नहीं है।[२९] यह विविध विज्ञानों का आश्रय होते हुए भी स्वयं अनाश्रय है।[३०] अतः इसे आत्मा के सदृश कहा जा सकता है। किन्तु भेद यह है कि आत्मा की तरह इसे एक अपरिवर्तनशील या नित्य नहीं मान सकते क्योंकि यह परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का प्रवाह है।[३१]

---

२६. द्र०-'तांबौसासा', पृ० ५९-६०.

२७. द्र०-Bhattacharya, V., *The Central Conception of Buddhism*, p. 33.

२८. चित्तं मनश्च विज्ञानं···। 'लंकावतारसूत्र', ३. ४०.

२९. 'लंकावतारसूत्र', २. १००.

३०. 'विंशिकाविज्ञप्तिभाष्य', ३०.

३१. वही.

जगत् के समस्त क्लेशों[३२] पदार्थों की उत्पत्ति इसी विज्ञान से होती है अतः यह हेतु रूप है और शेष समस्त जागतिक पदार्थ या धर्म फल रूप हैं।[३३]

आत्मा एवं आलयविज्ञान में भेद

आत्मा से आलयविज्ञान के भेद का अनित्यता के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि आलयविज्ञान की प्रवृत्ति और गति तभी तक है जब तक संसार की प्रवृत्ति है, किन्तु मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति होने पर इसकी व्यावृत्ति हो जाती है।[३४] चूंकि समस्त बौद्ध दर्शन में निर्वाण को मौन, सुख तथा नित्य रूप माना गया है। अन्ततोगत्वा आलयविज्ञान को भी स्थिरमति ने अचिन्त्य सुख और नित्य मान लिया है।[३५] क्योंकि इसे इस अवस्था में भी अनित्य मानना बौद्ध के निर्वाण-सिद्धान्त के इसलिये विपरीत होगा कि तदनुसार जो अनित्य है वह दुःख है।[३६]

इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवाद के आलयविज्ञान का स्वरूप संसार-दशा में क्षणिक और अनित्य होते हुए भी निर्वाण के समकक्ष आकर नित्य और अचिन्त्य बन जाता है। दासगुप्त के मत में आलयविज्ञान की यह अवतारणा जगत्-सम्बन्धी विषयों की समस्या के स्पष्टीकरणार्थ की गई प्रतीत होती है। इसलिये उन्होंने इसे आनुमानिक माना है।[३७]

विज्ञप्तिमात्रता की स्वयंप्रकाशता

वसुबन्धु समस्त प्रपंचों के अधिष्ठान को विज्ञप्तिमात्र कहते हैं। समस्त बुद्धि विकल्पों की कल्पना करना इसी का परिणाम है।[३८] आत्मावधर्म के विविध उपचारों का आश्रय भी यही है।[३९] अतः निर्वाण में कल्पित या उपचार रूप जीवात्मा का निराकरण होता है, बुद्धों के निर्विकल्प साक्षात्कार के विषयभूत अनिर्वचनीय विशुद्ध विज्ञानमात्र का नहीं। नैरात्म्यवाद का अर्थ भी विज्ञान व्यतिरिक्त सभी धर्मों का निराकरण है, विज्ञानमात्र का नहीं क्योंकि इसका निरा-

---

३२. ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम्।
सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयोः॥ वही.

३३. द्र०-वही, २.

३४. त्रिंशिका', २९.

३५. 'त्रिंशिका विज्ञप्तिभाष्य', ३०.

३६. यदनित्यं तद्दुःखम्। अयं च नित्य इति, अस्मात् सुखः। वही.

३७. द्र०-Dasgupta, *HIP*, I, p. 146.

३८. त्रिंशिका, १७.

३९. वही, १.

करण भी विज्ञान के द्वारा ही हो सकता है और जो निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है। इसलिये विज्ञप्तिमात्र का निराकरण वदतोव्याघात है।[४०]

विज्ञप्तिमात्रता को प्रमाणों या चिन्तन के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।[४१] यह प्रकृतिप्रभास्वर अर्थात् स्वप्रकाश और स्वतः सिद्ध है। किन्तु विशुद्धधर्मता चित्त या विज्ञप्तिमात्र ही प्रकृति-प्रभास्वर है, अन्य चित्त नहीं।[४२] इसे ही आकाश के समान विमल, निर्विकार और परिनिष्पन्न स्वभाव या परमार्थ निःस्वभावता, एवं तथता कहकर[४३] शून्यवाद की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया गया है।

भूततथता की कल्पना एवं उसका महत्त्व

बौद्ध दर्शन की तत्त्व सम्बन्धी मान्यताओं में आचार्य अश्वघोष का दृष्टिकोण भूततथता के रूप में प्रसिद्ध है। भरत सिंह उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ में इसकी महत्ता का विचार से प्रतिपादन करते हुए इसे एक ओर विज्ञानवाद के ऊपर आत्मा की दिशा में विकास तथा दूसरी ओर विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के मध्यस्थ के रूप में प्रतिपादित किया है। उन्हीं के शब्दों में, "परिवर्तनशील जितना भी विज्ञान-प्रवाह है, उसकी प्रतिष्ठा में भूततथता छिपी हुई पड़ी है जो परिवर्तित होने वालों में अपरिवर्तित है और स्पन्दित होने वालों में अस्पन्द है। भूततथता न सत् कही जा सकती है, न असत्, न एक, न अनेक। वह भावात्मक भी है और अभावात्मक भी। अविद्या के हट जाने पर ही भूततथता का प्रकाश होता है और एकता की अनुभूति जागने लगती है।[४४] वे दोनों मतों में नाम मात्र ग विवाद मानते हैं।[४५]

इस प्रकार विज्ञान तत्त्व अपने मूलरूप में क्षणिक सत्, स्वप्रकाश,

---

४०. द्र०-'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाष्य', १०.

४१. 'विंशतिका', २२.

४२. द्र०-'महायानसूत्रालंकार', १३. १९.

४३. द्र०-'त्रिंशिका', २५.

४४. द्र०-उपाध्याय, भरतसिंह, १. पृ० ६७५-७.

४५. जहाँ तक अश्वघोष के मत या दृष्टिकोण का सम्बन्ध है यह ठीक है। किन्तु इस दृष्टिकोण को विज्ञानवाद, शून्यवाद अथवा कहें बौद्ध दर्शन का शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं माना जा सकता। क्योंकि (१) अश्वघोष बौद्ध दर्शन के प्रतिपादक या दार्शनिक न होकर बौद्ध धर्म के प्रचारक और कवि थे। (२) भूततथता का यह दृष्टिकोण युक्ति-प्रतिपादित नहीं है। (३) स्वयं बौद्धदर्शन के क्षणभंगवाद जैसे सामान्य मतों से इसका विरोध प्रकट होता है। (४) भूततथता का यह दृष्टिकोण बौद्ध एवं आत्मवादी मतों में समन्वय लाने की भावना से प्रेरित एक धार्मिक प्रयत्न है।

अनिर्वचनीय, आकाश आदि के समान विमल,[४६] आदि शुद्ध[४७] एवं नित्य आत्मा से भिन्न है।[४८]

शैव साहित्य में प्रस्तुत बौद्ध मत

काशैद के दार्शनिकों ने बौद्धों के परम तत्त्व-सम्बन्धी विचारों की आलोचना से पूर्व उनकी आत्म-विरोधी युक्तियों को प्रस्तुत किया है, अतः सर्वप्रथम इन्हें ही संक्षेप में देख लेना आवश्यक है।

जगत् के समस्त पदार्थ चित्त पर ही अवलम्बित हैं। घट-प्रकाश, घट-विकल्प घट-प्रत्यभिज्ञा, घट-स्मृति, घटोत्प्रेक्षा आदि के रूप में भिन्न-भिन्न काल, आकार में चित्त अथवा ज्ञान ही प्रकाशित होते हैं।[४६] अतः ज्ञान की ही सत्ता है। इसी की उपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त आत्मा जैसी किसी नित्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती।[५०]

प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। अतः यदि पंचस्कन्ध[५१] को व्यवहार के लिये आत्मा मान भी लिया जाये तो उसे क्षणिक ही माना जा सकता है, नित्य नहीं। अतः आत्मवादी मतों द्वारा आत्मा को नित्य मानना उचित नहीं।[५२] इस प्रकार आत्मा को विभु मानना भी उचित नहीं क्योंकि स्वयं आत्मा शब्द ही इसकी अनित्यता एवं संकुचितता को व्यक्त करता है। जो आत्मा अर्थात् स्वयं का अथवा आत्मीय है वह देश-काल आदि की उपाधियों से संकुचित है।[५३]

न्याय-सम्मत आत्मा के खंडन में प्रस्तुत बौद्ध युक्तियाँ

आत्मा शब्द स्ववाची है, अतः आत्मा का अर्थ अहं प्रतीति भी किया जा सकता है। नैयायिकों ने सुख-दुःखादि गुणों के आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि की है। इस पर विज्ञानवादी का आरोप है कि अहं प्रतीति विकल्परूपा है। वह कभी

---

४६. यस्याकाशसुवर्णवारिसदृशी क्लेशाद् विशुद्धिर्गता। 'महायानसूत्रालंकार', ११. १३.

४७. आदिशुद्धमनुत्पन्न निजरूपमनावितम्॥ 'चित्तशुद्धिप्रकरण'; २८.

४८. द्र०-'लंकावतारसूत्र', २ १०४; 'सौसिसार्स', पृ० २६-३०.

४६. घटप्रकाशो घटविकल्पो घटप्रत्यभिज्ञा घटस्मृतिः घटोत्प्रेक्षा-इत्यादिरूपेण ज्ञानान्येव प्रकाशन्ते भिन्नकालानि भिन्नविषयाणि भिन्नाकाराणि च। 'ईप्रवि', १. २. १.

५०. नास्तीह आत्मा नित्यतादिलक्षणयोगी उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अनुपलब्धेः। 'ईप्रविवि', १, पृ० १२१; नास्ति आत्मा संवित्सवेद्यव्यतिरिक्तो दृश्यस्य तस्यानुपलब्धेः। 'ईप्रवि', १. २. २.

५१. विस्तारार्थ द्र०-'मिलिन्दप्रश्न'.

५२. आत्मा न नित्यः कश्चिदस्ति।...'ईप्रवि', १. २. ८; इह आत्मा संवित्स्वभावः स्थिरः इति तावदयुक्तम्, स्थिरस्यापि स्वप्रकाशस्य अप्रकाशनात्। वही, १. २. १.

५३. स्वात्मा आत्मीयमेव वा लक्षणं यस्येति स्वरूपेण तदुपाधिभ्यां च देशकालाभ्यां यत् सर्वथैव संकुचितम्। 'ईप्रविवि', १, पृ० ११४.

मैं सुखी हूँ के रूप में प्रकट होती है तो कभी मैं दुःखी हूँ के रूप में और कभी मोटे-स्वस्थ-अस्वस्थ शरीर के रूप में। अतः न तो अहं प्रतीति को निर्विकल्प कहा जा सकता है और न ही स्थिर। यह अहं प्रतीति शरीर से सम्बद्ध होकर ही प्रकट होती है। अतः इसे शरीर से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। यदि भिन्न माना भी जाएगा तो इस प्रतीति की गणना वेद्य रूप अथवा विषय रूप में होगी। दोनों ही प्रकार से अहं प्रतीति को आत्मा या शरीर से भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता।[५४] साथ ही अन्य अनेक आत्मवादी दार्शनिक आत्मा को अहं प्रतीति मात्र भी तो नहीं मानते।

आत्मवादी नैयायिक ज्ञान के आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि करते हैं। किन्तु विज्ञानवादियों का तर्क है कि आत्मा दोनों ही प्रकार के सविकल्प एवं निर्विकल्प ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि ये ज्ञानद्वय किसी नित्य वस्तु पर आश्रित होकर नहीं अपितु स्वतन्त्र रूप से ही आभासित होते हैं।[५५] अतः आत्मा को ज्ञान के आश्रय रूप अथवा ज्ञाता के रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार यदि संस्कार, ज्ञान, सुखदुःखादि गुणों के आश्रय के रूप में आत्मा की कल्पना की जाए तो इससे स्वयं आत्मवादियों के ही मत में असंगति पैदा होगी क्योंकि संस्कारादि गुण जायमान हैं, प्रतिक्षण नितनूतन में परिवर्तित होते रहते हैं। परिवर्तनशील गुणों के आश्रय होने से तो आत्मा भी अनित्य और परिवर्तनशील सिद्ध होगा तथा इसके फलस्वरूप आत्मा की नित्यता की हानि होगी जो आत्मवादियों के आत्मा के स्वरूप के विपरीत है।

विज्ञानवादी ज्ञान से भिन्न ज्ञाता के खण्डन की ही भाँति कर्ता के अस्तित्व का भी सर्वात्मना निषेध करता है। आत्मा तथा ज्ञान व क्रिया में कारण-कार्य-भाव सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि आत्मवादी स्वयं ही आत्मा को ज्ञान का कारण नहीं कहते। ज्ञान तो अपनी विषय-सामग्री ज्ञेय से उत्पन्न होता है। जहाँ तक आत्मा को कर्त्ता मानने का प्रश्न है वह ऐसा तभी माना जा सकता है जब वस्तुतः कोई क्रिया हो। किन्तु विज्ञानवादी कहता है कि विचार करने पर हमें विज्ञान से भिन्न क्रिया की भी उपलब्धि नहीं होती। लोक-व्यवहार में जिसे हम क्रिया कहते हैं वह शरीर के देश-काल एवं आकार की भिन्नता के अतिरिक्त कुछ

५४. अहं प्रतीतिरेव तावत् न आत्मा, तस्या अपि विकल्परूपत्वात् अस्थैर्याच्च। एतत्प्रतीति-प्रत्ययोऽपि नास्ति अन्य शरीरादेः, भवन्नपि वा वेद्यपक्षपतितः स्यात्। तथापि संवित्संवेद्य-व्यतिरिक्तस्य आत्मनो न सिद्धिः। 'ईप्रवि', १. २; २, और भी द्र०-'ईप्रविवि', १; पृ० ११५-६.

५५. द्र०-'ईप्रविवि', १, ११५.

नहीं है। अतः जब परमार्थ दृष्टि से क्रिया का ही अभाव है तब क्रिया के कर्त्ता एवं उसकी नित्यता की चर्चा ही व्यर्थ है।[५६]

विज्ञानवादी बौद्ध सर्वज्ञ और शक्तिमान् के रूप में ईश्वर की मान्यता का भी समादर नहीं करता। सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृत्व के लिये सर्वप्रथम ज्ञान एवं क्रिया की अपेक्षा है। ये क्रिया को मानते नहीं और ज्ञान से भिन्न ज्ञाता की सत्ता का निषेध करते हैं। अतः इनके विचार में ईश्वर एवं सर्वशक्तिमान् के रूप में उसका ऐश्वर्य दोनों ही असिद्ध हैं।

आत्मवादी स्थिर आत्मा की आवश्यकता इसलिये भी अनुभव करते हैं कि बिना किसी स्थिर ज्ञाता के स्मृति सम्भव नहीं हो सकती। किन्तु विज्ञानवादी के मत में केवल स्मृति-ज्ञान के आश्रय के रूप में यदि स्थिर ज्ञाता की कल्पना करनी है तो यह व्यर्थ है क्योंकि स्मृति तो केवल संस्कार मात्र से ही सिद्ध की जा सकती है।[५७]

शैव आलोचना

नित्य आत्मा के विरुद्ध प्रस्तुत की गई उपर्युक्त युक्तियाँ सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद तीनों ही शाखाओं के आत्म-विरोध का मिला-जुला प्रतिनिधित्व करती हैं। ये युक्तियाँ सभी आत्मवादी मतों अथवा काशैद के प्रति न होकर प्रमुख रूप से न्याय-वैशेषिक के मत के प्रति हैं। काशैद और बौद्ध दार्शनिकों में सीधे संघर्ष नहीं हुआ इसलिये उन्होंने बौद्ध द्वारा न्याय के आत्म-स्वरूप की आलोचना को ही अपनी आलोचना का पूर्वपक्ष बनाया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस दर्शन का दृष्टिकोण न तो पूर्णतः किसी दर्शन की तत्त्व-मीमांसा का स्वीकार है और न ही उसका सम्पूर्णतः अस्वीकार अर्थात् समन्वय का है। प्रसंगतः जहाँ एक ओर यह मत बौद्ध के आत्म-विरोध की आलोचना करता है वहाँ न्याय-वैशेषिक के आत्म-स्वरूप से भी सन्तुष्ट नहीं है। वह बौद्ध की आलोचना के साथ ही अन्य आत्मवादी मतों की आलोचना करना भी आवश्यक समझता है। मत-विशेष ही नहीं, अपितु इसके दार्शनिकों की सांख्य एवं वेदान्त सहित उन सभी आत्मवादी मतों से यह शिकायत है कि ये आत्मा को मानते हुए भी व्यापक गौरव एवं ऐश्वर्य के साथ सम्पूर्ण रूप से उसे स्वीकार नहीं करते। काशैद आत्मा को स्वाभाववाची मानता है। परन्तु

---

५६. न च ज्ञानक्रियाभ्यां सह आत्मनः कार्यकारणभावः आत्मनस्तत्कार्यत्वाभावात्, ज्ञानस्य च स्वसामग्रीकार्यत्वात्, क्रियायाश्च अभावात् इति न ज्ञानक्रियासम्बन्धे यतो ज्ञातृत्वकतृत्वे स्याताम्। 'ईप्रवि', १. २. १०.

५७. द्र०-वही, १. २. ५.

वैशेषिक आदि दर्शनों में इसे स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में कल्पित किया गया है। पूर्वपक्षी आत्मा को इसलिये स्वभाव नहीं मानता कि यदि स्व का अर्थ आत्मीय है तब आत्मा का सम्बन्धी स्वभाव यही अर्थ हुआ और तब स्वभाव का स्वभाव स्वभाव ही है यह अर्थ-स्थिति बनेगी। दूसरे शब्दों में, आत्मा का अर्थ यदि स्व-भाव अथवा आत्मीय किया जाएगा तो आत्मा और स्वभाव में भेद नहीं रहेगा तथा आत्मा के स्वभाव का अर्थ होगा स्वभाव का स्वभाव। परन्तु काशँद तब भी इसमें अनौचित्य नहीं देखता। वह कहता है अपना वस्त्र कहने पर जैसे वस्त्र से स्व की अनन्यलग्नता (सम्बन्ध) प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मीय आत्मा भी होता है। किसका आत्मीय ऐसी शंका व्यर्थ है क्योंकि सबका आत्मीय आत्मा ही है।[५८] अतः द्वैतदृष्टि से आत्मा को स्वतन्त्र पदार्थरूप में मानने से जो कठिनाइयाँ आती हैं वे अद्वैत-दृष्टि से आत्मा का अर्थ स्वभाव मानने पर नहीं आती हैं।

विज्ञान की स्वयंप्रकाशता में असंगति

विज्ञानवादी विज्ञान को स्वतः सिद्ध एवं दीप-प्रकाशवत् स्वतः प्रकाशित बतलाते हुए इसकी सिद्धि के लिए अन्य किसी प्रकाशक की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। परन्तु काशँद का कहना है कि इससे भी समस्या हल नहीं होती है क्योंकि विज्ञानवाद ग्राह्य विषयों को विज्ञानरूप मानता है और विज्ञान का स्वभाव यदि स्वतः प्रकाशित होना है तब तत्स्वरूप स्वभाव माने जाने चाहिये। किन्तु विज्ञानवाद ऐसा नहीं मानता है और यदि मानता है तो विषय-विषयी दोनों के समान स्वभाव वाले होने से इनमें भेद कौन करेगा तथा कैसे करेगा।[५९]

क्षणिकता के कारण विज्ञान की जड़ता

विज्ञान को जड़ सिद्ध करने की दिशा में अग्रसर होते हुए एक अन्य युक्ति यह दी जाती है कि विज्ञान सतत नूतन रूप में प्रवाहित होता रहता है। यह सतत नूतनता क्या है? वही जो पहले नहीं थी अर्थात् पूर्वपक्ष का विज्ञान चेतन था, दूसरे क्षण अभिनव अर्थात् अचेतन हो गया तथा अगले क्षण पुनः चेतन हो गया। इस तरह विज्ञान-सन्तति की यह क्षणिकता एवं नितनूतनता उसे जड़ ही सिद्ध करती है।[६०]

---

५८. ननु स्वो यदि आत्मीय.…स्वभाव एवेति स्वभावस्य स्वभावः इति न किंचिदुक्तं स्यात्।… स्वशब्दे तु स्वं वस्त्रमित्यत्र यथा अनन्यलग्नत्वं प्रतीयते आत्मीयं वस्त्रमिति एवमात्मीय आत्मेति।… सर्वस्य आत्मीय आत्मेति गम्यते। 'ईप्रविवि', १, पृ० ४१.

५९. 'ईप्रवि', १. १. १.

६०. न च अजडात्मनोऽपि एतद् उचितम्, तथाहि–स स्वात्मनि विद्धिमित्थं कुर्यात्—यदि अस्य सोऽभिनवत्वेन भासमानः पूर्वं न भासते, न भासनं चेत् जडतैव निषेधं च इत्थं विदध्यात्—यदि स न प्रकाशते तथा च जडः, न च जडस्य एतत् युक्तं…। वही.

इसी तथ्य को सिद्धि एवं प्रकाशन की दृष्टि से देखा जाय तो भी विज्ञानक्षण जड़ ही सिद्ध होता है । प्रतिक्षण अभिनवता का अर्थ होगा कि पूर्वक्षण में विज्ञान अप्रकाशित हो रहा था, दूसरे क्षण प्रकाशित हो गया तथा अगले क्षण पुनः अप्रकाशित हो गया । इस पद्धति में अप्रकाशित होने वाला पूर्वक्षण का विज्ञान जड़ अथवा अप्रकाश है तब वह अपनी सिद्धि करने में उसी प्रकार असमर्थ रहेगा जैसे सांख्य की जड़बुद्धि का ज्ञान । दूसरे शब्दों में, काशैद का आशय यह है कि सांख्य,[६१] न्याय-वैशेषिक जैसी ही स्थिति अजड़ात्मवादी विज्ञानवादी की है । उनकी जड़ बुद्धि या आत्मा जैसे स्वयं अपनी ही सिद्धि नहीं कर सकते तब दूसरे अर्थात् पुरुष या आत्मा की सिद्धि कैसे कर पायेंगे । विज्ञानवाद का पूर्वक्षण का जड़ विज्ञान-सन्तान पश्चातवर्ती अजड़विज्ञान-सन्तान की सिद्धि कैसे कर सकेगा । इस प्रकार विज्ञान को स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश मानने का विचार युक्ति-युक्त सिद्ध नहीं होता ।

विज्ञान की नित्य नूतनता और तब भी स्वप्रकाशता न केवल काशैद अपितु अन्य दर्शन-सम्प्रदायों की भी आलोचना का विषय बनी है । स्वयं बौद्ध शाखा शून्यवाद की आलोचना का निष्कर्ष भी यही है कि विज्ञान को स्वप्रकाश मानने पर भी उसकी सत्ता-सिद्धि प्रमाणों के द्वारा अथवा स्वयं उसकी स्वप्रकाशता के द्वारा नहीं की जा सकती, और जब तक सिद्धि नहीं होती तब तक उसकी सत्ता वन्ध्या पुत्री की लीला के समान है ।[६२] इसी प्रकार की युक्ति शून्यवाद की ओर से विज्ञान की क्षणिकता के विरुद्ध दी जाती है ।

शैवों के खण्डनात्मक शब्दों का विश्लेषण

काशैद द्वारा विज्ञान को जड़ सिद्धकरने की यह आलोचना विचारणीय है । विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार जगत् में दो प्रकार के तत्त्व दीखते हैं, घट-पटादि बाह्य एवं आन्तरिक चित्त । जब हम घटपटादि बाह्य वस्तुओं के स्वरूप पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं हैं इनकी सत्ता चित्त या मन द्वारा कल्पित है । जिस प्रकार स्वप्न में मात्र चित्त ही विविध प्रकार के विषयों की कल्पना-रचना कर लेता है उसी प्रकार बाह्य-जगत् के पदार्थ भी चित्त के ही आभासमात्र हैं, परमार्थतः सत्य नहीं । परमार्थ सत् है विज्ञान । किन्तु यह भी नित्य और विभु न होकर प्रत्येक क्षण प्रवाहित होता रहता है । इसलिये इस मत में क्षणिकविज्ञान-सन्तानों का प्रवाह ही परमार्थ है ।

६१. सांख्योऽपि विषयावभासनरूपं ज्ञानं बुद्धिधर्ममिच्छन् आत्मानं वस्तुतो जडमेव उपैति, न च जडात्मा स्वात्मन्यपि दुर्लभप्रकाशस्वातंत्र्यलेशः किंचित् साधयितुं निषेद्धुं वा प्रभविष्णुः पाषाण इव···। वही.

६२. प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केनचित्।
वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुदा ॥ 'बौधिचर्यावतार', ६. २३.

विज्ञानवाद ने इस जगत् को सांख्य (पुरुष और प्रकृति) तथा विशिष्टाद्वैत (चित्-अचित्) की तरह से जड़ एवं चेतन के दो वर्गीकरण में रखकर नहीं देखा। अपितु उसका दृष्टिकोण यह है कि बाह्य एवं आन्तर में से कौन तत्त्व किस पर निर्भर है। जो तत्त्व दूसरे तत्त्व पर निर्भर हो वह परमार्थ नहीं हो सकता। बाह्य जगत् चित्त का आभास सिद्ध होता है, अतः वह परमार्थ नहीं। इस विचार प्रक्रिया में विज्ञानवाद ने जड़-चेतन के भेद की दृष्टि से परमार्थ निश्चित नहीं किया है तथापि जगत् जड़ है और विज्ञान का स्वरूप चेतन है इसलिये इस मत को जड़ का निषेध करने वाले और चेतनमात्र की सत्ता मानने वाले के रूप में उद्धृत किया गया है। काशैद के दार्शनिकों ने भी इसी पृष्ठभूमि में इसे चेतनवादी मत के रूप में पहले प्रस्तुत किया और बाद में इसके चित्त या चेतनविज्ञान में असंगतियाँ दिखा कर इसे सांख्य-वैशेषिकादि की तरह जड़ात्मवादी घोषित कर दिया। वस्तुतः यह इस दर्शन के प्रति अन्याय ही है।

मूर्ति[६३] महोदय ने आचार्य शंकर के विज्ञानवाद के पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुतीकरण को पूर्ण एवं उचित माना है। शंकर की समस्त प्रस्तुति और आलोचना[६४] में विज्ञानवाद के विज्ञान को जड़ रूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है। वस्तुतः विज्ञानवाद जैसा कि पहले देखा गया, जड़-चेतन के भेद की दृष्टि से जगत् को नहीं देखता। विज्ञानवाद में जब ज्ञान, विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त, स्वसंवेदन आदि शब्दों का प्रयोग होता है तो उसका आशय है प्रवृत्ति, इच्छा (या वासना)। यह विज्ञान शुद्ध प्रवृत्ति या क्रिया है जो अपनी सत्ता एवं प्रवृत्ति के लिये किसी बाह्य पर निर्भर नहीं करती। यह वेदान्त के सन्मात्र ब्रह्म की भाँति चिन्मात्र नहीं, सत् नहीं अपितु अपने में ही निरन्तर प्रवृत्त होने वाली विषय निर्मात्री एकता है। यह वेदान्त के ब्रह्म की तरह अलौकिक नहीं अपितु लौकिक और स्वतन्त्र इच्छा है।[६५]

काशैद स्वयं जगत् के प्रसंग में शिव को इच्छात्मक मानता है। इच्छा चेतन में ही हो सकती है अचेतन में नहीं—यह मान्यता भी काशैद की ही है। विज्ञानवाद का इच्छा या क्रिया अथवा प्रवृत्ति स्वरूप विज्ञान काशैद के स्पन्दन की मान्यता के निकट है। अतः मात्र निरन्तर प्रवहमानता के कारण विज्ञान को जड़ात्मवादी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

६३. "Sankara's exposition of Vijnanavada is quite fair and full..." Murti, T. R. V., *C. P. B.*, p. 313.

६४ 'ब्रसूशांभा', २. २. २८-९.

६५. द्र०–Murti, T. R. V., *C. P. B.*, p. 316.

अनात्मवादी बौद्ध दार्शनिकों की ओर से आत्मा के विरोध में एक युक्ति यह प्रस्तुत की गई थी कि आत्मा उपलब्ध नहीं होती है। काशैद इस विचार की आलोचना करता है तदनुसार प्रकाशनस्वभाव आत्मा नित्य उपलब्ध है। घटादि के रूप में भी वही प्रकाशित होता है। वह नित्य स्वप्रकाश है अतः उसके प्रकाशन अथवा सिद्धि में किसी कारक अथवा प्रमाण-व्यापार की अपेक्षा नहीं।[६६] आत्मा को ही ईश्वर के रूप में देखने से इसके दो प्रकार बताये गये हैं—पर ईश्वर एवं अपर ईश्वर। परता स्वमात्र विषय होती है एवं अपरता परिमितग्राहक विषय है।[६७] अतः आत्मा और ईश्वर स्वरूपतः एवं स्वभावतः एक है। स्वतन्त्र प्रकाशन ही उसका स्वभाव है जो उसकी सिद्धि में प्रमाण है। फलतः उसकी उपलब्धि पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

बौद्ध मत एवं काशैद में प्रमुख भेद नित्यता का है। क्षणिकविज्ञानवाद में नित्यता का औचित्य नहीं है। शून्यवादी मत पारतन्त्र्य के द्वारा बाह्य विषयों के साथ चित्त की क्षणिक सत्ता का भी निषेध करता है। अतः अनिर्वचनीयतावादी एवं निःस्वभाववादी इस मत में भी नित्यता का प्रसंग नहीं। विज्ञानवाद बाह्य विषयों को न सही, चित्त को स्वप्रकाश मानता है परन्तु शून्यवादी दोनों की स्वतन्त्रप्रकाशमानता का निषेध करता है। शैव-दृष्टि का इनसे यह वैशिष्ट्य है कि वह प्रकाश स्वभाव आत्मा को नित्य मानता है तथा विषयों को भी स्वतन्त्र आत्मा के आभास से आभासित मानता है। विज्ञानवाद में जहाँ विषय चित्त के आभास होने पर भी चित्त-स्वभाव नही है वहाँ काशैद में घटादि विषय भी प्रकाशन स्वभाव के हैं और तद्रूप हैं। इनमें प्रकाशन की दृष्टि से ऐक्य है। भेद केवल स्वतन्त्र एवं परतन्त्र होकर प्रकाशित होने का है। यही बात समस्त विश्व के बारे में कही जा सकती है। आभासन के इस स्वभाव के तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही काशैद में आत्मा को नित्य उपलब्ध एवं विश्वमय तथा विश्वोत्तीर्ण कहा गया है। परन्तु काशैद की इस मान्यता पर विज्ञानवाद की आपत्ति यह हो सकती है कि विश्व क्षणभंगुर है तब आत्मा को विश्वमय मानने से वह भी क्षण-भंगुर हो जाएगा तथा उसकी नित्यता की हानि होगी। शून्यवादी आत्मा की उपलब्धि ही नहीं मानता तब उसमें विश्वमय या विश्वोत्तीर्ण तथा नित्य आत्मा को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

६६. ...संवित्प्रकाश एव घटादिप्रकाशः न त्वसौ स्वतन्त्रः कश्चित् वास्तवः, प्रकाश एव चात्मा, तत् न तत्र कारकव्यापारवत् प्रमाणव्यापारोऽपि नित्यत्ववत् स्वप्रकाशस्यापि तत्र भावात्। 'ईप्रवि', १. १. १.

६७. ईश्वरत्वं च परमपरं चेति द्विविधम्। तत्र परमहमितिस्वमात्रविषयमपरं तु परिमितग्राहकविषयमहमिति...।'भा', १. १. १.

महेश्वरानन्द प्रकाशन, उपलब्धि के द्वारा ही आत्मा की नित्यता सिद्ध करते हुए दोनों बौद्ध शाखाओं की आत्म-विरोधी युक्तियों का निराकरण करते हैं। वे कहते हैं कि इस विश्व में जो भी कुछ है चाहे वह भावरूप हो या अभाव-रूप, चाहे जिस काल में हो—वर्तमान में या भविष्य में, सन्मुख देश में हो या अनासन्न देश में हो, किसी भी शरीर के द्वारा भागस्वभाव की हो या विभाग-स्वभाव की हो वस्तुतः वह विद्यमान है या नहीं? उसे अविद्यमान तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा कहने पर सर्वशून्यता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अतः यह तो कहना ही होगा कि वह कुछ भी कैसे भी स्वरूप वाली वस्तु हो, किन्तु विद्यमान अवश्य है। अब यदि वह सत्स्वभाव की वस्तु है तब यह आत्मा ही परिस्फुरित हो रहा है ऐसे कथन से उसकी स्थिरता का उच्छेदन कैसे हो सकता है? अर्थात् विश्व में जो कुछ है, जैसा भी है वह परिस्फुरित हो रहा है और उसके विषय में यह कहना कि वह यह आत्मा स्फुरित हो रहा है इस कथन से विश्व में जो कुछ विद्यमान है उसकी स्थिरता का खण्डन कैसे होता है? अर्थात् विश्व जिस रूप में भी है, विद्यमान है तथा उसकी स्थिरता अखण्डित है। साथ ही आत्मा को या स्वयं को विश्वाकार मानने पर अथवा विश्व की वस्तुओं को क्षण-भंगुर मानने पर भी जो यह क्षणभंगुर कोई वस्तु है वह अनपह्नव ही है, निर्दुष्ट है। अतः आत्मा को विश्वमय मानने पर भी इसका स्थैर्य अव्याकुल है अर्थात् स्थिरता पर इस मान्यता का—क्षणभंगवाद का—कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। साथ ही जब काशैद में विश्व को ही स्थिर माना गया है तब तो कोई प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।[६८] दूसरे शब्दों में विश्व को जब क्षणभंगुर मानें तब भी आत्मा की स्थिरता असत्य सिद्ध नहीं होती तो फिर विश्व को स्थिर मानने से तो आत्मा की स्थिरता कैसे भी असत्य सिद्ध नहीं हो सकती।

विज्ञानवाद के मतानुसार क्षणिक चित्त-प्रवाह ही परमार्थ सत् है। काशैद इस विचार का सम्पूर्णतः विरोध न करते हुए यह मत व्यक्त करता है कि जिसे विज्ञानवादी बौद्ध परमार्थ सत् कहते हैं वह केवल बुद्धि का धर्म है, इससे अधिक कुछ नहीं। परमार्थ तत्त्व स्वतन्त्र ज्ञाता, कर्ता शिव है। इस मत के अनुसार केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही नहीं, लौकिक व्यवहार की दृष्टि से भी बुद्धिवृत्ति से आगे बढ़कर स्वतन्त्र ज्ञाता के रूप में किसी नित्य तत्त्व को मानना आवश्यक है। परन्तु बौद्ध इस विचार से असहमति रखते हुए समस्त लोक-व्यवहार की व्याख्या ज्ञाता-कर्ता के रूप में बिना किसी नित्य तत्त्व को माने ही करता है। यही दोनों दृष्टियों में भेद है।

६८. 'ममंप', ५३.

प्रस्तुत प्रसंग में काशँद की युक्ति है कि यदि नित्य ज्ञाता को नहीं माना जाएगा तो घट-ज्ञान एवं पट-ज्ञान में भेद कौन करेगा ? विज्ञानवादी इस वैचित्र्य का कारण वासना मानते हैं । किन्तु काशँद का कहना है कि वासना मात्र संस्कार है । इससे स्मृति भेद ही सम्भव हो, किन्तु ज्ञानों में परस्पर भेद सम्भव नहीं है । साथ ही प्रस्तुत प्रसंग में वह कारण अपेक्षित है जो वासना के भेद का भी हेतु है अर्थात् केवल यही कहना पर्याप्त नहीं कि वासना के कारण भेद होता है अपितु यह भी बताना आवश्यक है कि उस वासना भेद का भी क्या कारण है ।[६९]

यदि वासना को ज्ञान की शक्ति के स्वरूप के रूप में मानकर उसे विविध विषयावभासन में समर्थ मान लें तथा उनकी विचित्रता में संस्कारों को ही कारण मान भी लें[७०] तब काशँद यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि जो विषय ज्ञान के अन्तर्वर्ती हैं उन्हें भले ही असत्य कह दिया जाए अथवा उनके आभासन को असत्य कह दिया जाए परन्तु इन आभासों के कारण को तो सत्य मानना ही होगा । क्योंकि यदि वह कारण अवस्तु है तो उसे सब कार्यों या आभासों का कारण नहीं माना जा सकता । इस स्थिति में जिन वासनाओं को विषय-प्रकाश का कारण माना जाता है यदि वे बोध से भिन्न रूप हैं और वास्तविक सत्तावान् हैं तो यह विज्ञानवाद शब्दान्तर में छिपा हुआ एक प्रकार का बाह्यार्थवाद ही है ।[७१] दूसरी ओर यदि इन वासनाओं को संवृति सत्य या व्यवहार-सत्य मानें तो उन्हें विविध प्रत्यक्षों का कारण नहीं माना जा सकता । किन्तु यदि यह कहा जाए कि ये उस अर्थ में कारण हैं जिस अर्थ में सत्य हैं तब इनका वास्तविक रूप शुद्ध विज्ञान ही होगा तथा उसमें बहुत्व या विकल्प नहीं होंगे । फलतः पुनः वही स्थिति होगी और लौकिक आभासों में भिन्नता का युक्तियुक्त कारण बताना विज्ञानवाद में सम्भव नहीं होगा । साथ ही जब तक वासनाओं के वैचित्र्य का कारण नहीं बताया

---

६९. …विज्ञानवादिना यो हेतुः वैचित्र्ये वासनाप्रबोधलक्षण उक्तः स न उपपद्यते । स्मृतिजनकः संस्कारो वासना इति तावत् प्रसिद्धम्, इह तु अनुभववैचित्र्यहेतुः पर्येषणीयो वर्तते । 'ईप्रवि', १. ५. ५.

७०. अस्तु वा नीलाद्याभाससंपादनसामर्थ्यरूपा ज्ञानस्य योग्यतात्मिका शक्ति ? वासना तस्याश्च स्वकार्यसंपादनोन्मुखं प्रबोधं ततो बोधेषु आभासवैचित्र्यम् इति । वही.

७१. इह यद्यपि आभासानां ज्ञानान्तर्वर्तिनाम् अपारमार्थिकत्वं संवृतिसत्त्वम् उच्येतापि, तथापि यदेषां कारणम् तद् वस्तु सदैव अंगीकार्यम् अवस्तुनः सर्वसामर्थ्यविरहितालक्षणस्य कार्यसंपादनप्राणितसामर्थ्यात्मकस्वभावानुपपत्तेः । एवंस्थिते या एता वासना आभासकारणत्वेन इष्यन्ते, तासां बोधात् यदि भिन्नं रूपम्, तच्च परमार्थसत्, तदयं शब्दान्तरप्रच्छन्नो बाह्यार्थवादप्रकार एव । वही.

जाता तब तक विषयों एवं उनके ज्ञानों में वैचित्र्य का कारण बताना कैसे सम्भव है[७२]।

काशैद आगे कहता है कि यदि तर्क रक्षा के लिए वासना-वैचित्र्य को मानते हुए भिन्न-भिन्न वासनाओं को ही यदि विविध ज्ञानों का कारण मान लें तब भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं होता क्योंकि विविध वासनाओं को धारण करने के लिये बोध से अतिरिक्त जिस देशकालादि की आवश्यकता है उसे विज्ञानवादी नहीं मानता है। फलतः बिना देशकाल को माने भिन्न-भिन्न ज्ञानों के कारण के रूप में विचित्र वासनाओं को स्वीकार कर लेने से भी कोई लाभ नहीं होगा। ऐसी स्थिति में एक ही विचित्र प्रबोध होगा जो एक साथ नीलपीतादि के रूप में आभासित होगा।[७३]

बौद्ध ने आत्म-विरोधी-युक्तियों में एक युक्ति यह प्रस्तुत की थी कि स्मृति के आश्रय के रूप में नित्य स्मर्ता को मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि स्मृति तो संस्कार मात्र से ही सिद्ध हो जाती है। काशैद इस आलोचना का उत्तर देते हुए कहता है कि बिना स्मर्ता के स्मृति सम्भव नहीं। स्मृति संस्कारों से भले ही सिद्ध हो जाए किन्तु पूर्वानुभव के प्रकाश के बिना वह रूप में स्मृति कैसे सम्भव है? स्मरण का व्यवहार अभिलाषा पर निर्भर करता है। तथा अनेक संस्कारों में से एक का वही रूप में उद्भूत होना तब तक सम्भव नहीं जब तक कोई नित्य आत्मा या स्मर्ता न हो।[७४]

लोक व्यवहार एकता पर निर्भर करता है। स्मृति में भी यही एकता होती है। अतः बिना एक नित्य स्मर्ता रूपी आत्मा को स्वीकार किये ज्ञानों का एकत्व सम्भव नहीं और उसके बिना स्मृति सम्भव नहीं। किन्तु बौद्ध के मत को मानने से न तो संस्कारों से स्मृति सम्भव है न ही ज्ञानों में एकता का व्यवहार।[७५] अतः नित्य स्मर्ता के रूप में आत्मा को मानना आवश्यक है।

---

७२. अथ संवृतिसत् तर्हि तेन रूपेण कारणतानुपपत्तिः। तथा येन रूपेण आसां पारमार्थिकता तेन कारणता, तत् तर्हि ज्ञानमात्रं तच्च अभिन्नम् इति नीलाद्याभासरूपस्य कार्यभेदस्य अ-द्धिः। एवं वासनानाम् अविचित्रित्वे तत्प्रबोधो विचित्र इति का प्रत्याशा। वही.

७३. भवन्तु वा वासना भिन्ना: तथापि बोधमात्रातिरिक्तस्य देशकालभावादेः प्रबोधकाभिमतस्य विचित्रस्य कारणस्य अभावात् प्रबोधो विचित्र इति एक एव प्रबोधः इति सममेव नीलादि वैचित्र्यं भासेत। वही.

७४. इह स्मृतौ विषयमात्रस्य प्रकाशो न समर्थनीयो वर्तते यः संस्कारादेव सिद्धेत किंतु अनुभव-प्रकाशेन विना तत् इत्येव रूपा कथं स्मृतिः स्यात्, कथं च तया विना अभिलाषेण व्यवहारः स्यात्...। वही, १. ३. १.

७५. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः ॥ 'ईप्रका', १. ३. ६.

बौद्धमत में क्रिया की संवृति सत्यता

काशैद के मतानुसार परम तत्त्व शिव कर्ता है। क्रिया उसकी अविच्छिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति है। इस मत का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें क्रिया को केवल व्यावहारिक स्तर पर ही नहीं परमार्थ स्तर पर भी स्वीकार किया गया है। इस दर्शन-दृष्टि के अनुसार क्रिया एक क्रमिका एवं सत्य है।

बौद्ध का विचार इससे सर्वथा भिन्न है। उसकी दृष्टि में क्रिया एक मानसिक संरचना मात्र है। विविध देश एवं काल के रूप में शरीर की अवस्थिति ही क्रिया है। देश, काल एवं रूपगत क्रम के अतिरिक्त किसी क्रिया का न तो प्रत्यक्ष से और न ही कार्य के अनुमान से ज्ञान होता है। वह सत्य नहीं है।

काशैद के दार्शनिक स्वमतानुसारी क्रिया के स्वरूप पर बौद्ध मत की ओर से खण्डनात्मक युक्तियाँ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—

१. क्रिया क्रमिका है। इसमें क्रम होता है अतः यह एक नहीं विविध है।[७६] इसे एक नहीं कहा जा सकता क्योंकि एकत्व और बहुत्व विरोधी गुण हैं। ये एक में कैसे रह सकते हैं। अतः क्रिया को एक और क्रमिका या सक्रमा एक साथ कहना एक अन्तर्विरोध है।

२. एक आश्रय में रहने के कारण जो इसे एक कहा जाता है, वह तर्क युक्त नहीं क्योंकि क्षणों के क्रम के अतिरिक्त क्रिया का कोई आधार या कर्ता नहीं होता। कर्ता की अनुभूति तो होती नहीं, क्रम से आने वाले क्षणों की ही अनुभूति होती है।[७७]

३. यदि तर्क रक्षा के लिए मान भी लें कि एक कर्ता या क्रिया का आधार होता है तो वह कर्ता विविध देश, काल एवं रूपगत क्रमों से प्रभावित होते हुए भी एक कैसे बना रह सकता है?

४. विविध स्थानों के क्रम में एक ही शरीर के प्रत्यभिज्ञान के आधार पर भी कर्ता का एकत्व तथा तत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यहाँ प्रत्यभिज्ञान का कारण पूर्वक्षण से नितान्त सादृश्य है, जैसे दीपक की शिखा के प्रसंग में।

५. क्रिया सत्य नहीं क्योंकि यह क्रमों से बनी है। ये क्रम मन के विकल्पों की उपज है और विकल्प सत्य नहीं होते। सत्य है निर्विकल्पता एवं क्षणिकवता।

---

७६. न साप्येका क्रमिकैकस्य चोचिता। वही, १. २. ६.

७७. क्रियाप्यर्थस्य कायादेस्तत्तद्देशादिजातता, नान्यादृष्टेः। वही.

क्रिया की सत्यता में शैव युक्तियाँ

ज्ञानशक्ति द्वारा आभाषित संकुचित विषयी और विषयों को परस्पर मिलाने और अलग करने वाली शक्ति को काशैद मत में क्रिया शक्ति माना जाता है।[७८] इस स्वरूप में क्रिया, क्रिया शक्ति है अर्थात् विमर्श है। इस क्रियाशक्ति में किसी प्रकार का समयगत संकोच नहीं है। इसलिए इसका स्वभाव क्रम का नहीं, यह क्रम रहिता है। इस मान्यता का कारण यह है कि काशैद मत में विमर्श प्रकाश का स्वभाव है। विश्वात्मप्रकाश की अभिन्न शक्ति विश्वात्मविमर्श या क्रियाशक्ति इसलिए संकोच रहित है कि वह जिस विश्वात्म प्रकाश का स्वभाव है वह असंकुचित है। किन्तु जब यही क्रियाशक्ति, संकुचित प्रकाश के स्वभाव के रूप में प्रस्तुत होती है तब क्रिया-शक्ति-व्यापक अर्थ में क्रियाशक्ति न रहकर संकुचित प्रमाता या कर्ता या आत्मा की क्रिया मात्र बन जाती है। इसलिए संकुचित कर्ता की दृष्टि से, इस स्तर पर यह क्रमिका प्रतीत होती है, यद्यपि अपने वास्तविक एवं मूल रूप में, परमार्थ रूप में एक ही है, क्रमिका नहीं।[७९] एक और क्रमिका के इस भेद का कारण यह है कि विश्वात्म की दृष्टि से कालक्रम नहीं है, वह इन क्रमों से अतीत है किन्तु आत्मा कालादि क्रम से संकुचित है इसलिये उसकी शक्ति के रूप में क्रिया भी संकुचित और क्रमिक प्रतीत होती है, वस्तुतः है नहीं।[८०]

बौद्ध एवं काशैद की अनेक मान्यताओं में वैषम्य का एक कारण एक वस्तु का अनेक रूप होना है।[८१] यह वैषम्य कारणवाद, सम्बन्ध, जगत् एवं परम तत्त्व सभी पक्षों में व्याप्त है। अद्वयवादी काशैद स्वतन्त्र कर्ता में समस्त शक्तियों को समरस करते हुए दर्पण के उदाहरण पूर्वक परम तत्त्व की दृष्टि से एकत्व एवं उसके आभासों की दृष्टि से अनेकत्व सिद्ध करता है। यही स्थिति क्रिया के प्रसंग में है।

बौद्ध की क्रिया-विरोधी एक आपत्ति यह थी कि क्रिया यदि एकानेकरूप है तो सत्य कैसे हो सकती है। साथ ही लोक-व्यवहार की दृष्टि से इसे संवृति सत्य भले ही मान लिया जाये किन्तु परमार्थ सत्य कैसे माना जा सकता है। काशैद इस आपत्ति का उत्तर देता है कि परमेश की शक्ति होने के कारण तो क्रियाशक्ति

---

७८. द्र०—वही, २. १. ८.

७९. परमेश्वरे परमार्थतो क्रमा क्रिया, परिमितसांसारिकप्रमातृक्रमावभासनयोगात् सक्रमापि च। 'ईप्रवि', २. १. १.

८०. तत्रैकमान्तरं तत्त्वं तदेवेन्द्रियवेद्यताम्।
सं प्राप्यनेकतां याति देशकालस्वभावत: ॥ वही, २. २. २.

८१. पूर्वपक्षे इयदेव जीवितम् एकमनेकस्वभावं कथं स्यात् इति। 'ईप्रवि', २. १ १.

सत्य है ही, परन्तु यदि केवल बौद्ध दृष्टिकोण से ही देखा जाए तब भी क्रिया सत्य ही है। बौद्ध क्रिया को संवृति सत्य मानता है। यह संवृति सत्य भी तो वस्तुतः सत्य का एक प्रकार ही है। संवृति सत्य द्विचन्द्रादि की भाँति असत्य नहीं माना जा सकता।[८२] इसी प्रकार व्यवहार-दृशा जब क्रिया को सत्य मान लिया जाता है तो शक्ति रूप में परमार्थ-दृशा भी उसे सत्य मानने में कोई हानि नहीं। साथ ही यह कहना व्यर्थ है कि क्रिया संवृति सत्य भी नहीं क्योंकि तब क्रिया पर आधारित लोक व्यवहार ही सम्भव नहीं होगा। किन्तु लोक-व्यवहार चलता है इससे सिद्ध है कि क्रिया संवृति सत्य है ही। इस प्रकार काशैद क्रिया की महत्ता पर बल देते हुए उसे सत्य सिद्ध करता है। क्रिया कर्त्ता का स्वरूप या स्वभाव है।[८३] अतः कर्ता को मानना आवश्यक है।

बौद्ध नित्य तत्त्व की अस्वीकृति के क्रम में नूतन युक्ति यह प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान एवं क्रियादि शक्तियाँ जिस सम्बन्ध से नित्य तत्त्व (आत्मा) में रहती हैं वह सम्बन्ध ही नहीं है। सम्बन्ध केवल कार्यकारण में होता है। ज्ञान एवं क्रिया तथा नित्य तत्त्व आत्मा में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता।[८४] अतः न तो आत्मा को ज्ञाता के रूप में और न ही कर्त्ता के रूप में सिद्ध किया जा सकता है। ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञाता की ही तरह क्रिया के सम्बन्ध से कर्त्ता की कल्पना की जाती है। परन्तु वस्तुतः न कोई ज्ञाता है न ही कर्त्ता।[८५]

बौद्ध की इस आपत्ति के उत्तर में काशैद कहता है कि हमारे मत में सम्बन्ध सत्य है[८६] अतः ज्ञाता-कर्त्ता भी सत्य ही हैं। दोनों दर्शन सम्बन्ध की सत्ता एवं स्वरूप पर क्या मतभेद रखते हैं इस पर स्वतन्त्र अध्याय में विचार किया जा चुका है। अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति पिष्टपेषण ही होगी।

मतद्वय के परमार्थ-सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि काशैद के दार्शनिकों ने परम तत्त्व की मीमांसा के प्रसंग में प्रमुख रूप से विज्ञानवाद को ही चुना है, अन्य बौद्ध शाखाओं को नहीं। इसकी पृष्ठभूमि में दृष्टि-विशेष है। शून्यवाद को इस दर्शन में अभाववादी माना गया है (त्रयाभाववादिनो माध्यमिका, **तंत्रावि**, १. ५६.) जो मत

---

८२. संवृतिसत्यत्व सत्यत्वस्यैव तु प्रकारः तत् इति द्विचन्द्रादिवत् न असत्यता। वही, २. २. ४.

८३. क्रिया च कर्तृस्वरूपभूता। 'शिदृवृ', ३. ६०.

८४. न च ज्ञानक्रियाभ्यां सह आत्मनः कार्यकारणभावः। 'ईप्रवि', १. २. १०.

८५. तस्मात् ज्ञानसम्बन्धात् ज्ञाता इति यथा विकल्पकल्पितोऽर्थो न वस्तु तथा क्रियासम्बन्धात् कर्ता इत्यपि कल्पनामात्रम्। वही, १. २. ११.

८६. वही, २. २. १.

सबका अभाव मानता हो उसके विचार में किसी तत्त्व या सत्ता की स्वीकृति सम्भव नहीं अतः उसे अभाववादी कहकर छोड़ दिया गया है । काशँद की भाषा में अभाव एवं असत् पर्याय हैं । अतः शून्यवाद को अभाववादी कहने का अर्थ है कि यह मत सबको असत् मानता है । परन्तु शून्यवाद के सिद्धान्तों पर विचार करने से स्पष्ट है कि इसके शून्य दार्शनिक को असत् नहीं मानते तथा स्वयं को नास्तिक या अभाववादी कहने का विरोध करते हैं । शून्यवाद सत्ता की दृष्टि से असत्वाद नहीं, अपितु सत्-असत् से विलक्षण मानने वाला अनिर्वचनीयतावाद है तथा सत्ता के स्वभाव की दृष्टि से निःस्वभाववाद है । काशँद का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है । यह इस अर्थ में अनिर्वचनीयता का सर्वथा निषेध करते हुए एक मात्र सत् तत्त्व को ही मानता है तथा निःस्वभावता के स्थान पर सभी आभासों एवं परमार्थसत्य को सस्वभाव अर्थात् आभासन स्वभाव मानता है । शून्यवाद में यह निःस्वभावता ही परमार्थ है जबकि काशँद में सत् का स्वभाव सत्ता-भवनकर्तृता है । दूसरे शब्दों में प्रकाश अपने अविच्छिन्न स्वभाव विमर्श के सहित ही परमार्थ है । अतः जहाँ शून्यवाद में निषेध-प्रक्रिया से अनिर्वचनीय एवं निःस्वभाव परम तत्त्व तक पहुँचा गया है वहां काशँद में समन्वय के द्वारा सत् को सस्वभाव सिद्ध किया गया है । शून्यवाद की विचार पद्धति तत्त्वों में पारतन्त्र्य सिद्ध करते हुए उनके पारमार्थिक निषेध की है वहाँ काशँद तत्त्वों को पूर्ण स्वातन्त्र्य की तुला पर परखते हुए परमार्थ तत्त्व में सबका समन्वय करता है । अन्यत्र यह कहा गया है कि काशँद का प्रमुख विरोधी बौद्ध है, यह कथन शून्यवाद पर ही सर्वाधिक लागू होता है । शून्यवाद ही विचार-प्रक्रिया एवं तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से काशँद का प्रबल विरोधी है ।

विज्ञानवाद-सम्मत चित्त-प्रवाह की आलोचना में उसे एक ओर बुद्धिवृत्ति माना गया है तो दूसरी ओर उसे शब्दान्तर में प्रच्छन्न बाह्यार्थवाद कहा गया है । विज्ञानवाद को अजड़वादी मत के रूप में लेकर उसकी आलोचना में उसे जड़वादी सिद्ध किया गया है । इसी तरह क्षणिकता के विरुद्ध नित्यता का सिद्धान्त है । परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि विज्ञानवाद एवं काशँद में केवल क्षणिकता एवं नित्यता की ही दूरी नहीं है । विज्ञानवाद के शुद्ध क्षणिकविज्ञान एवं अद्वैत-वेदान्त के शुद्ध ब्रह्म को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि विज्ञानवादी के क्षणिकविज्ञान को नित्य मान लिया जाए तो उसमें और ब्रह्म में विशेष भेद नहीं रहता अथवा कहें शून्यवाद के शून्य को यदि सत् मान लिया जाए तो शून्य एवं ब्रह्म की तात्त्विक दूरी कम हो जाती है अर्थात् विज्ञान-वाद और अद्वैतवाद के परमार्थ तत्त्व में क्षणिकता एवं नित्यता का तथा शून्यवाद

एवं अद्वैतवेदान्त के परमार्थ तत्त्व में अनिर्वचनीयता एवं सत् का भेद है। परन्तु काशैद एवं इन दोनों बौद्ध शाखाओं में अपेक्षाकृत गम्भीर भेद है। विज्ञानवाद का विज्ञान या बुद्धितत्त्व काशैद में मान्य परमार्थ तत्त्व शिव से बहुत दूर है तथा शून्यवाद तो सर्वथा विपरीत मत है ही। शून्य को वेदान्त की तरह केवल सत् मानने से ही भेद समाप्त नहीं होता है।

इसी प्रसंग से एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से बौद्ध दर्शन के विकास की परम्परा सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद एवं इसके अनन्तर शून्यवाद की रही है (यद्यपि इतिहास-दृष्टि से शून्यवाद विज्ञानवाद से पूर्ववर्ती है)। यही इस दर्शन-दृष्टि से विकास के उत्तरोत्तर सोपान-क्रम हैं परन्तु काशैद की आलोचना से अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध होता है कि शून्यवाद से विज्ञानवाद एवं विज्ञानवाद से सर्वास्तिवाद उत्तरोत्तर है। इसका कारण यह है कि काशैद में सब को सत् एवं चिद्रूप माना गया है।

३

ब्रह्मवाद एवं उसकी समालोचना

ब्रह्म का स्वरूप

भारतीय दर्शन के इतिहास में शांकर दर्शन स्पष्टतः एवं प्रमुखतः अद्वैतवाद कहलाता है। इसमें द्वैत का निषेध करके अद्वैत तत्त्व ब्रह्म को ही स्वीकार किया गया है। यह ब्रह्म कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी, चैतन्यस्वरूप है। चैतन्य ब्रह्म का गुण नहीं अपितु स्वरूप ही है। इसे सत्, चित् एवं आनन्दरूप भी कहा जाता है क्योंकि यह असत्, जड़ एवं दुःख रूप अविद्यात्मक वस्तुओं से भिन्न है। यह निर्गुण है, निर्विभाग है। यह सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेदों से सर्वथा रहित है। इसलिये वह एक है, अनन्त है। इस मत में आत्मा एवं ब्रह्म में अभेद माना गया है इनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की अपेक्षा नहीं, ये स्वयं सिद्ध हैं।

दर्शनद्वय में साम्य-वैषम्य

काशैद एवं वेदान्त आगमिक एवं वैदिक परम्पराओं के दर्शन हैं। बौद्ध परम्परा की अपेक्षा ये दोनों परम्पराएं परस्पर अधिक निकट की हैं तथा इनकी विचार-पद्धति में अधिकांशतः साम्य है। तथापि परम्परा एवं दृष्टिकोण की यत्किंचित् भिन्नता के कारण इनके निष्कर्षों में वैषम्य भी है। मात्र तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो वेदान्त में परम तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है जब कि काशैद में शिव। दोनों ही दर्शन परमार्थ स्तर पर इन्हें अनिर्वचनीय मानते हुए भी इनका व्याख्यान करते हैं। दोनों के परम तत्त्व के स्वरूप में तात्त्विक भेद यह है कि जहाँ वेदान्ती ब्रह्म को कूटस्थ, शान्त, सन्मात्र एवं चिन्मात्र मानते हैं वहाँ शैव दार्शनिक शिव को सविमर्श, सत्स्वभाव एवं चिद्रूप मानते हैं। प्रथम मत में माया ब्रह्म की अविच्छिन्न शक्ति नहीं है परन्तु द्वितीय मत में वह उसकी अविच्छिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति के अन्तर्गत एक शक्ति है। स्वातन्त्र्य शक्ति की अविच्छिन्नता ही एक ऐसा पक्ष है जो दोनों दृष्टियों को परस्पर भिन्न करता है।[८७] वेदान्त में ब्रह्म में विमर्श इसलिये नहीं माना जाता है कि उनकी दृष्टि में विमर्श एक प्रकार का क्षोभ है।[८८] क्षोभ निश्चय ही विकल्पों और विकारों को जन्म देता है परन्तु निर्विकार

---

८७. स्वतंत्र-शब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यम् आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। ···।'प्रहसूवृ', १.

८८. विशुद्धबोधात्मवादिनां विकल्पपक्षीकृतविमर्शानाम्···। 'शिदृ' टीका, १. ३-४, विमर्शस्य हि ते विकल्पत्वाशंकया क्षोभत्वमेव शंकन्ते। 'भा', १. १. १.

ब्रह्म में किसी भी प्रकार के विकल्प एवं विकार की कल्पना नहीं की जा सकती। साथ ही निर्विकार ब्रह्म में विकल्पों की अवस्थिति न केवल ब्रह्म के स्वरूप में परिवर्तन उत्पन्न करेगी अपितु इससे अद्वैत भंग होकर द्वैत की प्रतिष्ठा भी होगी। काशैद इस विचार-प्रक्रिया को समुचित न मानते हुए इसकी आलोचना करता है। उसके विचार में जिस द्वैत के भय से ब्रह्म को निर्विमर्श माना गया है उससे अद्वैत तत्त्व को लाभ के स्थान पर हानि ही होती है । इस दर्शन-दृष्टिकोण के अनुसार अद्वैततत्त्व का वास्तविक आशय 'दो नहीं, एक' न होकर 'दो का नित्य सामरस्य' है। इसमें द्वैत को मिथ्या कहने के स्थान पर अपूर्ण सत्य मानकर उनका समन्वय किया गया है क्योंकि द्वैत अथवा विकल्पों का प्रत्यक्ष हमें होता ही है। मिथ्या कहकर हम किसी तत्त्व की वास्तविक सिद्धि नहीं कर सकते, न ही इस प्रकार उसके वास्तविक स्वरूप को ही समझ सकते हैं। अतः इस प्रमातृ-प्रमेय रूप संसार और विविध शक्तियों को मिथ्या कहकर अथवा उनका निषेध करके अद्वैत तत्त्व को सिद्ध करने की अपेक्षा यह कार्य अधिक साहसपूर्ण है कि हम इसकी स्वीकृति के साथ अद्वैत की सिद्धि करें। इस प्रकार दोनों दृष्टियों में लक्ष्य-गत साम्य[८९] होते हुए भी विचार-प्रक्रिया में भेद है।

शैव आलोचना

काशैद अद्वैत वेदान्तीय ब्रह्म के कूटस्थ स्वरूप के खण्डन में निम्नांकित युक्तियाँ प्रस्तुत करता है :—

१. निर्विमर्श ब्रह्म जड़-तुल्य है। जड़ और चेतन अथवा अनात्मा और आत्मा में यही तो भेद है कि वे परस्पर विपरीत स्वभाव वाले हैं। जड़ दर्पण भी वस्तुओं का प्रतिबिम्बन या प्रकाशन करता है किन्तु उसे 'मैं हूँ' का ज्ञान नहीं होता।[९०] किन्तु आत्मा को 'मैं हूँ' का ज्ञान होता है। अतः वह जड़ से भिन्न है। काशैद के दार्शनिक पूछते हैं कि 'मैं हूँ' का क्या अर्थ है ? ज्ञाता की अवस्थिति अथवा ज्ञाता या प्रमाता की सत्ता ? अब यदि परम ब्रह्म अपने स्वरूप का ज्ञाता है तो उसमें ज्ञान-शक्ति मानना चाहिए क्योंकि जड़ में ज्ञान क्रिया-शक्ति नहीं होती, आत्मा या चेतन में होती है। परन्तु यदि आत्मा को ज्ञान-शक्ति से रहित माना जाएगा तो वह जड़ तुल्य हो जाएगा।

वस्तुतः जड़ और अजड़ का भेदक तत्त्व विमर्श ही है। विमर्श का अर्थ है अपने स्वरूप का बहिःप्रकाशन। अजड़ अपने स्वरूप का प्रकाशन करता है

---

८९. फलभेदस्तु लेशतोऽपि न विद्यते एव येन विरोधापत्तिः स्यात्। वही.

९०. द्र०—'ईप्रवि', १. ५. ११, 'पसावि', ११.

इसलिए वह जड़ से भिन्न है साथ ही अजड़ और जड़ में भिन्नता का कारण मात्र प्रकाशन ही नहीं है अपितु प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता भी है। प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता अजड़ का स्वाभाविक धर्म है, आगन्तुक नहीं।[६१] अतः काशैद विमर्श अर्थात् प्रकाशन की पूर्ण स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देता है। यह विमर्श ही जड़ एवं अजड़ में भेद करता है और यदि परमतत्त्व को इससे रहित माना जाएगा तो उसमें और जड़तत्त्व में क्या भेद होगा? तब वह चेतन नहीं रहेगा और वेदान्ती ब्रह्म को जो चेतन कहते हैं उसकी संगति नहीं बैठेगी। इस मत में चेतन का अर्थ है स्पन्द-युक्त होना; ज्ञान, क्रियादि शक्तियों से युक्त होना अथवा ज्ञाता और कर्त्ता होना। किन्तु परम तत्त्व को ज्ञान, क्रिया, स्पन्द से रहित शान्त, कूटस्थ मानने का अर्थ उसको जड़ कहना ही है।

२. विमर्श क्षोभ उत्पन्न नहीं करता है। वेदान्ती विमर्श को ब्रह्म में मानने से इसलिए संकोच करते हैं कि वे विमर्श का अर्थ क्षोभ[६२] मानते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म में विमर्श मानने से उसमें क्षोभ एवं विकल्प उत्पन्न होंगे और तब ब्रह्म शान्त नहीं रह पायेगा। किन्तु काशैद का कहना है कि विमर्श ब्रह्म में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता। विमर्श को विकल्प उत्पन्न करने वाला मानना वेदान्त का भ्रम है। विमर्श तब क्षोभ उत्पन्न कर सकता था जब हम इस विमर्श को ब्रह्म का आगन्तुक या विजातीय गुण मानते।[६३] चूंकि विमर्श तो ब्रह्म का सजातीय गुण है इसलिए सजातीय गुण कैसे किसी वस्तु या परम तत्त्व में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है? लोक व्यवहार भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।[६४]

इसके साथ ही ब्रह्म यदि समर्थ है (और एक मात्र परम तत्त्व होने के नाते उसे सर्वसामर्थ्यवान तो मानना ही चाहिए) तो उस समर्थ तत्त्व में कौन क्षोभ उत्पन्न कर सकता है क्योंकि उससे भिन्न तत्त्व तो कोई है ही नहीं।[६५]

३. विमर्श की स्वीकृति के बिना लोक-व्यवहार सम्भव नहीं है क्योंकि लोक-व्यवहार विविध विषयों का परस्पर भेद एवं भेद पूर्वक उनके आभासन पर निर्भर है। किन्तु शान्त और स्वरूपनिष्ठ ब्रह्म को मानने पर ऐसा सम्भव नहीं।

---

६१. …परामर्शनमेव अजाड्यजीवितम् अन्तर्बहिष्करणस्वातन्त्र्यरूपं स्वाभाविकम् अवभासस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणम् अनन्यसुखप्रेक्षित्वं नाम। 'ईप्रवि', १. ५. ११.

६२. शान्तत्वं हि विमर्शाख्यक्षोभरहितत्वमेव तेषामिष्टम्। 'भा', १. १. १.

६३. विजातीयस्यागन्तुकस्य धर्मस्यैव तत्वात्। प्रकाशस्य हि स्वविषयोऽहमिति विमर्शः स्वभावभूत एव। वही,
स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा। 'ईप्रवि', १ ५. ११.

६४. न हि दाहे शक्तोऽग्निस्तत्र क्षुब्धो दृश्यते। 'भा', १. १. १.

६५. न च शक्तस्य किमपि क्षोभकमिति का कथा शक्तेस्तत्क्षोभकारित्वे। वही.

भेद-पूर्वक विभाजन एवं आभासन की यह शक्ति जीव में मानने से भी संगति नहीं बैठ सकती क्योंकि जीव और ब्रह्म तो स्वरूपतः एक हैं । अतः यह शक्ति ब्रह्म में न होते हुए तत्स्वरूप जीव में मानने से अन्य विसंगतियां[९६] उत्पन्न होंगी जैसे जीव में कहाँ से आई तथा क्यों आई ? इससे जीव में क्या विकार उत्पन्न हुए ? यदि विकार उत्पन्न हुए तो यह उसके स्वरूप की हानि मानी जाएगी और तब जीव ब्रह्म-स्वरूप नहीं रह पाएगा और यदि विकार नहीं आए तब इस शक्ति के जीव की होने से लाभ ही क्या ?

४. काशैद की दृष्टि से ब्रह्म को चैतन्य और निर्विमर्श मानने में अन्तर्विरोध है । वेदान्ती ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण सत्, चित्, आनन्द में उसे चित्स्वरूप बताते हैं यह चित् जब अपने स्वभाव चैतन्य न हो तब क्या लाभ ? चित् का स्वभाव चैतन्य है और वह सदा उसमें अविच्छिन्न रूप से रहना ही चाहिये । यह चैतन्य ही स्पन्दन, सक्रियता, स्वातन्त्र्य, परावाक् है ।[९७] विमर्श का भी यही अर्थ है । अतः ब्रह्म को चित्त मानकर चित्तत्त्व न मानना स्पष्ट अन्तर्विरोध है । यदि ब्रह्म चित्त है, किन्तु चैतन्य नहीं तो फिर जड़ में और ब्रह्म में क्या भेद रह पाएगा ।

यही कारण है कि काशैद में आत्मा को चेतन न कहकर चैतन्य कहा गया है ।[९८] इस मत में यही उसका प्रधानगुण या स्वभाव है, नित्यत्व आदि गुण गौण हैं ।[९९]

५. काशैद वेदान्त के निर्विमर्श ब्रह्म में विमर्श सिद्ध करने के लिए तर्कों के साथ ही शास्त्र प्रमाण भी प्रस्तुत करता है क्योंकि स्वयं वेदान्त की यह मान्यता है कि केवल श्रुत्यनुकूल तर्क ही वस्तुतः तर्क है । इस शास्त्र प्रमाण में प्रमुखतः वह उपनिषद्, गीता, योगसूत्र, आगम को उद्धृत करता है ।[१००]

६. आत्मा या ब्रह्म में विमर्श माने बिना ज्ञाता-ज्ञेय के भेद की व्याख्या सम्भव नहीं है । आत्मा को इसीलिए ज्ञाता कहते हैं कि उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है । जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता वह अनात्मा या ज्ञेय कहा जाता

९६. यदि ब्रह्मणः सा परामर्शशक्तिर्नास्ति जीवस्य कुत आगच्छेत्, अग्निचयदाहकशक्तिपूर्वकं तत्कणदाहशक्तिदर्शनात् । वही.

९७, 'ईप्रका', १. ५. १३.

९८. तदेवं परत्वेन प्रधानतया अभिसंधाय आत्मा चेतन इति । 'ईप्रवि', १. ५. १२.

९९. नित्यत्वाद्यन्यधर्मगौणीभावापादनाय ।'भा', १. ५. १[illegible]

१००. द्र०—'ईप्रवि', १. ५. १४; १. ७. १, 'भा', १. ७. १.

है–यथा घट-पटादि।[१०१] यह ज्ञानशक्ति ही परमेश्वर के अनवच्छिन्न स्वरूपता विमर्श की प्रमुख शक्तियों में से एक है। अतः विमर्श को मानना अनिवार्य है।

यद्यपि काश्मीर शैव दर्शन और वेदान्त दोनों ही दर्शन ज्ञाता और ज्ञेय में परमार्थतः कोई भेद नहीं मानते। फिर भी इस अभेद की सिद्धि भिन्न-भिन्न तरीके से करते हैं। काशैद का तर्क है कि बिना विमर्श या स्वातन्त्र्य शक्ति को माने इनके व्यावहारिक भेद और पारमार्थिक अभेद की व्याख्या में कठिनाई होगी क्योंकि विषय और विषयी यदि भिन्न-भिन्न माने जाएंगे और ज्ञान के लिए ज्ञाता को विषय की ओर उन्मुख मानते हैं तब ज्ञाता की स्वतन्त्रता की हानि होगी। दूसरी ओर विषय को या ज्ञेय को तो ज्ञाता की ओर उन्मुख मान नहीं सकते क्योंकि वह जड़ है।[१०२]

७. वेदान्ती ब्रह्म को सत् तो मानते हैं परन्तु विकल्प के भय से उसमें सत्तात्मक क्रिया (भवन) नहीं मानते।[१०३] इस पर काशैद के दार्शनिकों का कहना है कि किसी भी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है—होना। है और होना एक बात है। दूसरे शब्दों में 'होना' 'है' का प्रादुर्भाव मात्र है, कोई नवीन उत्पत्ति नहीं।[१०४] साथ ही इस 'होने' का कर्त्ता कोई अवश्य है जिसका आश्रय लेकर अन्य सभी क्रियाएं प्रादुर्भूत होती हैं।[१०५] विश्व का, समस्त प्रमातृप्रमेयरूप संसार का आश्रय परमेश्वर है। अतः वही सबसे बड़ा कर्त्ता है। अतः तत्स्वरूप आत्मा में कर्तृत्व शक्ति मानना तर्कसंगत है। सत्ता भवनकर्तृता है और वही सभी क्रियाओं को करने की स्वतन्त्रता भी है।[१०६] अतः ब्रह्म सन्मात्र नहीं, अपितु सत्स्वभाव माना जाना चाहिये।

८. निर्विमर्श ब्रह्म मानने से विश्वाभासन की व्याख्या सम्भव नहीं है। काशैद आभासवाद को मान्यता देता है। इसके अनुसार द्रव्य वह होता है जिसमें

---

१०१. आत्मा हि ज्ञातृत्वेनैवात्मा भवति अन्यथा घटादेरप्यात्मत्वप्रसंगात्। अतः ज्ञेयेनैवात्मासिद्धिः। 'भा', १ ५. १५.

१०२. यदि व्यतिरिक्तं ज्ञेयं स्यात् तत् ज्ञातृस्वरूपस्य आत्मनो यत् एतत् ज्ञेयविषयम् औन्मुख्यम् स्वसंवेदनसिद्धं दृश्यते तत् न अस्य स्यात् तेन व्यतिरिक्तविषयौन्मुख्येन अन्याधीनत्वं नाम पारतन्त्र्यम् अस्य आनीयते…। 'ईप्रवि', १. ५. १५.

१०३. यदि ब्रह्मणः स्वस्वभावभूतं स्वसत्तात्मकं स्वप्रकाशत्वं नाम प्रत्यवमर्शनं तच्च तैर्विकल्पपक्षे क्षिप्तम्। 'शिदृ', ४. १.

१०४. …धातुपाठे तावत् अस् भुवि इति पठ्यते भुश्च भवनं तच्च प्रादुर्भावमात्रं न च नवीन उत्पादः। 'भा', १ ५. १४.

१०५. द्र०—वही.

१०६. सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। 'ईप्रवि', १. ५. १४.

विश्रान्त होकर सभी पदार्थ वर्ग आभासित होता है और व्यवहार-दृशा जिसकी अपेक्षा रहती है । यह समस्त तत्वभूतभावनभुवनसंभार संसार संविद में ही विश्रान्त रहते हुए आभासित होता है । अतः वही सर्वसामर्थ्यवान् आधार है ।[१०७] अब यदि उसमें आभासन की शक्ति और वह भी स्वातन्त्र्यपूर्णशक्ति न मानी जाए तो विश्व व्यवहार की व्याख्या कैसे सम्भव होगी ? आभासन की यह स्वतन्त्र इच्छा एवं शक्ति ही विमर्श है । इसे परमेश्वर में न मानने पर विश्वाभासन की व्याख्या में कठिनाई होगी । इसके साथ ही ज्ञेय के प्रसंग में काशैद का यह मत ध्यातव्य है कि परम शिव परम ज्ञाता होते हुए भी ज्ञेय के रूप में आभासित होता है । अतः परमेश्वर या ब्रह्म में इस आभासनरूप स्वातन्त्र्य को माने बिना उसका ज्ञेय के रूप में आभासित होना सम्भव नहीं है ।[१०८]

९. आत्मा स्वतत्त्व ही है । स्वतत्त्व का अर्थ पूर्ण स्वतन्त्र है क्योंकि जिसको तनिक भी परापेक्षा रहेगी वह अपना स्वतत्त्व खो देगा । स्वतत्त्व की यह हानि सातत्यगमन की हानि ही है और काशैद में आत्मा शब्द का अर्थ है सातत्यगमन अथवा सातत्यगन्तृत्व । यह सातत्यगन्तृत्वलक्षणा से सदैव आत्मा में रहता है ।[१०९] यही विमर्श है । इसे आत्मा में न मानना युक्तियुक्त नहीं ।

माया एवं विमर्श

परम तत्त्व में विमर्श को लेकर प्रस्तुत की गई इन युक्तियों के क्रम में स्वतन्त्र रूप से काशैद एवं वेदान्त के शक्ति और माया के स्वरूप पर भी विचार करना आवश्यक है । काशैद में शिव और शक्ति दो स्वतन्त्र तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व के दो रूप हैं जैसे अग्नि और दाहकता का सम्बन्ध नित्य है वैसे ही शिव-शक्ति का सम्बन्ध जिसे सामरस्य कहा जाता है, नित्य है । यह मत द्वैत का भ्रम पैदा करने वाली माया को भी शिव के स्वातन्त्र्य स्वभाव के अन्तर्गत मानकर अद्वैतवाद की प्रस्थापना करता है । जबकि वेदान्त का विचार दो के सामरस्य का निषेध करते हुए तथा उनमें से एक की नित्य सत्ता मानते हुए अद्वैतवाद की सिद्धि करता है ।

---

१०७. द्रव्यं हि तत् उच्यते यद्विश्रान्तः पदार्थवर्गः सर्वो भाति च अर्थ्यते अर्थक्रियायै···सकलोऽय तत्वभूतभावभुवनसंभारः संविदि विश्रान्तः तथा भवति इति स एव गुणकर्मादिधर्माश्रयभूत-पदार्थान्तिरस्वभावः तामेव मुख्यद्रव्यस्वरूपान् आश्रयते इति सैव द्रव्यम् । वही, १. ५. १२.

१०८. वही, १. ५. १५

१०९. स्वतत्त्वं ह्यात्मा, यस्य च परापेक्षा तस्य तदाधीनतासमये स्वं तत्त्वं हीयते, परकीयत्वापातात् । तद्धानौ च सातत्यचमनं न स्यात् । सातत्यगन्तृत्वं हि आत्मशब्दार्थः, तच्च लक्षणया स्वरूपे सदा तथैवावस्थानमेव न कुत्रापि सदागमनम्, तत्र गत एव हि प्रातस्तत्रस्थ उच्यते इति··· 'भा', १. ५. १५.

वेदान्त में माया के लिए साधारणतः तीन पर्याय प्रयुक्त होते हैं— अविद्या, अज्ञान एवं माया । काशैद में इसे दो दृष्टियों से देखा गया है— संकुचित एवं व्यापक । विमर्श के पर्याय के रूप में व्यापक अर्थ की दृष्टि से तथा विमर्श के अन्तर्गत अनेक शक्तियों के एक प्रकार के रूप में इसे संकुचित दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है । व्यापक अर्थ में इसके अनेक अभिधान हैं—विमर्श, शक्ति, चिति, चित्शक्ति, चैतन्य, स्वातन्त्र्य आदि तथा संकुचित अर्थ में अविद्या, अज्ञान, एवं माया । ये ही शब्द वेदान्त में भी माया के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं । अतः इस संकुचित अर्थ में दोनों मतों में माया के स्वरूप में विशेष भेद नहीं क्योंकि वेदान्त की तरह काशैद में भी इस संकुचित स्वरूप को मोह, भेद, भ्रान्ति आदि का कारण माना गया है ।[११०] तथापि संकुचित एवं व्यापक दोनों ही पक्षों को सम्पूर्ण रूप से देखने पर मतभेद[१११] का केन्द्रबिन्दु ब्रह्म से माया के सम्बन्ध को लेकर है । प्रथम मत नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप ब्रह्म को अनिर्वचनीय एवं अनादि माया के द्वैत से सर्वथा परे मानता है जबकि द्वितीय मत में माया का व्यापक अर्थ शक्ति करते हुए उसे शिव का अविच्छिन्न स्वभाव माना गया है ।[११२]

चित् एवं चैतन्य

काशैद एवं अद्वैत वेदान्त के विचारों के वैषम्य का एक पक्ष उनके द्वारा मान्य चित् के स्वरूप में है । वेदान्त परमतत्त्व को चिन्मात्र कहता है किन्तु शैव दर्शन में यह चिद्रूप है । चिन्मात्र कहने का आशय है कि वह मात्र चेतन शुद्ध-ज्ञान तथा शान्तरूप है । क्रियादि शक्तियों से परे है किन्तु चिद्रूप कहने वाली दृष्टि उसे न केवल चेतन मानती है अपितु चैतन्य को उसका अनिवार्य एवं अविच्छिन्न स्वभाव भी मानती है । इस दृष्टि में चैतन्य का अर्थ, विमर्श अथवा इच्छा, ज्ञान, क्रियादि की पूर्ण स्वतन्त्रता है । परमतत्त्व चिद्रूप है ऐसा कहने का स्पष्ट आशय यह है कि वह चिति से सम्पन्न चैतन्य है, स्वतन्त्र ज्ञाता तथा कर्त्ता

११०. परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छानेच्छारूपा भेदाप्रकाशनं भ्रांतिरूपं प्रति स्वातन्त्र्यरूपा मायाशक्तिः । 'ईप्रवि', १. ६. ५, सैव भगवतो माया विमोहिनी नाम शक्तिः…', वही, १. १. २;… मोहनं मायाव्यापारः । 'ईप्र.वि', १ पृ० ४५;…परमेश्वरस्वातन्त्र्यमेव मायाख्यम्…। वही, पृ० ८०; मीयते परिच्छिद्यते धरान्तः प्रमातृप्रमेयप्रपंचो यया सा माया…। 'पसावि',१५.

१११. माया और ब्रह्म के विवेचन पर निम्न विद्वानों ने भी न्यूनाधिक रूप में प्रकाश डाला है— कविराज, 'भारतीय संस्कृति और साधना', पृ० ४-५; शर्मा, राममूर्ति, 'अवे', पृ० ३१५-६; कृष्णकान्त शुक्ल, "शंकर और अभिनवगुप्त के परम तत्त्व के प्रत्यक्ष की तुलनात्मक मीमांसा", 'दार्शनिक त्रैमासिक', वर्ष १५, अंक २, अप्रैल, १९६९.

११२. …न पुनः ब्रह्मवादिनामिव व्यतिरिक्ता काचित् उपपद्यते । 'पसावि', १५.

है।[११३] वेदान्त में ब्रह्म को चित् मानते हुए चिति क्रिया से सम्पन्न मानना काशैद की दृष्टि से जड़ता को ही प्रश्रय देना है क्योंकि इस मत में चैतन्य से रहित तत्त्व जड़ है। साथ ही इस मत में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं जो इस चैतन्य से सम्पूर्णतः रहित हो, ऐसी स्थिति में ब्रह्म को चित् कहते हुए भी चैतन्य से रहित मानने का आशय इस दर्शन की भाषा में न केवल उसे जड़ कहना है अपितु असत् कहना ही है।

इसी विचार-प्रक्रिया की छाया सत् के स्वरूप में है। वेदान्त में परम तत्त्व सन्मात्र है, शेष मिथ्या है। परन्तु काशैद में परम तत्त्व से आभासित होने के कारण सभी आभास सत्य हैं तथा सत् स्वभाव वाले हैं। प्रथम मत मिथ्या आभासों के समक्ष परम तत्त्व के माहात्म्य को सत् के द्वारा सिद्ध करता है जबकि द्वितीय मत सत्य आभासों के समक्ष परम तत्त्व के वैशिष्ट्य को ज्ञान क्रियादि के स्वातन्त्र्य के द्वारा सिद्ध करता है।

रामानुजीय विशिष्टाद्वैत एवं शिवाद्वयवाद

इस प्रसंग में विशिष्टाद्वैत के मत पर विचार कर लेना भी लाभदायक होगा। रंग रामानुजीय विशिष्टाद्वैत दर्शन के व्याख्याकार इस दर्शन-मत को अद्वैतवाद कहते हैं।[११४] उनके मत में अद्वैत तत्त्व का वास्तविक स्वरूप वही है जो विशिष्टाद्वैतदर्शनदृशा प्रतिपादित किया गया है।[११५] इस मत में चित् एवं अचित् अंशों से विशिष्ट ब्रह्म परम तत्त्व है। ब्रह्म में ये दोनों तत्त्व वास्तविक हैं। इनसे विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। चित् एवं अचित् अंश ब्रह्म में अंशांशिभाव अथवा शरीर-शरीरीभाव से रहते हैं। अतः ब्रह्म और उसके अंशों चित् एवं अचित् में एकता तो है किन्तु यह एक विशेष प्रकार की एकता है। यह एकता भेद से सर्वथा रहित न होकर भेदपूर्ण है। ब्रह्म, जीव एवं जगत् में भेदपूर्ण एकता का प्रतिपादन इस मत की प्रमुख प्रस्थापना है। यह मत पूर्ण अभेद एवं पूर्ण भेद दोनों को ही अयुक्ति मानते[११६] हुए मध्यम मार्ग की शोध करता है अर्थात् ब्रह्म और उसके अंशों में और गाय और उसके पुच्छ आदि के भेद की तरह स्वगत भेद है।

---

११३. ···अतश्च पूर्णरूपायाश्चित एवात्र सर्वकर्तृत्वम्··· 'तन्त्रावि', ११. ९९; चैतन्यम् इति चितिक्रियाकर्तृत्वम्। वही, ९. १८.

११४. Singh, Satyavrata, *Vedantadesika*, p. 343.

११५. वही, पृ० ३१३, ३१५, ३४४.

११६. **"Neither absolute non-difference nor absolute difference is tbe real nature of Reality. Reality is a Transcendental entity to which all the diversity is eternally and alogically related."** वही.

शंकर ब्रह्म को सर्वथा शुद्ध रखने के प्रयत्न में उसे निर्विशेष अथवा गुणों या विशेषणों से सर्वथा रहित, अस्पृष्ट मानते हैं परन्तु रामानुजी मत में ऐसा मानना अनुचित है, अवास्तविक है, क्योंकि विशेषणों से रहित होना भी एक विशेषता ही तो है।[११७] अतः इस मत में ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है।

इस प्रकार, शांकर मत की प्रस्थापनाओं का तर्कपूर्ण खण्डन करके रामानुज-मत यह सिद्ध करता है कि अशेषचिदचित्प्रकार ब्रह्म ही परम सत्ता है। पारमार्थिक दृष्टि से एक ही तत्त्व ब्रह्म में चित्-अचित् का बहुत्व वास्तविक है[११८]।

काशैद और विशिष्टाद्वैत दोनों ही जीव एवं जगत् को सत्य मानते हैं। दोनों ही के मत में, परम तत्त्व जीव एवं जगत् की सत्यता के उपरान्त भी परम तत्त्व दो अथवा तीन नहीं अपितु एक ही है अर्थात् दोनों ही स्वयं को अद्वैतवादी मानते हैं। दोनों ही एकत्व में बहुत्व की स्थापना को प्रश्रय देते हैं। शंकर के निर्विशेषाद्वैत का खण्डन करते हुए दोनों ही मतों ने माया अथवा शक्ति के मिथ्यात्व का निषेध किया है। अतः अपने अद्वैतवादी मतों की स्थापना के लिये दोनों में से किसी ने भी माया, शक्ति अथवा संसार के पूर्ण निषेध की आवश्यकता अनुभव नहीं की। सत्ता और उसके आभास परस्पर विरोधी नहीं हैं—इससे विशिष्टाद्वैत और काशैद दोनों ही मत सहमत हैं। इसी प्रकार विशिष्टाद्वैत का ब्रह्म और काशैद का शिव दोनों ही विश्व में व्याप्त होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण हैं। परन्तु इस सामान्य दृष्टि से प्रतीत होने वाली इन समानताओं के बावजूद दोनों ही मतों में तात्त्विक भेद भी है। विशिष्टाद्वैत जीव एवं जगत् की सत्यता इस कारण से मानता है कि ये ब्रह्म के वास्तविक अंशों के परिणाम हैं। ये सत्य आधार ब्रह्म के आधेय हैं और इस मत में सत्य आधार का आधेय कभी असत्य नही हो सकता इसलिए ब्रह्म के अंश जीव एवं जगत या चित्-अचित् सत्य हैं। परन्तु काशैद की दृष्टि जीव-जगत् और ब्रह्म या शिव में मात्र नित्य सम्बन्ध स्थापित करने की ही नहीं। इस मत में जगत् इसलिये सत्य है कि वह सत्य शिव का आभास है। काशैद में कोई भी पदार्थ अचित् नहीं है। विशिष्टाद्वैत एवं काशैद में जीव-जगत् की सत्यता को लेकर प्रतीत होने वाली समानता वास्तविक नहीं क्योंकि विशिष्टाद्वैत काशैद की तरह जीव-जगत् ब्रह्म में परमैक्य नहीं मानता[११९] अपितु भेद के रहते हुए ऐक्य मानता है ऐसा ऐक्य जिसमें भेद किया जा सके[१२०] परन्तु काशैद की दृष्टि से यह सर्वथा अयुक्तिक एवं असम्भव है।

---

११७. वही, पृ० ३३१-२.
११८. वही, पृ० १५५-६.
११९. वही, पृ० ३४३.
१२०. वही, पृ० ३१४.

काशैद एक ही शिव में स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण बहुत्व मानता है किन्तु यह बहुत्व उसकी अविछिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति से उसी में प्रस्फुरित होता है। अतः सत्य स्वातन्त्र्य शक्ति की भाँति बहुत्व भी सत्य है। दूसरी ओर विशिष्टाद्वैत की दृष्टि में एकत्व में बहुत्व है तो, किन्तु शरीर-शरीरीभाव[१२१] या अंशांशिभाव के न्यायानुसार।

विशिष्टाद्वैत की परम सत्ता ब्रह्म चित्-अचित् अंशों से विशिष्ट है। ये चिदचित् अंश ब्रह्म में वास्तविक रूप से रहते हैं। इनके रहते हुए भी वह इनके क्रिया-कलापों से कैसे अप्रभावित रहता है इसका युक्तिसंगत समाधान विशिष्टाद्वैत के दार्शनिकों के पास नहीं। इसके समाधान हेतु जीव और ब्रह्म, देह और आत्मा, राजा और प्रजा आदि के सम्बन्धों के उदाहरण दिये जाते हैं वे ठीक नहीं हैं अर्थात् रामानुज मत में ईश्वर और जीव का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं। यही नहीं, स्पष्ट ही तीन तत्त्वों को मानते हुए भी यह मत अद्वैतवादी होने का आग्रह रखता है। किन्तु काशैद ने चित् एवं अचित् में कोई भेद नहीं माना। यद्यपि शंकर ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति ब्रह्म को माया से नित्य रूप से पृथक् रखने में लगाई तथापि वे, काशैद-दृशा, सफल नहीं हो पाये। वे ब्रह्म को किसी भी रूप में माया से सम्पृक्त करने का साहस नहीं कर सके। रामानुज ने ब्रह्म और माया में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही शंकर से सिद्धान्त-गत विरोध खड़ा किया परन्तु वे भी मात्र यही कह सके कि विशेष्य ब्रह्म में माया विशेषण के रूप में रहती है अर्थात् उन्होंने दो की स्वीकृति करते हुए एक तत्त्व की स्थापना का प्रयत्न किया। परन्तु ब्रह्म और माया के भेद को वे मिटा नहीं सके। काशैद ने साहस पूर्वक यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि ब्रह्म और माया दो नहीं अपितु एक ही तत्व के दो पक्ष हैं। ब्रह्म का स्वभाव माया है अथवा दूसरे शब्दों में माया ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही माया है।

बौद्ध, वेदान्त एवं शैवों की अद्वयदृष्टि

दर्शन दृष्टिकोण है। दृष्टिकोणों की भिन्नता दर्शन में भेद उत्पन्न करती है। भारतीय दर्शन अपने दृष्टिकोण की भिन्नता अथवा विशिष्टता प्रतिपादित करने के लिए कहीं शब्द-विशेष का आश्रय लेते हैं तो कहीं सामान्य शब्द में अर्थ-विशेष का। सांख्य का पुरुष, न्याय का अदृष्ट, शंकर की माया, बौद्ध का विज्ञान एवं शून्य, काशैद का प्रकाश व विमर्श ऐसे ही कुछ पारिभाषिक शब्द हैं जिन्हें इनके दार्शनिकों ने विशिष्ट अर्थ में प्रस्तुत किया है। ये शब्द न केवल विशिष्ट अर्थ के बोधक हैं अपितु इनकी पृष्ठभूमि में तत्तत् दर्शन-सम्प्रदायों की केन्द्रीय

---

१२१. वही, पृ० ३४४-५.

मान्यताओं का आधार है। अद्वैत एवं अद्वय शब्द भी अद्वैतवादी दर्शनों के व्यवहार में सामान्य रहे हैं, परन्तु इनके सूक्ष्मार्थ का विश्लेषण इन्हें भिन्न-भिन्न रूप में उपस्थित करता है।

वाचस्पत्यम् में अद्वैत शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—
द्विधा इतम् द्वीतम् तस्य भावः द्वैतम् भेदो–नास्ति द्वैतं भेदो यत्र (तद्द्वैतम्)। इसी शब्द को द्वैत-रहित, अनुपम एवं पूर्ण सत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा दार्शनिक अर्थ में इससे आशय है जीव एवं ब्रह्म या परमात्मा का ऐक्य। इस प्रकार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैत-रहित एवं भेद-रहित है।

अद्वय शब्द का व्याकरण-सम्मत अर्थ है—
न द्वयम्। नास्ति द्वयं द्वित्वं तज्ज्ञानं वा यस्य (**न्यायकोष**)।
हलायुधकोष में अद्वयता का अर्थ एकमात्र आत्मा की सत्यता किया गया है। मैक्डोनल, कार्क कैपेलर के शब्दकोषों का अनुकरण करते हुए राममूर्ति शर्मा ने अद्वैत एवं अद्वय शब्दों में कोई भेद न करते हुए अद्वैत के पर्यायवाची शब्दों में ही अद्वय शब्द का ग्रहण किया है।[१२२] किन्तु यह विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

भारतीय दर्शनों में अद्वैत और शांकर वेदान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एस. के. मुखर्जी के विचार में वस्तुतः शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगमिक दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।[१२३]

मूर्ति ने विज्ञानाद्वैत एवं शांकर अद्वैत की समालोचना करते हुए माना है कि ये मत अद्वैतवादी अवश्य हैं, पअन्तु अद्वैतवाद का वास्तविक प्रयोजन शून्यवाद में सार्थक होता है।[१२४] तदनुसार यह मत अद्वयवादी है, अतः अद्वैतवाद के मूलभूत आशय का सही और व्यवस्थित रूप अद्वयवाद में है। दूसरी ओर काशँद, अद्वैतवादी उपर्युक्त मतों की समालोचना करते हुए इन्हें अपूर्ण अद्वैतवादी मानता है।

मूर्ति अद्वैत एवं अद्वय शब्दों पर विचार करते हुए अद्वैत को तत्त्व-मीमांसक-दृष्टि (Ontological approach) और अद्वय को ज्ञान-मीमांसक दृष्टि

१२२. 'अवे', पृ० १-४.
१२३. उद्धृत, वही, पृ० ३.
१२४. द्र०–*CPB.*, p. 217

(Epistemological approach) कहते हैं। उनके मत में अद्वय द्वैत-रहित ज्ञान है। यह समस्त स्वरूपात्मक दृष्टियों से रहित दृष्टि है। यह अद्वैत से भिन्न है क्योंकि अद्वैत में भेद-रहित तत्त्व सन्मात्र (ब्रह्म) या भेद रहित विज्ञान (शुद्ध-चेतना) का ज्ञान होता है। दोनों दृष्टियों में भेद यह है कि अद्वैत दृष्टि जहाँ (ज्ञात) वस्तु (ब्रह्म या तत्त्व) पर बल देती है, इसका लक्ष्य निर्विकार तत्त्व से एकाकार होना है वहाँ अद्वय दृष्टि वस्तु या तत्त्व का सिद्धान्त नहीं। उसके मत में किसी वस्तु को तत्त्व या सत्ता की दृष्टि से देखना एक दृष्टि के प्रति पक्षपात है। इसलिये अद्वयवाद में समस्त दृष्टियों के परित्याग की दृष्टि अपनाई गई है।[१२५] इस प्रकार की अद्वय दृष्टि अद्वैतवादी मतों में शून्यवाद की है। वह शून्यवाद को न केवल भारत अपितु कहीं भी निर्मित प्रथम अद्वयवाद या पूर्णवादी मत मानते हैं और प्रमाणों के द्वारा इसे सर्व प्रथम सिद्ध करने का श्रेय भी शून्यवाद को ही देते हैं।[१२६]

मूर्ति द्वारा अद्वैत एवं अद्वय शब्दों की व्याख्या के साथ एक सीमा यह रही है कि यह अर्थ मात्र विज्ञानवाद, अद्वैत वेदान्त एवं शून्यवाद को ध्यान में रखकर किये गये हैं। अद्वैत शब्द के पीछे तत्त्वमीमांसक दृष्टि रही है, यह तो स्वीकार्य है, किन्तु अद्वय केवल ज्ञान-मीमांसक दृष्टि है, इससे यहाँ कुछ विरोध है। शून्यवाद की दृष्टि से अद्वय का अर्थ ज्ञान-मीमांसक हो सकता है, परन्तु अद्वयवादी दर्शन काशैद की दृष्टि से इस शब्द में ज्ञान एवं तत्त्व मीमांसक दोनों दृष्टियों का समन्वय है। अतः अद्वैतवाद का मूलभूत आशय अद्वयवाद में सिद्ध होता है तथा उसका पूर्ण एवं समन्वयात्मक स्वरूप जितने परिष्कृत रूप में काशैद में प्रस्फुटित हुआ है उतना न तो शांकर मत और विज्ञानवाद के अद्वैतवाद में और न ही शून्यवाद के अद्वैतवाद में हुआ है। फलस्वरूप काशैद के दार्शनिकों द्वारा अपने मत को अद्वैयवाद[१२७] कहना सर्वथा युक्तियुक्त है।

१२५. द्र०—वही, पृ० २१७-८.

१२६. द्र०—वही, पृ० ३३७.

१२७. अद्वयवादः स्थितः। 'शिद्‌व', ३. १;
शिवाद्वयवाद एव युक्तियुक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। वही, ३. ७;
और भी द्र०—वही, ४. ३४, 'तंत्राबि', १. १५६, ६. १७१.

षष्ठ परिच्छेद

मोक्ष

१. काश्मीर शैव दर्शन

२. बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

३. वेदान्त एवं शैव मत : तुलनात्मक विश्लेषण

१
काश्मीर शैव दर्शन

(अ) बन्ध

काशैद द्वारा बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन के अनेक पक्षों की आलोचना-यात्रा के उपरान्त इस अन्तिम परिच्छेद में हमें उस पक्ष पर विचार करना है जिसे, अन्य दर्शनों की भाँति, ये दर्शन भी अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। मोक्ष-विचार ही वह अन्तिम पड़ाव है जहाँ प्रत्येक दर्शन अपनी पूर्व यात्रा के लक्ष्यों को प्राप्त करता है तथा यात्रा करने वाले दर्शन रूपी अन्य सहपाठियों से अपनी उपलब्धि का लेखा-जोखा करता है।·····वेदान्त दर्शन का मुक्ति-विचार क्या है, काशैद उसके इन विचारों का क्या एवं कैसे मूल्यांकन करता है, इस प्रकार के बिन्दुओं के विस्तार में जाने से पूर्व स्वयं काशैद की मोक्ष-सम्बन्धी मान्यताओं का परिचय अत्यावश्यक है।

कारण एवं स्वरूप

यह एक सर्वदर्शन-सामान्य मत है कि बन्ध का कारण अज्ञान है। काशैद के सुप्रतिष्ठित टीकाकार जयरथ[१] कहते हैं कि सभी दर्शन सम्प्रदाय इस बारे में एक मत हैं कि उनका लक्ष्य मोक्ष है। सभी एक स्वर से यह भी मानते हैं कि मोक्ष का प्रतिपक्ष संसार है और संसार हेय है। इसी प्रकार इस बारे में भी विवाद नहीं है कि संसार का कारण मिथ्या ज्ञान है तथा इसके प्रतिकूल अर्थात् सम्यक् ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार से अज्ञान दूर होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रमुख रूप से मत-भेद और विवाद, ज्ञान एवं अज्ञान के स्वरूप के विषय में उत्पन्न होता है। जब तक ज्ञान एवं अज्ञान के सही स्वरूप को न समझा जाए तब तक पूर्ण, वास्तविक एवं नित्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं।

अज्ञान का अर्थ

काशैद के मतानुसार बन्धन का कारण अज्ञान[२] अथवा मल है।[३] इस मत

---

१. 'तंत्रावि', १. २२.

२. शै दर्शन में सामान्यरूप से अज्ञान के विविध नामों का प्रयोग किया गया है जैसे मल, पशुत्व, तिरस्कार, तम, अविद्या, आवृति, मूर्च्छा आदि। ये सब अज्ञान के पेर्याय हैं। काशैद के साहित्य में प्रमुख रूप से मल पशुत्व अविद्या तिमिर जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है।
मलो अज्ञानं पशुत्वं च तिरस्काररसस्तमः।
अविद्या छ्यावृतिमूर्च्छा पर्यायास्तत्र चोविताः॥ उद्धृत, वही, १३. ४४.

३. अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्। 'तंत्रसार', पृ० ५,
अज्ञानेन बिना बन्धमोक्षो नैव व्यवस्था······। 'तंत्रा', १३. ४१,
·· अज्ञानरूपो बन्धमोक्षौ। 'शिदृ', ३. ६८–९; 'गीता' (५. १६) भी यही मत व्यक्त करती है।

की यह एक विलक्षणता है कि इसमें अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं अपितु ज्ञान की अपूर्णता माना गया है। **शिवसूत्र** (१. २) में कहा गया है 'ज्ञानं बन्धः'। यहाँ ज्ञान का अर्थ अपूर्णज्ञान ही मानना उचित है क्योंकि यदि सूत्रकार का आशय ज्ञान के अभाव से होता तो 'अज्ञानं बन्धः' कहा जा सकता था, किन्तु अज्ञान के स्थान पर ज्ञान शब्द इस बात का द्योतक है कि इस मत में अज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही है । ऐसा मानना तभी सम्भव है जब अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव न मानकर अपूर्ण ज्ञान समझा जाए। अपूर्णता का एक संकुचित पक्ष ही है किन्तु अभाव को भाव का एक पक्ष नहीं माना जा सकता।

'ज्ञानं बन्धः' की उपर्युक्त व्याख्या इसलिये भी संगत है क्योंकि इस दर्शन-दृष्टि में किसी सत् वस्तु का अभाव कदापि सम्भव नहीं । वस्तुतः अभाव असत् का ही पर्याय है और अज्ञान को अभाव किंवा असत् मानने से उसके भावी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेंगे क्योंकि असत् में कुछ भी करने की सामर्थ्य नही होती। जब उसका अस्तित्व ही नहीं है तब किसी भी प्रयोजन की सिद्धि में उसे माध्यम नहीं माना जा सकता। काशँद के दार्शनिक **गीता** की इस मान्यता (२. १६) से पूर्ण सहमत हैं कि भाव का अभाव नहीं हो सकता एवं अभाव को भावरूप में नहीं लाया जा सकता। तदनुसार अज्ञान यदि अभाव है तो फिर उसका अभाव होना ही परमार्थ है और यदि भाव है तो उसका यही रूप यथार्थ है। भाव-पक्ष की मान्यता में ही यह अवसर सुरक्षित है कि अज्ञान का अर्थ अपूर्ण ज्ञान किया जा सके।

अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव के स्थान पर अपूर्ण ज्ञान करने की यह प्रवृत्ति **शिवसूत्र** से आरम्भ हुई जिसे काशँद के भावी दार्शनिकों ने अपनी विस्तृत व्याख्याओं से पुष्ट किया । सोमानन्द[४], अभिनवगुप्त[५] और जयरथ[६] इसी का समर्थन करते हुए अज्ञान का अर्थ संकुचित ज्ञान करते हैं। अपूर्णज्ञान-रूप इस अज्ञान का स्वभाव अन्धकार की तरह है। यह परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से उल्लसित है और उसी के परमार्थ स्वरूप को संकुचित करने वाला है। आत्मा के अनात्म एवं अनात्मा के आत्मरूपी अभिमान का कारण यही अज्ञान है। दूसरे शब्दों में, जो आत्मा पूर्ण चित्स्वभाव है एवं सर्वत्र व्याप्त है वह इसी अपूर्ण ज्ञान के कारण स्वयं को संकुचित चिति शक्ति वाला तथा संकुचित व्याप्ति वाला समझने लगता है। साथ ही सब कुछ आत्म स्वभाव होने पर भी उनमें से कुछ की अनात्मरूप में

४. द्र०— शिदृवृ', ३. ४८.

५. द्र०—'तंत्रा', १. २५, २६; १३. १६.

६. द्र०—'तत्रावि', १. २३, ३०; ६. ६२.

अनुभूति कराने के लिए भी यही जिम्मेदार है। इस अज्ञानरूप बन्ध के कारण ही जीवात्मा शरीर, भुवनादि के संकुचित आकारों के रूप में अपनी अनुभूति करता है। शरीरोपाधि धारण करना ही इसका मूल है।[७] इसी के फलस्वरूप शुद्ध प्रमाता का शुभाशुभ कर्मों से सम्बन्ध जुड़ता है।[८] पूर्णज्ञानक्रियात्मक परमेश्वर अपनी इच्छा से ही अपने स्वरूप को संकुचित रूप में व्यक्त करता है और इस संकोच का कारण मल है।[९] मल परिमित प्रमाता के तात्त्विक स्वरूप के विधायक हैं। ये तीन प्रकार के हैं—आणव, मायीय एवं कार्म।

आणव मल

आणवमल[१०] वह अन्तरंग आवरण है जो प्रमाता को तात्त्विक स्वरूप के बोध से शून्य बनाता है। चित्त का स्वरूप द्विविध है ज्ञातृ और कर्तृ का। ज्ञातृत्व और कर्तृस्वरूप के संकोच के भेद से इसे दो प्रकार का कह सकते हैं। एक वह जो चित्तत्व के ज्ञातृस्वरूप को संकुचित बनाता है और दूसरा वह जो उसके कर्तृस्वरूप को संकुचित बनाता है। दोनों ही प्रकार का आणव मल स्वातन्त्र्य स्वरूप के संकोच के लिए उत्तरदायी है। **स्वच्छन्दतन्त्र**[११] भी यही कहता है कि पुरुष के स्वरूप के संकोच का कारण आणव मल है। यह वस्तु-सत्य न होकर अवरोहण लीला के लिए परमेश्वर के द्वारा अपने स्वातन्त्र्य से की गई मल की कल्पना मात्र है।[१२]

मायीय मल

जब द्विविध आणव मल के द्वारा प्रमाता के स्वरूप का संकोच हो जाता है तब मायीय मल से आवृत होकर, प्राण, बुद्धि आदि वेद्य रूपों में उसका अहन्ता का अभिमान दृढ़ हो जाता है। इस अभिमान के फलस्वरूप, वह अपने से अभिन्न एवं चिन्मय प्रमेय पदार्थों को भी अपने से सर्वथा भिन्न एवं अचिन्मय समझने लगता है। पुरुष या जीव की इस भेद-बुद्धि को ही मायीय मल कहा जाता है। जिस प्रकार कम्बुक तण्डुल का आवरण बनता है उसी प्रकार मायीय मल भी माया से लेकर विद्या तक छः सूक्ष्म कंचुकों के द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ढक लेता है। इसके इस नाम से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि भेद-बुद्धि माया के द्वारा

७. अज्ञानमूलं किल शरीरोपाधिग्रहणम्…। 'पसावि'; ८८.

८. द्र०–वही, ५३.

९. द्र०–'शिदृ', ७. ८७; 'तन्त्रा', ९. ६५–६.

१०. द्र०–'ईप्रवि', ३. २. ४.; 'पसावि', २४.

११. संकोच एव हि पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम्। 'स्वच्छन्दतन्त्र', टीका, १०. १२१२.

१२. द्र०–'तन्त्रा', १३. १०३, ११०.

होने से केवल यही मायाकृत है, वस्तुतः तीनों ही प्रकार के मलों का कारण माया है।[१३]

कार्म मल

भिन्न वेद्य प्रथा के परिणाम स्वरूप संकुचित प्रमाता कतिपय प्रमेयों में शुभता का और कतिपय में अशुभता का आरोप करने लगता है। वह मितात्मा शुभ या अशुभ के विकल्पों से परिछिन्न होकर कर्म करता है, इसलिए कार्म मल को शुभाशुभ विकल्प रूप कर्मों का कारण कहा जाता है।[१४]

काशैद में इस कार्म मल का विशेष महत्त्व है। यद्यपि तीनों मलों के कारण सभी जीवात्मा और देवता संसरण करते हैं तथापि तीनों में कार्म मल का प्राधान्य है क्योंकि कार्म मल ही जन्म और भोग का साक्षात्कारण है। आणव व मायीय मल यद्यपि संसार में साक्षात् कारण नहीं हैं तथापि कार्म मल के प्रभाव से वे कारण बन जाते हैं।[१५] ये त्रिविध मल एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं हैं। मितात्मा अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही आणव, मायीय और कार्म मलों से ग्रस्त होता हुआ अनुभव करता है। परमार्थ ज्ञान अद्वय है, अभेदात्मक है। किन्तु ये मल भेदात्मक हैं। अतः इन्हीं को बन्धरूप अथवा बन्ध का कारण कहा जाता है।[१६]

षट्कंचुक

मलों के साथ ही काशैद के साहित्य में स्वरूप-गोपन के छः कंचुक भी माने गये हैं जो उसके स्वातन्त्र्य स्वभाव के विविध पक्षों को संकुचित करते हैं। ये हैं माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति। इन कंचुकों से घिरा हुआ ही मितात्मा पशु कहलाता है।[१७]

तिरोधान शक्ति

शिव अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण स्वरूप गोपन की क्रीड़ा में पण्डित है।[१८] काशैद के दार्शनिकों की स्वातन्त्र्य की धारणा की व्यापकता का पता इस बात से चलता है जब वे इसे बन्ध और मोक्ष दोनों का ही कारण मानते हैं।[१९] इस स्वातन्त्र्य में अनेक शक्तियाँ सन्निहित हैं। उनमें से एक तिरोधान

---

१३. 'पसावि', २४; 'ईप्रवि', ३. २. ५.

१४. द्र०—वही, 'स्वच्छन्दतंत्र', टीका, ५. ८८.

१५. द्र०—'ईप्रवि', ३. २. १०; 'तंत्रावि', ६. ६१; 'पसावि', २४.

१६. विस्तारार्थ द्र०—'शिदृ' १. ४२-३; 'तंत्रावि' १. ४. ६. ६५-८८.

१७. 'तंत्रा', ६. २०४.

१८. द्र०—वही, ४. १०-११, ६. १४६. १३, १०४; तंत्रावि', १. ३७-८, ४. २५४.

१९. न केबल स्वातन्त्र्यादात्मानं बध्नात्येव यावन्मोचयति···। वही, १३. १०५, और भी द्र०—वही, १. २२३, ४. ५५-६, १०६-१०,

शक्ति बन्ध का साक्षात् कारण है जो मितात्मा के परमार्थ स्वरूप को संकुचित कर देती है। इसी के कारण वह शुभाशुभ कर्मों में व्यस्त होकर फल भोग करता है। अनुग्रह शक्ति उसके परमार्थ स्वरूप को प्रत्यभिज्ञात बना देती है अथवा प्रकट कर देती है।[२०] दोनों शक्तियाँ अविछिन्न स्वातन्त्र्यरूप हैं, अतः यह कहना सर्वथा उचित है कि जिस शक्ति से अज्ञ शक्ति मोहित होकर बन्धन-ग्रस्त होता है, उसी शक्ति के असंकुचित स्वात्म स्वरूप का अनुभव करके प्राज्ञ मुक्त होता है।[२१]

शिवदृष्टि में ऐक्य ज्ञान के स्थान पर द्वैत ज्ञान को बन्ध का स्वरूप कहा गया है।[२२] **तन्त्रालोक** में इसके दो रूप बताये गये हैं—आत्मा में अनात्मा का अभिमान तथा अनात्मा में आत्मा का अभिमान।[२३] **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी** के अनुसार जब मितात्मा स्वयं को अनुत्तर स्वातन्त्र्य के स्थान पर संकुचित आभासन रूप स्वातन्त्र्य वाला समझने लगता है तब अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य स्वभाव के विषय में अपूर्ण ज्ञान रखने वाला यह प्रमाता ही बन्धन-ग्रस्त कहा जाता है।[२४] **विज्ञान-भैरव** में पारिमित्य की प्रतीति को बन्धन कहा गया है।[२५]

(ब) मोक्ष

स्वरूप

काशैद के दार्शनिकों ने मुक्ति के स्वरूप को बड़ी ही व्यापक एवं पूर्णदृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः मोक्ष एक ऐसी पूर्ण एवं चरमावस्था है जिसका शब्दों से वर्णन सम्भव नहीं। वाणी उसके वर्णन में समर्थ नहीं, क्योंकि वह शब्दातीत अवस्था है। उसकी पूर्णता की अनुभूति स्वरूप-ज्ञानी योगी ही कर सकते हैं। तथापि काशैद के दार्शनिकों ने उसके स्वरूप को अपने ग्रन्थों में विस्तार से यथासम्भव अभिव्यक्त किया है।

इस मत से मुक्त पुरुष वह है जिसने सभी प्रकार के अध्व-बन्धों को क्षीण कर लिया है। सभी अध्वों से मुक्ति ही शैवों का परम पद है।[२६] इस स्थिति में सभी प्रकार के द्वैत-विकल्पों का भी क्षय हो जाता है। विकल्पों के क्षीण होने

२०. द्र०—'पमावि', ६.
२१. येनैव मुह्यति जड: प्राज्ञस्तरति तेनैव संसारात्। 'भा' में उद्धृत १. १. १.
२२. द्र०—'शिदृवृ', १. १.
२३. 'तन्त्रा', ५. १०५-६.
२४. 'ईप्रवि', ४. १. ३.
२५. 'विभैवि', १३५.
२६. 'तन्त्राविं', १. ३४.

से इसे निर्विकल्पावस्था भी कहा जा सकता है।[२७] इस दर्शन में स्वरूप ज्ञान को ही मोक्ष माना जाता है। जो आत्मा का स्वरूप है वही मोक्ष का भी स्वरूप है।[२८] स्वरूप के सम्बन्ध में कल्पित समस्त संकोचरूप अज्ञानों का अभाव होकर स्वरूप के सम्पूर्ण रूप का साक्षात्कार हो जाना ही मोक्ष है।[२९] यह साक्षात्कार अथवा स्वरूप-प्रथन अथवा स्वरूपज्ञान और कुछ नहीं परम शिव से मितात्मा की ऐक्यानुभूति है। जिस क्षण मितात्मा को परमशिव में स्वरूपैक्यानुभूति हो जाती है उसी क्षण उसे अपने विस्मृत परमार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अतः शिव से ऐक्यानुभूति ही मोक्ष है।

इस दर्शनानुसार मोक्ष कोई नूतन उपलब्धि नहीं है, अपितु ज्ञात का ही का ही ज्ञान है। मितात्मा, अपने पूर्वज्ञात, किन्तु मध्य में विस्मृत परमार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करता है। बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था अभिमानमात्र साररूप थी, किन्तु जब पूर्ण स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब अभिमान गल जाते हैं। अतः इसमें कोई ऐसी अपूर्व नूतनता नहीं है जो संविदात्मा में पूर्वतः विद्यमान न हो।[३०]

मुक्ति का दृष्टिकोण

काशैद की मान्यता के अनुसार यह जगत् शिव में समाहित है। दूसरे शब्दों में यह शिवात्मक है। जगत् के आभासन में शिव का स्वातन्त्र्य ही कारण है। अतः जो पुरुष अथवा मितात्मा मुक्त है अर्थात् शिव से जिसने ऐक्यानुभूति कर ली है, उसका जगत् के प्रति वही दृष्टिकोण हो जाता है जो वस्तुतः शिव का जगत् के प्रति है अर्थात् मुक्त पुरुष इस जगत् को त्याज्य, मिथ्या अथवा हेय न मानकर इसे शिवरूप अथवा अपने से अभिन्न मानता है। वह 'सर्वो ममायं विभवः' तथा 'अहमेव विश्वात्मा' की मान्यतानुसार जगत् को अथवा कहा जाए समस्त सत्ता मात्र को आत्मीय समझने लगता है।[३१] यहाँ इस विचार के साथ जगत्-सम्बन्धी परिच्छेद में किये गए विवेचन के उस अंश का स्मरण किया जा सकता है जिसके अनुसार इस दर्शन में जगत् को मिथ्या नहीं, सत्य माना गया है। जगत् को सत्य मानने के कारण ही मुक्तावस्था में उससे आत्मीयता की अनुभूति की बात कही

२७. विकल्पनिर्ह्रासिन निर्विकल्परूपसात्मीभावे विश्वात्मसाक्षात्कारलक्षणः स्वप्रत्यय एव मोक्षः···। 'ईप्रवि', ४. १. १२, और भी द्र०—'पसावि', ४२.

२८. ···यदेव आत्मनो लक्षणम् तदेव मोक्षस्य। तन्त्रावि', १. ३४; मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथन हि सः। स्वरूपं चात्मनः संवित्··· । वही,

२९. वही, १. २४.

३०. 'पसावि', ६०.

३१. वही, ५१.

जाती है। यदि जगत् असत्य माना जाता तो मुक्तावस्था में उसकी असत्यता की अनुभूति सम्भव होती और तब उससे आत्मीयता अनुभव करने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु इस दर्शन-मत में जगत् सत्य है; अतः वह मुक्तावस्था में भी सत्य ही रहता है। भेद मात्र यह है कि बद्ध मितात्मा उसे अपने से भिन्न समझता है तथा मुक्त आत्मा अपने से अभिन्न अर्थात् शिवरूप समझता है।

काशैद में मोक्ष ऐसी पूर्णता है जिसमें किसी भी प्रकार के अभाव या पारतन्त्र्य की लेशमात्र कल्पना भी नहीं। यह सर्वोत्तीर्ण अवस्था है जिसे तुर्यातीतावस्था में योगी ही अनुभूत कर सकता है। परमेश्वर से तादात्म्य की अनुभूति या प्रत्यभिज्ञान के बाद समस्त सम्पत्तियाँ, सिद्धि, ऐश्वर्य स्वयमेव उपलब्ध हो जाते हैं जैसे रोहण के प्राप्त होने पर सभी रत्न स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः मुक्त पुरुष के लिए वांछनीय कुछ रहता ही नहीं है क्योंकि उसने समस्त प्रापणीय से परावस्था को प्राप्त कर लिया है। वांछा तो उस वस्तु की की जाती है जो उपलब्ध न हो और स्वयं से परे हो, भिन्न हो। परन्तु मुक्त पुरुष को सभी वस्तुएं स्वतः उपलब्ध हैं, वह स्वयं समस्त ऐश्वर्य का स्वामी है और सभी कुछ उसका स्वात्म है, कुछ भी उससे परे नहीं है, तब उसके लिए क्या वांछनीय शेष रह सकता है।[३२]

बन्ध एवं मोक्ष के विषय में काशैद के दार्शनिकों के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि इस दर्शन में बन्ध का अर्थ है द्वैत-बुद्धि एवं संकोच तथा मोक्ष का अर्थ है ऐक्य की अनुभूति एवं पूर्ण स्वातन्त्र्य। बन्ध की तरह मोक्ष की चर्चा भी व्यवहार ही है।[३३] इस अद्वयवाद में परमार्थदृशा न कोई बन्ध है और न ही मोक्ष।

यद्यपि पूर्वपृष्ठों में बन्ध एवं मुक्ति के स्वरूप के अन्तर्गत जीव की अप्रत्यक्ष चर्चा की जा चुकी है तथापि इस पर संक्षेप में स्वतन्त्र रूप से विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि बन्ध-मुक्त की व्यावहारिक चर्चा का सीधा सम्बन्ध जीव से है।

३२. द्र०—'ईप्रवि', १. १. १; ३. २. ११-२

३३. बन्ध और मोक्ष की इस व्यावहारिक व्यवस्था के उदाहरण स्वरूप सोमानन्द कहते हैं कि जैसे कोई सार्वभौम राजा अपनी इच्छा से रथादि के वाहन का परित्याग करके पैदल ही चलते हुए क्रीड़ा करता है उसी प्रकार परमेश्वर भी नित्य मुक्त होते हुए भी स्वेच्छावश स्वयं को बद्ध के रूप में देखता है और असंकुचित शक्तियों से नित्य सम्पन्न होते हुए भी संकुचित समझने लगता है। साथ ही राजकर्म करने वाले नृप को जैसे व्यक्तिगत सुख की हानि नहीं होती उसी प्रकार बन्ध-मोक्ष की इस क्रीड़ा में परमेश्वर के परम स्वरूप आनन्दस्वभाव पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता।
द्र० 'शिदृ', १. ३७-८; ६. ११२-७.

जीव का स्वरूप

काशैद के मतानुसार आत्मा अथवा जीव[३४] उसे कहा जाता है जो पर, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप कोशत्रय से परिवेष्टित होता है। यद्यपि इसका परमार्थ स्वभाव पूर्ण स्वातन्त्र्य है तथापि माया शक्ति के कारण यह स्वयं को आणव, मायीय एवं कार्ममलों के पाशों में बँधा हुआ समझने लगता है। इसके पशु नाम की यही सार्थकता है। यह अनन्त व असीमित है। सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता से नित्य सम्पन्न है। किन्तु अज्ञान (स्वरूप के अपूर्ण ज्ञान) के कारण स्वयं को घटाकाश की भाँति संकुचित शक्ति वाला समझने लगता है। देशकाल की सीमाओं से परे होते हुए भी यह स्वयं को इनकी सीमाओं से बँधा हुआ समझने लगता है। इसमें अचित् का लेश भी नहीं, यह नित्य चित्स्वभाव है, किन्तु अज्ञानवश मलरूप अचित् से स्वयं को ढक लेता है जिसके कारण यह चिदचिद् रूप का अवभास बन जाता है।[३५]

पशु की भेद-बुद्धि का कारण इसका अज्ञान है। जो विश्व परमार्थदृशा उससे भिन्न नहीं है उसके साथ यह भेद का व्यवहार करने लगता है तथा भिन्न ही कर्मफल की इच्छा करता है। इसी भेद-व्यवहार के कारण इसे पुनः पुनः स्वर्ग-नरकादि का भागी बनना पड़ता है।[३६] माया इसके सम्यक् स्वरूप का गोपन कर देती है, इसको अन्धा बना देती है। तब यह समझने लगता है कि कर्म इसे बाँध रहे हैं। काल इसे संकुचित बना रहा है और बाल्य-यौवनादि शरीर और बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में यही संसरण कर रहा है। इस प्रकार परमार्थतः संसरणशील न होने पर भी यह स्वयं को संसरणशील और मलों से घिरा हुआ मानने लगता है।[३७]

भोक्तृत्व

काशैद के मतानुसार यह विश्व व्यवहारदृशा भोग्य स्वभाव वाला है। इसका भोक्ता, देही या आत्मा है। यह भोक्ता देही कोई अन्य नहीं अपितु वस्तुतः

३४. काशैद के साहित्य में जीव के लिये आत्मा पशु, संसारी, संकुचित-प्रमाता आदि नामों का व्यवहार किया गया है। समस्त भूतजात को अपनी ज्ञान क्रिया शक्तियों के द्वारा जीवित रखने के कारण वह जीव है। समस्त प्रमातृप्रमेय रूप विश्व का वहन करने के कारण उसे वाहक तथा प्रमेय-पदार्थ को स्वयं से सम्बद्ध करके अवभासित करने के कारण उसे अवभासक भी कहा जाता है। इसी को शून्य, प्राण और पुर्यष्टक शब्दों से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि इन्द्रिय-शक्तियों की साधारण प्राणनात्मिका व प्रेरणामयी प्राण-शक्ति ही इसका जीवन है। द्र०—'ईप्रवि', ३. २ १३-५, 'तन्त्रावि', ४. २४२.

३५ शिदृवृ., १. ४३ 'पमा'; १६, २४, 'ईप्रवि', ३. २ ३, 'तन्त्रावि', ६. २०१.

३६. 'पमावि' २५.

३७. 'ईप्रवि', ३. २. २, ४ १. २. 'प्रहसू', ६, 'प्रहसूवृ', १२.

परम शिव ही है। परम शिव ही, जो कि चिदानन्दैकघन है, स्वातन्त्र्य स्वभाव वाला है, अपने परमार्थ स्वरूप को छिपाकर स्वेच्छा से ही, नट की तरह, देह प्रमाता की भूमिका अपनाता है। यह जिस भोग्य शरीर या विश्व का भोग करता है वह विश्व भी स्वयं उसी के द्वारा निर्मित है क्योंकि शिव से व्यतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं। शिव ही भोक्ता और भोग्य के लक्षणों वाले इस प्रमाता प्रमेय रूप युगल को खिलौने की तरह उठाता है, चलाता है या बनाता है। इसी कारण, उसकी इच्छा से ही यह प्रमातृप्रमेयरूपी भेद-प्रधान व्यवहार चलाता है।[३८]

पशु, पति तथा शिव में भेदाभेद

कतिपय भारतीय दर्शनों में जीव के बाद ईश्वर की कल्पना भी मिलती है। काशैद में लगभग इसी भाँति पति की कल्पना है। पति पशुओं का स्वामी है। यह पशुओं में श्रेष्ठतम है। यह अहंकाररूप प्रभु है। यह शास्त्रोपदेश आदि के द्वारा ज्ञेय वस्तुओं का शासन करता है। विलयशक्ति से आघ्रात होने के कारण यह संसारियों का उसी में रोधन-अवस्थापन करता है, अपनी नियति शक्ति के द्वारा विश्ववैचित्र्य की यथास्थिति में संरक्षण करता है, कर्म करने वालों को कर्मानुसार फल देता है। इस प्रकार संरक्षण का भाव निहित होने से इसे पति (पाति रक्षति इति पतिः) कहा जाता है।[३९]

पशु और पति के इन व्याख्यानों में भेद यह है कि जब प्रमाता प्रमेयों को अपने से अभिन्न रूप में देखता है तब वह पति है और जब माया शक्ति प्रमेयों को उससे पृथक् रूप में प्रकट करती है तब पशु है। पति क्लेश एवं कर्मों से कलुषित नहीं होता परन्तु पशु कलुषित होता है। पति मुक्त होता है। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने अंगों को अपने से अभिन्न समझता है उसी प्रकार पति भी भाव जगत् को अपने से अभिन्न समझता है।[४०]

इस अद्वयवाद में परमार्थदृशा पशु और पति में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार पशु, पति और परम शिव में भी कोई भेद नहीं। परम शिव जिस प्रकार शक्तिमान् है उसी प्रकार जीव या पशु और पति भी शक्तिमान् हैं। भेद केवल यह है और जो भेद वास्तविक नहीं है, कि पशु स्वयं को संकुचित शक्तिमान् समझने लगता है—यद्यपि वह नहीं है। शिव की ही भाँति पशु भी प्रकाश-विमर्श-मय है किन्तु वह अपने प्रकाशन स्वभाव के विषय में अज्ञान से ग्रस्त है। पशु में सुख और आनन्द उसकी प्रकाशवृत्ति है जो सत्त्वरूप में है। सत्ता का अभाव

३८. द्र०—'पसावि', ८.

३९. विस्तारार्थ द्र०—'ईप्रवि', ४. १. ६, तन्त्रावि', १. ६. १०४.

४०. 'ईप्रका', ३. २. ३, और भी द्र०—ईप्रवि', ३. २. ३.

मानना अर्थात् स्वयं को असत् मानना, आनन्द से रहित मानना ही उसका तम है। सत्त्व और तम का मिश्ररूप रजोगुण भी उसमें है जो दुःख का कारण है इन सत्त्व, रज, तम के अतिरिक्त पशु में कोई चतुर्थ गुण नहीं होता। ये गुणत्रय उससे अभिन्न नहीं अपितु भिन्न ही कहे गये हैं।[४१]

जीवन्मुक्त का व्यवहार

मुक्ति के बाद में यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि शरीर के रहते ही इसी जीवन में मुक्ति सम्भव है या नहीं। काशैद के ग्रन्थों में व्यक्त किये गये मुक्ति-सम्बन्धी विचारों से यह निश्चय होता है कि इस मत का झुकाव जीवन्मुक्ति को सिद्ध करने की ओर अधिक है। जयरथ स्पष्ट ही प्रत्यभिज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्ति को इस दर्शन का प्रयोजन स्वीकार करते हैं।[४२] जीवन्मुक्ति के प्रति यह आग्रह साधारण है। इस मत के सिद्धान्त के अनुकूल भी यही है।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार जिस क्षण गुरु के वचनों को सुनकर अथवा क्रिया लक्षणरूप स्वातन्त्र्य का अभिज्ञान करके मितात्मा को उत्कृष्ट परम-ऐश्वर्य की अनुभूति हो जाती है उसी क्षण वह जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। तब वह समस्त प्रमेयों के परमार्थ स्वरूप को जान लेता है और उन्हें स्वात्मरूप समझने लगता है। यही जीवन्मुक्त की शिवरूपता है उसके लिये कोई वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। समस्त वस्तुओं को वह अपने से अभिन्न समझने लगता है।[४३] दूसरे शब्दों में मलों से सर्वथा रहित, शुद्धचैतन्य, सर्वोत्तीर्ण, देशादि के अभाव से परे, सर्वव्यापी, ज्ञातृकर्तृशक्तिमय, ध्रुव, दिक्, काल, आकाशादि की चर्चाओं से भी विहित, अविनाशी, स्वतन्त्र, सुपरिपूर्ण, अनेक शक्तिसमूह के प्रलय-उदय का निर्माता (कर्ता), सृष्टि आदि के विधान का सम्यक् ज्ञाता आदि विशेषणों से सर्वतः परिपूर्ण रूप में, अपने आपको ही महेश्वर समझते हुए, जो जीवन धारण करता है वही जीवन्मुक्त है। ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष यद्यपि कर्म अवश्य करता है परन्तु वह स्वयं न तो किसी प्रत्याशा से कर्म करता है और न ही उसके द्वारा किये गये यत्किंचित् कर्मों का कोई फल प्राप्त होता है अर्थात् वह पुनः संसारी नहीं बनता। उसके कर्म उसी प्रकार फल उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं जैसे दग्ध बीज।[४४] इस मत में परप्रत्ययों की अपेक्षा के बिना जिस मुमुक्षु

---

४१. विस्तारार्थ देखिये—'शिदृ,' ६. १२३; 'शिदृवृ', १. ३६, ३. ७१; 'ईप्रवि', ४. १. ५-६; 'पसावि', ३८, ५०; 'प्रहृसूवृ', ४ १. २. १८; 'विमं', १३५.

४२. प्रत्यभिज्ञानाज्जीवन्मुक्तिप्रदत्वं प्रयोजनम्। 'तंत्रावि', १. २१.

४३. 'ईप्रवि', ३. २. १, ४. १. १७; 'तन्त्रावि', १३. २२६.

४४. 'पसावि' ६४–६.

की भावना परमतत्त्व में दृढ़ हो गई, जिसने तादात्म्य का अनुभव कर लिया वह जीवन धारण किये हुए मुक्त है।[४५]

काशैद के मत में शरीर मुक्ति में बाधक नहीं है। शरीर के रहते भी मुक्ति सम्भव है क्योंकि मुक्ति ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसके लिए नूतन शरीर धारण करना पड़े या अन्य किसी लोक में जाना पड़े।[४६] अवस्थाओं की दृष्टि से यदि देखा जाए तो तुर्यदशा तथा तुर्यातीतदशा दोनों ही जीवनमुक्ति की अवस्थाएं हैं। इसे शास्त्रों में समावेश—सम्यक् आवेशन–भी कहा गया है[४७] किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि परमेश्वर के परमार्थ स्वरूप में अवस्थाओं या स्तरों का भेद है अथवा वह क्रमवान् है। वस्तुत: उसमें किसी भी प्रकार का भेद या क्रम नहीं है। जीव को जिस देशकालादि के क्रम की प्रतीति होती है वह परम शिव इस प्रतीति से परे है। साथ ही जब यह विश्व भी परम शिव से ऐक्य रखता है अर्थात् चिन्मय और परमेश्वर रूप ही है तब यदि उसमें क्रम मानें तो वह जाएगा कहाँ क्योंकि सम्पूर्ण विश्व ही शिवमय है—चलित्वा यास्यति कुत्र सर्वं शिवमयं यत: ।[४८]

भोग-मोक्ष का सामरस्य

शिव शक्ति के सामरस्य के इस दर्शन की यह विलक्षणता ही कही जाएगी कि इसमें जीवन्मुक्ति में भी भोग और मोक्ष का सामरस्य माना है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस मुमुक्षु का हृदय जिन भोगों में तल्लीन है, तन्निष्ठ है, वह उन्हीं के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[४९]

---

४५. 'तंत्रा', १३. १८३.

४६. सत्यपि देहे परसंविद्विश्रान्तिर्जायते, येनायं जीवन्मुक्त इति व्यपदेश पात्रतामियात्…। 'तन्त्राविं', १३. २२६, और भी द्र०—
इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं मुक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।। 'स्पका', ३,
चिदानन्दलाभे देहादिषु चेतमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्ति:। 'प्रहृसू' १६.
जीवन्मुक्ति:– जीवत: प्राणानपि धारयतो मुक्ति:, प्रत्यभिज्ञात-निजस्वरूपविद्रावितांशेष-पाशराशित्वात्। 'प्रहृसूवृ', १६.

४७. विस्तारार्थ द्र०—'ईप्रवि'; ३. २. १२; 'प्रहृसूवृ'. १२; 'गीता', १२. २, ९.

४८. 'ममंप', ५२.

४९. यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजित:।
सिद्धिभाक्…… ।। 'तन्त्राविं', १. ६४ पर उद्धृत।
इति न्यायेन यस्य यत्र निष्ठा तत्प्राप्तिर्भवति इत्याह—
यो यदात्मकतानिष्ठस्तद्भावं स प्रपद्यते।
व्योमादिशब्दविज्ञानात् परो मोक्षो न संशय: ।। 'तंत्रा', १. ६४.

जीवन्मुक्ति में भोगमोक्ष के सामरस्य पर महेश्वरानन्द सर्वाधिक बल देते हैं। वे कहते हैं भोग और मोक्ष का साक्षात्कार ही जीवन्मुक्ति का लक्षण है। वे मुक्ति और भुक्ति की अभिन्नता का भी समर्थन करते हैं।[५०]

स्वातन्त्र्य स्वभाव जीव जब भोग्य विषयों से एकाकार हो जाता है तब उसे भोग कहा जाता है। इस प्रकार के भोग एवं मोक्ष में कोई तात्त्विक भेद नहीं। ऐसा जीवन्मुक्त प्राणी जब शरीर का त्याग करता है तब वह पूर्ण मुक्त कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जीवन्मुक्त पुरुष देहपात होने पर साक्षात् महेश्वर रूप हो जाता है।[५१] इसी स्थिति को तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रकार कहा जाता है कि आत्मज्ञानी जीवितावस्था में तुरीय रूप होता है तथा देहपात होने पर तुर्यातीत अवस्था में पहुँच जाता है। तुरीय एवं तुरीयातीत अर्थात् जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति के इन स्वरूपों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों ही स्थितियों में मुक्त संसार से परे ही रहता है।[५२]

(स) मोक्षोपाय

काशैद के साहित्य में मोक्ष के उपायों के प्रश्न पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इस कारण अनेक उपायों की चर्चा उपलब्ध होती है। परन्तु इससे इसके मौलिक दृष्टिकोण और सिद्धान्त में कोई असामंजस्य उत्पन्न नहीं होता क्योंकि ये नाना उपाय परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं तथा साथ ही मितात्मा को शिवैक्य के प्रत्यभिज्ञान के उत्तरोत्तर सोपान पर पहुँचाते हैं।[५३]

प्रथम दृष्टि : आणवादि उपाय-चतुष्टय

काशैद की स्पन्द शाखा शांभव, शाक्त एवं आणव इन तीन उपायों को मानती है। जबकि प्रत्यभिज्ञा-शाखा इन तीन उपायों को मानते हुए भी अनुपाय को विशेष महत्त्व देती है।[५४] अभिनव गुप्त के अनुसार आणव भेद प्रधान, शाक्त भेदाभेद प्रधान एवं शाम्भव अभेद प्रधान है।[५५]

---

५०. भोगमोक्षसाक्षात्कारलक्षणो जीवमोक्षः। 'मर्मप', ५२.

५१. 'ईप्रका', ३. २. १२, 'पसावि', ६१, 'ईप्रवि', ३. २. २, ४. १. १५.

५२. ज्ञानी जीवन्नेव तुरीयरूपो देहाभावात् तुर्यातीतरूपः, इति उभयथा पुनः न काचित् संसारशंका...। 'पसावि', ८६.

५३. उपायोपेयभावस्य द्वारद्वारिभावेन वक्ष्यमाणत्वात्। 'तन्त्रावि', १. ६१.
एवं शक्तित्रयोपायं यज्ज्ञानं तत्र पश्चिमम्।
मूलं तदुत्तरं मध्यमुत्तरोत्तरमादिमम्॥ 'तन्त्रा', १. २४१.

५४. उपायों के ऐतिहासिक विकास हेतु द्र०—
Jash, P., *History of Saivism*, p. 129-30. *Bhaskari*, II, Introduction, p. 5-6.

५५. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्॥ 'तन्त्रा', १. २३०.

आणवोपाय[५६] को क्रियोपाय भी कहा जाता है। इसमें आत्मसाक्षात्कार हेतु कतिपय विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। ये मन्त्र कल्पित होते हैं। मन्त्रोच्चारण में शारीरिक क्रियाओं का भी विशिष्ट स्थान है। उच्चारादि सन्निकट उपाय इसी के अन्तर्गत हैं।[५७] दीक्षा का भी इसी में अन्तर्भाव किया गया है।[५८] इस उपाय के साधक के लिए इदन्ता तथा अहन्ता दोनों का समान महत्त्व है। अहमिदम् की यह अवस्था सद्विद्या की अनुभूति है।

शाक्तोपाय का अपर नाम ज्ञानोपाय है। इसमें अनेक उपाय समाहित हैं अतः इसे उपाय-मण्डल भी कहा गया है। साधक 'आत्मैव सर्वम्' की भावना का अनवरत अभ्यास करते हुए ऐक्य का निर्विकल्प ज्ञान प्राप्त करता है। इस उपाय का अनुसरण करने वाला ही ज्ञान का सच्चा साधक है। ज्ञान-सम्बन्धी मानसिक क्रियाओं के प्राधान्य के कारण ही इसे ज्ञानोपाय कहा जाता है। जप, ध्यान आदि इसी के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं।

शाम्भवोपाय का अपर अभिधान इच्छोपाय है। विश्व शिवेच्छा रूप है। अतः शाम्भवोपाय का स्वरूप भी परामर्श ही है।[५९] इसमें मन्त्र, मुद्रा, क्रिया आदि की कोई अपेक्षा नहीं।[६०] केवल मुक्ति की प्रबल इच्छा का अभ्यास ही इसमें पर्याप्त माना गया है।

काशैद के योगी-दार्शनिक अपने उद्देश्य एवं मार्ग के विषय में स्पष्ट हैं। वे दर्शन को मात्र वाणी का विलास अथवा तीक्ष्ण तार्किकों की बुद्धि के कौतुक दिखाने वाला रणक्षेत्र अथवा शास्त्रानुरोधिनी मान्यताओं के एक पक्षीय दृष्टिकोण को साग्रह प्रस्थापित करने का माध्यम नहीं मानते। उनका दर्शन अनुभूति-सिद्ध दृष्टि है। वे अपने दर्शन का श्रोता, अध्येता एवं अनुकर्ता साधारण जन को

---

५६. 'तन्त्रालोक' के प्राथमिक आह्निकों के विभाजन में एक दृष्टि उपायों की रही है। तदनुसार इसके प्रथम आह्निकों में विज्ञानभेदप्रकाशन के साथ ही श्लोक संख्या १६८ से २२१ तक सभी उपायों की मिली-जुली चर्चा की गई है। बाद में दूसरे आह्निक में प्रमुख रूप से अनुपाय, तीसरे में शाम्भवोपाय चतुर्थ में शाक्तोपाय एवं पंचम में आणवोपाय का विस्तृत वर्णन किया गया है।

५७. केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः……उच्चारादि सन्निकृष्ट, तदपेक्षया च बुद्धिगं ध्यानादि विप्रकृष्ट, ततोऽपि देहगतं करणादि … 'तन्त्रावि', ५. ६.

५८. 'तन्त्रा', १. २३२.

५९. ……परामर्शमात्राद्विश्वस्य संविन्मात्ररूपत्वमित्येवं परामर्श एव चास्य शांभवोपायस्य स्वरूपम्। 'तंत्रावि', ३. २८०.

६०. मन्त्रमुद्राक्रियोपायास्तदन्या नात्र काश्नन। 'तन्त्रा', ३ २७०.

मानते हैं,[६१] केवल शास्त्राभ्यासी विद्वानों को नहीं। उनका लक्ष्य जन हैं, विद्वज्जन नहीं। यही कारण है कि वे दुर्लभ एवं जटिल मुक्ति का अथवा मुक्ति के उपायों का उपदेश नहीं देते। वही उपाय उनका अभीष्ट है जो बिना किसी प्रयत्न के जन को स्वरूप का साक्षात्कार करा सके।[६२] उनकी दृष्टि दुःख में सुख, विष में अमृत एवं संसार में मोक्ष की अनुभूति कराने की है।[६३] अनुपाय का विचार उनकी ऐसी ही भावनाओं का प्रतीक है। अनुपाय का अर्थ यहाँ उपाय का निषेध-मात्र नहीं है,[६४] अपितु उपायों का स्वल्पत्व अर्थ है। इसमें चरम तत्त्व की प्राप्ति विना भावना के हो जाती है। गुरु अथवा आप्त पुरुष के शब्दों को सुनकर साधक शिवैक्य की अनुभूति करता है। इस उपाय द्वारा प्राप्त पद की तुलना सुषुप्ति से की जा सकती है जिसमें चैतन्य सभी उपरागों से विनिमुक्त रहता है। इसलिये इसका अपर नाम आनन्दोपाय है।

द्वितीय दृष्टि : शास्त्र, गुरु एवं स्व

काशैद के साहित्य में मोक्ष-प्राप्ति के उपायों के उल्लेख की एक दूसरी दृष्टि भी है। इस दृष्टि के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के तीन उपाय है—शास्त्र, गुरु और स्वयं मुमुक्षु।

सभी शास्त्र द्वैत का उपदेश देने वाले हैं तथा व्यवहार मात्र हैं। लोक-व्यवहार चूँकि अज्ञानात्मक है, अतः व्यवहारोपयोगी शास्त्र में भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराने की क्षमता नहीं है।[६५] तथापि शास्त्र को मोक्षोपाय में इसलिये परिगणित किया जाता है कि ये ज्ञेय तत्त्वों के प्रदर्शन एवं उनकी सम्यक् व्याख्या में समर्थ हैं।

---

६१. तत्त्वनिरूपणमुपदेश्यजनापेक्षया··· । 'पसावि', १४.
जयरथ इस बात का समर्थन करते हैं कि इस दर्शन में अत्यन्त ज्ञानी एवं मूर्ख दोनों का अधिकार नहीं। ज्ञानी के लिए शास्त्र तृणवत् हैं (तत्वज्ञस्य तृणं शास्त्रम्) और मूर्ख के लिए व्यर्थ। फलतः मध्यम जन ही शास्त्र का लक्ष्य है।
संसाराम्बुनिधिं यः स्यात्तितीर्षुः कश्चिदुत्तमः ।
नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान् । 'तंत्रावि', २. १. ३.

६२. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थम् ···'ईप्रवि', ४. १. १८.

६३. दुःखान्यपि सुखयन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः ॥ द्र०—उत्पल, 'शिवस्तो', २०. १२.

६४ अनुपाय इति नोपायनिषेधमात्रम्··· । तंत्रावि', १. १४२,
नात्र उपायगन्धोऽस्ति ··· । तन्त्रा', १. २४२.
और भी द्र०-वही, २. ३.

६५. द्र०—'शिदृ', ३. ७३-४.

ज्ञेय तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान कराने का प्रधान माध्यम ये ही हैं।[६६] यह ज्ञान मितात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है, इसलिये शास्त्रों को उपायों में परिगणित करना उचित ही है।

काशैद के साहित्य में मोक्षोपाय के रूप[६७] में गुरु की महिमा अद्वितीय है। सद्गुरु को साक्षात् शिव माना गया है तथा शिव और गुरु में किसी भी प्रकार की भिन्नता का निषेध किया गया है। जयरथ कहते हैं कि मोक्षादि के प्रसंग में गुरु के आदेश के बिना मुमुक्षु का कोई अधिकार नहीं, उसकी कोई गति नहीं।[६८] कुलप्रक्रिया में भगवतीरूप दूती का जो स्थान एवं महत्त्व है वही काशैद में गुरु का है। कुलप्रक्रिया में दूतीमुख से शिष्य को आत्मज्ञान होता है और इस मत में दूती-स्वरूप गुरु के द्वारा शिष्य को स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराया जाता है।[६९] जिस क्षण मुमुक्षु को गुरु के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त हो गया अथवा अपने चिदात्मस्वरूप की अनुभूति हो गई उसी क्षण मुमुक्षु स्वकल्पित मलादि से मुक्त हो जाता है। वह शरीर रहते हुए अन्य कार्यों को करता अवश्य है किन्तु यन्त्र की तरह से।[७०]

गुरु के इस अत्यन्त महत्त्व के साथ ही यह विधान भी किया गया है कि यदि मुमुक्षु को पूर्णज्ञानशाली एक गुरु सुलभ नहीं हो तो वह अनेक समर्थ स्वात्मज्ञ गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर सकता है और अनेक गुरुजनों के होने से उसके परम लक्ष्य में किसी भी प्रकार का व्यवधान विग्रह उपस्थित नहीं होगा।[७१]

मोक्ष स्व के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार अथवा ज्ञान है।[७२] अतः गुरु के द्वारा मुमुक्षु को स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराने पर भी अन्ततोगत्वा आत्म-

---

६६. शास्त्रमेव प्रधानं यज्ज्ञेयतत्त्वप्रदर्शकम् ॥ 'तंत्रा', १. ४७.

६७. गुरुरुपाय: । शिवसूत्र', २. ६.

६८. यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥
...... न हि अत्र तदादेशान्तरेण अधिकार एव भवेत्··· । 'तंत्रावि', १. १०६, में उद्धृत,
और भी द्र०—'प्रहसूत्र', ११.

६९ 'तंत्रावि', १. १३. १६.

७० यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम् ।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्र तिष्ठति केवलम् ॥ 'तंत्रा', १३. २३०-१.
और भी द्र० — तंत्रावि', १. ४४.

७१. वही, १३. ३४१.

७२. 'तंत्रा', १. २२, २३३, 'पसावि', ५५.

साक्षात्कार की अनुभूति स्व के द्वारा स्व को ही होती है। अतः स्व को भी यहाँ, एक दृष्टि से, उपाय के रूप में परिगणित किया गया है।[७३] शास्त्र, गुरु और स्व में स्व ही सर्वोत्तम उपाय है।[७४]

काशैद का एक अपर नाम प्रत्यभिज्ञादर्शन भी है। इस नाम के पीछे जो सिद्धान्त एवं दृष्टिकोण है उसका सम्बन्ध मोक्ष के प्रसंग से ही है। अन्य भारतीय दर्शन तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार से मुक्ति की बात कहते हैं। परन्तु काशैद के दार्शनिकों की अनुभूतिपरक मान्यता यह है कि ज्ञान नहीं अपितु प्रत्यभिज्ञान से मुक्ति होती है। इस मतानुसार जीव को शिव से परमैक्य का ज्ञान नहीं अपितु प्रत्यभिज्ञान होता है। यह परमैक्य पहले भी ज्ञात था, किन्तु मायाशक्ति के कारण मध्य में विस्मृत हो गया था। अतः उस विस्मृत स्वरूप के पुनः ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है।[७५]

तृतीय दृष्टि : शक्तिपात एवं दीक्षा

काशैद के ग्रन्थों में मोक्षोपाय के विवेचन के क्रम में एक तीसरी दृष्टि और मिलती है। इस दृष्टि के अनुसार स्वात्म ज्ञान के उपाय हैं शक्तिपात और दीक्षा।

पूर्व पृष्ठों में कहा गया है कि परम शिव के अवास्तविक बन्ध-मोक्ष का कारण उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति या क्रीड़ा स्वभाव है। स्वातन्त्र्य में अनेक शक्तियाँ समाविष्ट हैं। उनमें से तिरोधान बन्ध का कारण है और अनुग्रह मोक्ष का। इस अनुग्रहशक्ति के फलस्वरूप ही परम शिव शक्तिपात करके, अपने अनुग्रह से मितात्मा को उसके अविछिन्न स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराता है। पूर्वोक्त समस्त उपाय इस शक्तिपात के बिना निरर्थक हैं, निष्फल हैं। अतः कहा जाता है कि प्रमाता परशक्तिपात के बिना कभी अपने आनन्त्य या महाव्याप्ति का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकते। इस शक्तिपात के समक्ष सारे जप, ध्यानादि तथा मुमुक्ष के पुरुषार्थ निरर्थक हैं, क्योंकि जपादि तो उस शिव की नियति शक्ति से समुत्थित हैं और शिव इन सब शक्तियों के माध्यम से उस अभिन्न, अद्वय तत्त्व की सिद्धि

---

७३. आत्मज्ञानमेव शिवतत्त्वसाक्षात्कारे निमित्तम्…। तंत्रावि', ५. २७५-६.

७४. यद्यपि शास्त्रतो गुरुतः स्वत इति अस्ति त्रिधा नियमस्तथापि स्वत इत्यस्य तयोरुपायभूतत्वात् तथेह तस्यैव प्रधानभूतत्वात् तेनैव कथनीयम् …। शिदृवृ', २. १९.
और भी द्र० – 'तन्त्रावि', ४ ४१

७५. पूर्वं ज्ञातस्य मध्ये विस्मृतस्य पुनराभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति। 'भा', १. १. १.
……स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वो विच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य…प्रतिभिज्ञा च—मात्रभासमानरूपानुसंधानात्मिका। 'ईप्रवि', १. १. १.

नहीं हो सकती। अतः परमेश्वर का अनुग्रह या शक्तिपात ही मुक्ति में एक मात्र परम एवं अकृत्रिम उपाय है।[७६]

परम शिव के शक्तिपात के अनेक स्तर हैं। उसमें मन्द, तीव्र और तीव्रतम के भेद हैं। इन तीव्रतमादि शक्तिपात के फलस्वरूप जब मुमुक्षु, पूर्वोक्त शाम्भव, शाक्त, आणव एवं अनुपाय में दीक्षित होता है तब उसकी मुक्ति होती है। जो मुमुक्षु दीक्षित नहीं है उसका शास्त्र-श्रवण में कोई अधिकार नहीं है।[७७] वस्तुतः दीक्षा कोई स्वतन्त्र उपाय न होकर पूर्वोक्त सभी उपायों में अन्तर्भावित है।[७८] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही इसे सर्व मामान्य उपाय कह सकते हैं। वैसे यह पहले ही कहा जा चुका है कि क्रिया रूप होने के कारण इसे प्रमुखतः आणवोपाय के अन्तर्गत भी माना गया है। पूर्ण मुक्ति के लिये दीक्षा के साथ बौद्धज्ञान का होना आवश्यक है।[७९]

मोक्ष के इन विविध उपायों की अनेकता का यह आशय नहीं कि मोक्ष के स्वरूप में कोई स्तर भेद है या उसमें उत्कर्ष-अपकर्ष है। इन उपायों से प्राप्त जिस फल-भेद का उल्लेख पहले किया गया वह काल्पनिक है, व्यवहारमात्र है। परमार्थदृशा मुक्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं, क्योंकि मुक्ति के ये विविध उपाय स्वात्मज्ञान में सहायक होते हैं और मोक्ष का परम उपाय स्वात्म स्वरूप का ज्ञान है। अतः मुक्ति का स्वरूप एक ही है।[८०] इसके साथ ही आत्मज्ञान को मोक्ष कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि मोक्ष कार्य है और आत्मज्ञान उसका कारण। यदि इसमें कार्यकारण भाव माना जायेगा तो अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो जाएँगी तथा काशैद के मौलिक सिद्धान्त अद्वयवाद की भी हानि होगी। मोक्ष और उसके

---

७६. न हि ईश्वरशक्तिपातमन्तरेण तद्विवेकज्ञानमेवोदियादिति···'तंत्रावि' १३. ५-६;
महाव्याप्तिं परशक्तिपात बिना न लभन्ते। 'प्रहृसूवृ', ८,
और भी द्र०—'तंत्रावि', १. ७७, 'तंत्रा', १३. १६६-७; 'ईप्रवि', १. १. १. 'पसावि', ६. ६६.

७७. 'तंत्रावि', १. ४४, और भी द्र०—वही १. ७६, १३. १६६, १. ४३, ४४.

७८. अन्ते ज्ञानेऽत्र सोपाये समस्तः कर्मविस्तरः।
प्रस्फुटेनेव रूपेण भावी सोऽन्तर्भविष्यति॥ 'तंत्रा', १. २३१.

७९. दीक्षापि बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्ति प्रधानता॥ वही, १. १५, और भी द्र०—
'तंत्रावि', १. ४५. ४६.

८०. क्रियाया ज्ञानात्मकत्वं युक्तयागमाभ्यां निर्वाहितम्, इत्येक एव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायनानात्वम् अत एव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः···सविदेव सर्वम् इति को नाम हेतुफलभेद, काल्पनिकेऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युपगत इति उपायनानात्वस्यैव अभावात्, को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात्। वही, १. १६५.

उपायों में कार्यकारणभाव मानने से पहली असंगति यह उत्पन्न होगी कि मितात्मा जो परमार्थतः नित्य मुक्त स्वभाव है, उसका यह स्वभाव नहीं रह पायेगा। साथ ही कार्यकारण के विषय में मान्यता यह है कि कारण के रहते कार्य अवश्य हो ही यह अनिवार्य नहीं। ऐसी स्थिति में स्वात्मज्ञान के होने पर भी मुक्ति हो ही यह अनिवार्य नहीं होगा। इस प्रकार के अनेक अनिष्ट उत्पन्न हो जायेंगे। अतः मोक्ष और उपरि उल्लिखित उपायों में कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता।[८१]

जब परमार्थदृशा न बन्ध है न मोक्ष तब मोक्ष के उपायों की चर्चा भी पारमार्थिक नहीं है क्योंकि जब सब कुछ शिव है, सभी मितात्मा शिव हैं, नित्य मुक्ति है तब किसी भी तरह के शास्त्रों के उपदेश की आवश्यकता का आधार ही क्या है। यही नहीं धर्म का उपदेश देने वाले शास्त्र भी निरर्थक ही हैं क्योंकि शिव में अर्थात् उसके परमार्थ स्वरूप में कार्ममल का अभाव है। वस्तुतः पर-प्रकाशात्मा शिव ही उपेय है और वह सर्वत्र आभासित होता है। अतः पूर्वोक्त उपाय भी उससे अभिन्न है और उनका वस्तुतः कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि उपाय अज्ञात वस्तु के ज्ञापक होते हैं। मितात्मा को उसका यथार्थ स्वरूप वस्तुतः अज्ञात नहीं, अपितु विस्मृत होता है इसलिये उपायों से उसे अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की वास्तव में आवश्यकता नहीं। फिर भी उपेय व उपायों का जो विवेचन काशैद में किया गया है वह व्यवहारार्थ है।[८२]

---

८१. इह आत्मज्ञानमेव मोक्षः इति ज्ञानमोक्षयोः कार्यकारणभाव एव वस्तुतो नास्ति–इनि नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति इति न्यायेन ज्ञानिनां सत्यपि ज्ञानाख्ये कारणे कार्यात्मा मोक्षो न स्यात् इत्यनिष्टापादनात्मायं प्रसंगो नाशंकनीयः। वही, १. १६१.

८२. वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः, स च सर्वत एवावभासते तस्य क्वचिदपि अनपायात्। अत एव नात्र उपायानां किंचित्प्रयोजनम् अज्ञात-ज्ञापकत्वात् तेषाम्। वही, १. १४५, १६६, 'शिदृ', ३. २६-६.

२

बौद्धमत एवं उसकी समालोचना

(अ) बौद्धमत

निर्वाण की महत्ता

बौद्धमत की अनेक शाखा-प्रशाखाओं के विभिन्न दार्शनिक अनेक पक्षों पर परस्पर मतभेद रखते हैं, परन्तु निर्वाण का पक्ष ऐसा है जिसकी सर्वोच्च महत्ता को इसकी सभी शाखाओं और दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में, निर्वाण ही बौद्ध दर्शन का चरम लक्ष्य है, यह विचार बौद्धधर्म और दर्शन का ऐसा सामान्य विचार है जो इस मत की विचारधारा के सतत परिवर्तन के उपरान्त भी अपरिवर्तित रहा। अन्य दर्शन भी मोक्ष को ही अपना चरम उद्देश्य एवं मूल प्रयोजन बताते हैं। परन्तु उन दर्शनों से इसका भेद यह है कि इस दर्शन में कोई नित्य परमतत्त्व नहीं माना गया है। अतः निर्वाण ही इसका नित्य परमतत्त्व अथवा परमपद है[८३] अर्थात् अन्य दर्शन जितना महत्त्व परमतत्त्व के विचार को देते हैं उतना ही महत्त्व इस दर्शन में निर्वाण को दिया गया है। यह बात केवल महत्ता प्रदान करने की दृष्टि से कही गई है, इसका यह आशय कदापि नहीं कि इस दर्शन के निर्वाण की तुलना अन्य दर्शनों के परमतत्त्व से की जा सकती है।

बौद्ध दर्शन के जिन पक्षों को काशँद के दार्शनिकों ने आलोचनार्थ चुना उनमें मोक्ष-सम्बन्धी विचारों का पक्ष भी है। इस पक्ष को भी सम्पूर्ण रूप से न लेकर कतिपय अत्यावश्यक एवं प्रमुख बिन्दुओं की ही आलोचना की गई है। अतः इस पक्ष के आलोचनात्मक अंशों के विवेचन के विस्तार में जाने से पूर्व यह बता देना उचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है कि अप्रासंगिक उल्लेखों से बचने के लिए इस विवेचन को उन्हीं अंशों तक सीमित रखा गया है।

काशँद के ग्रन्थों में बौद्ध दर्शन के तीन प्रमुख सम्प्रदायों के विचारों की मोक्ष के प्रसंग में आलोचना की गई है, ये हैं—वैभाषिक, योगाचार एवं माध्यमिक। माध्यमिक अथवा शून्यवाद का उल्लेख इस प्रसंग में त्रयाभाववादी के रूप में किया गया है—त्रयाभाववादिनो माध्यमिकाः।[८४] इसका आशय यह है कि इस मत में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान तीनों की सत्ता नहीं मानी गई है। केवल काशँद में ही नहीं, माध्यमिक विचारधारा के ग्रन्थ मध्यमकावतार[८५] में भी विज्ञानवाद के

---

८३. 'अभिधम्मत्थसंग्रह', ६. ३१.
८४. द्र०—'तन्त्रावि', १. ५६.
८५. मध्यमकावतार', ६. ५१.

खण्डन के प्रसंग में एक स्थान पर कहा गया है कि चक्षु, चक्षु का विषय और चक्षु-ज्ञान (चित्त) ये तीनों ही व्यर्थ हैं।

मोक्ष के प्रसंग में योगाचार मत की आलोचना में इसे ज्ञातृज्ञेयाभाववादी कहा गया है—ज्ञातृज्ञेयाभाववादिनो योगाचाराः।[८६] योगाचार अथवा विज्ञानवाद के मतानुसार केवल ज्ञान की सत्ता है अर्थात् ज्ञान अथवा क्षणिक चित्त प्रवाह ही सत् है, ज्ञाता एवं ज्ञेय सत् नहीं है, अतः इनका अभाव है। धर्मकीर्ति[८७] अपने मत को ज्ञाता ज्ञेय का अभाववादी कहलाने में अनौचित्य नहीं मानते। वे स्वयं कहते हैं ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर विरुद्ध हैं। साथ ही इन दोंनों में से किसी एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव भी अवश्यंभावी है। अतः ये अन्योन्यसापेक्ष हैं। ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय और ज्ञाता से भी विरुद्ध है, इसलिए ज्ञान में ज्ञातृज्ञेय की सत्ता नहीं मानी जा सकती। फलस्वरूप ज्ञान की परिभाषा ऐसे भी की जा सकती है कि वह ज्ञेय और ज्ञाता से शून्य ही है अर्थात् ज्ञान में इनका अभाव है।

माध्यमिक एवं योगाचार के समक्ष वैभाषिक को केवल एकाभाववादी ही माना गया है। वैभाषिक को ज्ञाता का अभाव मानने वाला कहा गया है—ज्ञात्र-भाववादिनो वैभाषिकाः।[८८] अर्थात् यह मत ज्ञेय और ज्ञान की सत्ता को मानता है। परन्तु ज्ञाता की सत्ता नहीं मानता।

वैभाषिक मतानुसार संततिक्षय ही मोक्ष

तंत्रालोक[८९] में वैभाषिकों के मोक्ष अथवा निर्वाण-सम्बन्धी मत को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—

वैभाषिकों के मत में दीपक की तरह संतति क्षय ही मोक्ष है। जैसे दीपक जलते-जलते बुझ जाता है और शान्त हो जाता है उसी प्रकार नाम रूप (विज्ञान व भौतिकतत्त्व) जीवन-प्रवाह का रूप धारण करते हुए सर्वदा प्रवाहित होते रहते हैं। इनका अत्यन्त विच्छेद अथवा शान्त हो जाना ही निर्वाण है। साथ ही जैसे दीपक तेल की समाप्ति पर स्वतः ही बुझ जाता है और फिर प्रज्ज्वलित नहीं होता उसी प्रकार नैरात्म्य आदि भावना के अभ्यास से एक बार जब क्लेश, कर्मादि का प्रहाण हो जाता है तथा इनके प्रहाण से रूपादि पंचस्कन्धों का भी प्रहाण हो जाता है तब निर्वाणावस्था प्राप्त होतीं है जो पुनः बदलती नहीं। रूपादि पंचस्कन्धों का कारण क्लेश और कर्मादि हैं। संसार भी और कुछ नहीं क्लेशादि रूप हेतु तथा स्कन्धपंचकरूप उनका फल ही है—हेतुफले संहारः।

८६. द्र०—'तन्त्रावि', १. ५६.
८७. 'प्रमाणवार्तिक', २. २१३.
८८. द्र०—'तन्त्रावि', १. ५६.
८९. वही, ४. २९-३०.

उपर्युक्त उल्लेख में वैभाषिकों के मोक्ष-विचार के बारे में चार निम्न तथ्य रखे गये हैं जो क्रमशः बन्ध के कारण, स्वरूप, मोक्ष के स्वरूप एवं उपाय के बारे में हैं—

१. रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का कारण क्लेश, कर्मादि हैं।
२. रूपादि स्कन्ध तथा क्लेश कर्मादि ही संसार है।
३. क्लेशादि कारण एवं रूपादि स्कन्धरूप कार्य का प्रहाण ही निर्वाण है।
४. पूर्वोक्त निर्वाण की प्राप्ति नैरात्म्यादि भावना के अभ्यास से होती है।

उपर्युक्त चार तथ्यों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह मत वसुबन्धु के **अभिधर्मकोश** एवं **मिलिन्दप्रश्न** को आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। **अभिधर्मकोश**[६०] में पंचस्कन्ध को संस्कृत धर्म कहा गया है। इन्हें ही संसार का मार्ग (अध्वा), सनिःसार, सरण, दुःखदायी, दुःख, लोक तथा तर्क-विकल्पों का स्थान भी कहा जाता है। क्लेशादि का प्रहाण ही निर्वाण है इसी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए **मिलिन्दप्रश्न** (४. ७२) में कहा गया है कि निर्वाण समस्त सांसारिक क्लेशों की गर्मी को दूर करता है ....।

द्विविध नैरात्म्य एवं उनसे क्लेशावरण व ज्ञेयावरण का क्षय

नैरात्म्यादि की भावना से निर्वाण-प्राप्ति का विचार हीनयान एवं महायान दोनों सम्प्रदायों से सम्बद्ध है। नैरात्म्य[६१] दो प्रकार का माना गया है—पुद्गल-नैरात्म्य तथा धर्म-नैरात्म्य। हीनयान में पुद्गल-नैरात्म्य को ही नैरात्म्य माना गया है जबकि महायान में विज्ञानवाद के अन्तर्गत दोनों ही को माना गया है। तदनुसार पुद्गल-नैरात्म्य केवल क्लेशावरण का ही क्षय करता है। इसके बाद भी ज्ञेयावरण शेष रह जाता है जिसका धर्म-नैरात्म्य की भावना से क्षय होता है। वस्तुतः इस विचार की पृष्ठभूमि में यह धारणा काम करती है कि जीवन एवं संसार के समस्त क्लेशों एवं दुःखों का कारण आत्म-दृष्टि (सत्काय-दृष्टि) है। आत्मा को मानने से ही सारे कष्ट आरम्भ होते हैं। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है। यही पुद्गल नैरात्म्यवाद है।

वैभाषिक मत में निर्वाण को अभावात्मक माना गया है। यह क्लेशाभावरूप है। परन्तु अभाव होने पर भी वस्तुतः यह सत्तात्मक पदार्थ है क्योंकि वैभाषिक मत में, वैशेषिकों की तरह अभाव को पदार्थ माना गया है। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ है।

६०. 'अभिधर्मकोश', १. ७-८.
६१. विस्तारार्थ द्र०-'विंशतिका', १०.

योगाचार मत : चित्त की विशुद्धि ही मोक्ष

मुक्ति के प्रसंग में योगाचार मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह मत विशुद्ध चित्त मात्र को ही मुक्ति मानता है—'विशुद्ध-चित्तमात्र मोक्षः'। चित्त प्रभास्वरस्वरूप अर्थात् स्वप्रकाश है, उसे किसी अन्य उपाय से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। अनादि वासना के कारण शुद्ध चित्त मलों से आवृत्त हो जाता है। रागादिरूप मल ही सांसारिक वस्तुओं के आभास के कारण हैं। अतः मलों के प्रहाण होने पर संसार का एवं सांसारिक वस्तुओं की भावना (ज्ञान, अनुभव) का स्वतः ही क्षय हो जाता है। इस प्रकार मलों से मुक्ति अथवा मलों में आवृत्त चित्त को विशुद्ध करना ही मोक्ष है।[६२]

पुद्गल नैरात्म्य एवं धर्म नैरात्म्य

चित्त स्वप्रकाश है, प्रभास्वरूप है। इसे किसी अन्य उपाय से प्रकाशित करना अपेक्षित और सम्भव नहीं—ऐसा कहने का आशय यह है कि विशुद्ध चित्त का साक्षात्कार किन्हीं बाह्य उपायों से सम्भव नहीं। तथापि विज्ञानवाद के मत में नैरात्म्य भावना के अभ्यास से तत्तत् आगन्तुक मलों का प्रहाण किया जा सकता है। यह मत मल-प्रहाण में हीनयान की भाँति केवल पुद्गल-नैरात्म्य की भावना के अभ्यास को ही पर्याप्त नहीं मानता अपितु इसके साथ धर्म-नैरात्म्य की भावना के अभ्यास को भी आवश्यक मानता है।

काशँद के दार्शनिक जयरथ द्वारा प्रस्तुत विज्ञानवाद-सम्मत निर्वाण के उपर्युक्त विचार इस दर्शन के अनेक ग्रन्थों में विस्तार से व्यक्त किये गए हैं। उदाहरणार्थ असंग का **महायानसूत्रालंकार**, वसुबन्धु की **विंशतिका**, **त्रिंशिका**, स्थिरमति का उन पर भाष्यादि के विचारों को देखा जा सकता है। इन ग्रन्थों के आधार पर संक्षेप में विज्ञानवाद का निर्वाण-सम्बन्धी मत इस प्रकार है—

असंग, स्थिरमति एवं वसुबन्धु के मत

असंग कहते हैं कि परमार्थदृशा बन्धन और मोक्ष तथा संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से शुभ कर्म करने वालों के लिए जन्म-क्षय एवं निर्माण का विवेचन किया जाता है।[६३] स्थिरमति कहते हैं क्लेश

६२. विज्ञानवादिनां विशुद्धचित्तमात्रं मोक्षः। तन्मते हि स्वभावतः प्रभास्वरस्वरूपस्य चित्तसंतानस्यानाद्यविद्याबलात् रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृत्तत्वेऽपि नैरात्म्यादि भावनाभ्यासात् तत्तदागन्तुकमलप्रहाणेन आश्रयपरावृत्तिबलात्ववनिश्वरज्योतिरूपस्वरूप साक्षात्कारो मोक्षः। 'तंत्रावि', ४. ३०, और भी द्र०—वही, १. ३३.

६३. 'महायानसवालंकार', ६ ५.

और कर्म संसार के कारण हैं। इनका नाश होने पर ही संसार की निवृत्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं—'संसारस्य हि कर्मक्लेशाश्च कारणम्। अतस्तेषु प्रहीणेषु संसारो विनिवर्तते नान्यथा'।[९४] ऊपर जिस धर्म-नैरात्म्य की चर्चा की गई उसके आशय पर प्रकाश डालते हुए वसुबन्धु[९५] कहते हैं कि धर्म-नैरात्म्य का आशय यह नहीं है कि सर्वथा कोई भी धर्म नहीं है, अपितु इसका आशय यह है कि सविकल्प बुद्धि द्वारा कल्पित जितने भी धर्म हैं—वे नहीं हैं। साधारण व्यक्ति बुद्धि के विकल्पों में फँसकर ग्राह्य और ग्राहक, विषय और विषयी, जगत् और जीव के द्वैत की कल्पना कर लेते हैं और इस सविकल्प प्रपंच को ही सत्य मान लेते हैं। धर्म-नैरात्म्य उनके इस प्रपंच का निराकरण करता है, विशुद्ध निर्विकल्प विज्ञप्तिमात्र का नहीं, ...क्योंकि स्वतः सिद्ध एवं स्वप्रकाश विज्ञप्तिमात्र ही तो इस समस्त प्रपंच का अधिष्ठान है। स्थिरमति[९६] भी नैरात्म्य की चर्चा में कहते हैं कि द्विविध नैरात्म्य ज्ञान से क्लेशावरण और ज्ञेयावरण नष्ट हो जाते हैं। द्विविध आवरणों के नष्ट होने पर मोक्ष और सर्वज्ञत्व की उपलब्धि होती है। क्लेशावरण के नाश से मोक्ष तथा ज्ञेयावरण के नाश से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है। हीनयान तथा महायान के निर्वाण-विचार में यह एक महत्त्वपूर्ण भेद है कि हीनयानी मोक्ष अर्थात् अर्हत् पद की प्राप्ति को ही जीवन का चरम मानता है जबकि महायानी के अनुसार सर्वज्ञत्व अर्थात् बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। असंग[९७] के विचार में भी बुद्धत्व-प्राप्ति ही समस्त क्लेशों, दुश्चरित्रों एवं जन्म-मृत्यु के भय से बचा सकती है। द्विविध नैरात्म्य का बोध होने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है– इस मान्यता को **महायानसूत्रालंकार**[९८] में अनेकत्र प्रस्तुत किया गया है। वसुबन्धु[९९] के अनुसार जब तक जीव (विज्ञान-मनोविज्ञान) विज्ञप्तिमात्र में स्थित नहीं होता तब तक ग्राह्य-ग्राहकरूपी द्वैत पीछा नहीं छोड़ते। स्थिरमति[१००] अपने भाष्य में इस विचार पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि बुद्धि के विकल्पों से ऊपर उठकर जब योगभावना से धर्मधातु का साक्षात्कार होता है तब सभी आवरणों का क्षय होकर विभुत्व प्राप्त होता है। आर्यदेव यद्यपि शून्यवाद के दार्शनिक हैं तथापि उनका

९४. 'त्रिंशिकाभाष्य', १९.
९५. 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि', १०.
९६. 'त्रिंशिकाभाष्य', १९.
९७. द्र०–'महायानसूत्रालंकार', ९. ७-८.
९८. वही, ६. ७ एवं ६. ८; ९, २३.
९९. 'विंशिका', २६.
१००. द्रष्टव्य– त्रिंशिकाभाष्य', २६.

यह[१०१] कथन विज्ञानवाद के विचार का समर्थन करता प्रतीत होता है कि शुक्ति का ज्ञान होने पर जैसे शुक्ति-रजत की निवृत्ति हो जाती है वैसे ही नैरात्म्य-दर्शन होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

उपर्युक्त ग्रन्थों में निर्वाण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि बुद्धता आदि-अन्त से रहित, समस्त आवरणों के मल से शून्य, शुद्धि-अशुद्धि आदि सभी द्वन्द्वों से परे और सदा एक रस रहने वाली तथता है।[१०२] यह तथता ही विज्ञानवाद की विज्ञप्तिमात्रता[१०३] भी कही जाती है। यह नित्य है। यही सब धर्मों का परमार्थ है। सर्वप्रपंचातीत होने से इसे वस्तुतः न भाव कहा जा सकता है न अभाव। अतः इसे अनिर्वचनीय ही मानना उचित है।[१०४] समुद्र और नदियों के उदाहरण द्वारा असंग[१०५] कहते हैं कि भिन्न-भिन्न जीवात्मा जब बुद्ध होकर धर्मधातु में मिल जाते हैं तो वे एक रूप हो जाते हैं और धर्मधातु ही कहलाते हैं। यही परोक्षानुभूति अथवा अनिर्वचनीय निर्विकल्प अनुभूति अथवा मुक्ति है।[१०६]

(ब) शैव आलोचना

विशुद्ध क्षण की उत्पत्ति में असंगति

विज्ञानवाद के निर्वाण-सम्बन्धी उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए काशैद के दार्शनिक कहते हैं—चित्तक्षण समल होते हैं। ये समल चित्तक्षण अपने समान ही चित्तक्षणों को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं अपने से भिन्न विसदृश चित्त को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं।[१०७] समल चित्त मनोविज्ञान है और विशुद्ध चित्त मलों से रहित। अतः जब विज्ञानक्षण के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं मानी जाती है तब मल रहित विशुद्ध चित्त-क्षण की उत्पत्ति में पूर्ववर्ती विज्ञान-क्षण को ही कारण मानना होगा। परन्तु पूर्ववर्ती विज्ञान-क्षण समल है, अतः वह तदनुरूप ही विज्ञान-क्षण को जन्म दे सकता है– उससे भिन्न अर्थात् मलों से रहित विज्ञानक्षणों को जन्म नहीं दे सकता।

---

१०१. 'चित्ताविशुद्धिप्रकरण', ६७.
१०२. 'महायानसूत्रालंकार', ६. २२, और 'त्रिंशिका', ३०.
१०३. 'त्रिंशिका', २५.
१०४. 'महायानसूत्रालकार', ६. २४; 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि', २२.
१०५. 'महायानसूत्रालंकार' ६. ८३, ८५.
१०६. वही, ११. ४७.
१०७. समलाश्च चित्तक्षणाः स्वारसिक्याः सदृशारम्भणशक्तेः स्वसदृशानेव चित्तक्षणानुत्पादयितुं क्षमन्ते, न विसदृशान् प्रभास्वरान्। एवं च चित्तक्षणभंगुरत्वान्मलप्रहाणायैव भावना न प्रगल्भेत इत्याश्रयपरावृत्तेः का वार्ता इति कृतं क्षणिकवादिनां मोक्षेण। 'तंत्रावि', १ ३३.

आत्मा के बिना मल-प्रहाण की भावना का अनौचित्य

क्षणिकवाद में ही दूसरी असंगति को इंगित करते हुए कहा जाता है कि इस क्षणभंगवाद में सभी क्षणिक हैं। विज्ञान भी क्षणिक ही है। क्षणिक वस्तु उत्पन्न हो तथा किसी अन्य वस्तु से प्रभावित हो इसके लिए आवश्यक है कि वह एक क्षण से अधिक स्थिर रहे। अतः यदि प्रथम असंगति को किसी तरह त्याग कर यह मान ही लिया जाए कि पूर्ववर्तीक्षण अपने से भिन्न मल-रहित विज्ञानक्षण को जन्म दे सकता है तब भी मोक्ष, जिसे भावना का कार्य कहा जाता है, की सम्भावना क्षीण हो जाएगी क्योंकि मलों के नाश की भावना से प्रभावित होने के लिए उस क्षणिक विज्ञान का एकाधिक क्षण तक स्थायी रहना आवश्यक है अन्यथा एक ही क्षण में तो मल-नाश की भावना ही उत्पन्न नहीं हो सकेगी।[१०८] इसलिए इन दोनों असंगतियों का उल्लेख करते हुए काशैद के दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान के आश्रय के रूप में स्थिर ज्ञाता को माने बिना मल-प्रहाण की भावना के उदय का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

बन्ध-मुक्ति आदि के क्षय प्रवाहों में असंगति

क्षणिकवाद[१०९] के निर्वाण-विचार पर काशैद की ओर से तीसरी आपत्ति[११०] यह उठाई जाती है कि बद्ध पुरुष ही मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है और प्रवृत्त होकर बन्धन से निवृत्त होता है। किन्तु इसके विपरीत ऐसा मानना उचित नहीं कि कोई और ही व्यक्ति बन्धन-ग्रस्त है, बन्धन से मुक्त होने के प्रयत्न कोई और करता है तथा उन प्रयत्नों के फलस्वरूप मुक्त कोई अन्य ही होता है। परन्तु क्षणिक विज्ञानवाद में यह अनुचित एवं असम्भव स्थिति आ ही जाती है। इस दर्शन में एक विज्ञान को न मानकर विज्ञान-संतति को माना गया है जिसके फलस्वरूप विभिन्न क्षणप्रवाहों में बन्ध, बन्ध से मुक्ति का प्रयत्न, मुक्ति की भावना तथा मुक्ति की प्राप्ति—ये किसी एक संतान के कारण-कार्य नहीं रह पाते। अतः

---

१०८. ……तदयुक्तं, भावना ह्यत्र भवद्भिः कारणमिष्यते, सा क्षणक्षयिणां चित्तक्षणानां-विशेषमाधातुं नोत्सहते, तस्याः स्थिरैकाश्रयगतत्वेन विशेषाधानक्षमत्वात्। तथाहि स्थायिनास्तिलादयो भावाः स्थायिभिरेव सुमनोभिर्वास्यन्ते, तथेयमपि स्यात्, अतश्च प्रतिक्षणमपूर्वत्वेन उपजायमानस्य निरन्वयविनाशिलघनाविनाशवत् अनासादितातिशयस्य चित्तक्षणस्य प्रभास्वरचित्तक्षणोपजननाय भावना न प्रभवेत् इत्यनया कोऽर्थः। वही.

१०९. बन्धमोक्षौ च स्थिरैकादिपक्षे युज्येते, बद्धो हि मोक्षाय प्रवर्तते, प्राप्य च निवृत्तो भवति इति, सन्तानश्चैको न विद्यते, तस्य भेदाभेदविकल्पोपहतत्वात्। वही.

११०. …बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेवैषां मोक्षः।…अत एवैषां बुद्धितत्त्वाऽधोवर्तिनः संसारस्य शान्तिः। वही, अन्यत्वत्यो हि अपवर्गः कुतश्चिन् मुक्तिः न सर्वत इति निःश्रेयसाभासः…। 'ईप्रवि', १. १. १.

स्थिर विज्ञान को मानना आवश्यक है तभी बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था का समुचित व्याख्यान किया जा सकता है।

विज्ञान-प्रवाह की बुद्धिवृत्तिता

उपर्युक्त आलोचना के प्रकाश में काशैद के दार्शनिक निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध की दृष्टि केवल बुद्धि-तत्त्व को प्राप्त करा सकती है, वास्तविक एवं पूर्णमोक्ष को नहीं। कारण यह कि इस मत में क्षणिक विज्ञान-प्रवाह का जो स्वरूप है वह बुद्धिवृत्ति से अधिक कुछ नहीं। अतः ये बुद्धि-तत्त्व की प्राप्ति को मोक्ष मानने वाले ही कहे जा सकते हैं। इस दर्शन में निर्वाण-प्राप्ति के जितने भी उपाय बताये गये हैं, उनके खण्डन के अनावश्यक विस्तार में जाए बिना यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस दर्शन के साधक सीमित मोक्ष को प्राप्त करते हैं क्योंकि वे बुद्धि के नीचे के तत्त्वों-प्रपंचों को तो शान्त कर लेते हैं, उनसे तो मुक्त हो जाते हैं परन्तु बुद्धितत्त्व से ऊपर के तत्त्व इन्हें जन्ममरणादि के भव-जाल में भ्रमित करते रहते हैं। बुद्धितत्त्व से आगे इनकी निर्वाण-दृष्टि की पहुँच नहीं, फलस्वरूप इनका मोक्ष अपूर्ण है, पूर्ण नहीं।[११०]

(स) माध्यमिक मत एवं शैव आलोचना

शून्यता ही निर्वाण

काशैद के साहित्य में माध्यमिक के निर्वाण सम्बन्धी विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यह मत शून्यता को ही निर्वाण मानता है। इस मतानुसार 'शून्योऽहं भवामि' ही ज्ञान है। ये संविद् को निःस्वभाव एवं मिथ्या बताते हुए निःस्वभाव को ही शून्यता और मोक्ष मानते हैं। इस दर्शन के दार्शनिकों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने यह विश्व चित्तमात्र है ऐसा उपदेश केवल सांसारिक व्यवहार के लिए दिया था। यह उपदेश तात्त्विक नहीं, परमार्थ नहीं क्योंकि बाद में स्वयं उन्होंने ही इस चित्तमात्र को मानने का उपदेश ध्वस्त कर दिया था।[१११]

शून्यता को ही निर्वाण मानने का सिद्धान्त इस दर्शन के अनेक ग्रन्थों में

---

१११. अन्तःसंविदरूपतायामपि शून्योऽहं भवामि इति ज्ञानं माध्यमिकानाम्। ते खलु सर्वभावनैः स्वाभाव्यवादिनः संविदोऽपि तैः स्वभाव्यान् मिथ्यात्वमभिदधतस्तच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन्। यदाहु —

चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः।
तत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः॥
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रं व्यवस्थितिः॥ 'तंत्रावि', १. ३३.

विशदता से प्रस्तुत किया गया है । संक्षेप में शून्यवाद की निर्वाण-सम्बन्धी मान्यता इस प्रकार है—

यदि संसार असत् है तो न उत्पत्ति है और न विनाश क्योंकि असत् की उत्पत्ति व विनाश नहीं होता, फिर निर्वाण में किसकी उत्पत्ति और किसका विनाश होगा ? यदि संसार को सत् माना जाए तब भी किसी की उत्पत्ति और विनाश का प्रश्न उपस्थित नहीं हो सकता। अतः सत् मानने पर भी निर्वाण में किसके विनाश से किसकी उत्पत्ति मानी जायेगी। वस्तुतः संसार सदसद्-विलक्षण और प्रतीत्यसमुत्पन्न है । प्राप्ति और हानि उत्पत्ति और विनाश बन्ध और मोक्ष आदि द्वन्द्वों से रहित ज्ञान ही निर्वाण है ।[११२]

प्रतीत्यसमुत्पाद से अविद्या की निवृत्ति

चन्द्रकीर्ति **माध्यमिकवृत्ति** में कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद की परमार्थिक भावना होने पर अविद्या-निवृत्ति होती है और फिर संस्कारादि का निरोध हो जाता है ।[११३] परन्तु परमार्थ-दृशा निर्वाण में किसी का विरोध या विनाश नहीं होता क्योंकि जब किसी का उत्पाद ही सम्भव नहीं तो निरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के कार्य हैं ।[११४]

अनिर्वचनीय शून्यता ही निर्वाण

अनिर्वचनीय शून्यता को ही निर्वाण मानने से सम्बद्ध विचार **माध्यमिककारिका**,[११५] **रत्नावली**[११६] तथा **माध्यमिकवृत्ति**[११७] में अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं । **मिलिन्दप्रश्न** में निर्वाण की अनिर्वचनीयता के विषय में कहा गया है कि यद्यपि स्वरूपतः निर्वाण का वर्णन नहीं हो सकता तथापि गुणतः उसका वर्णन किया जा सकता है अर्थात् परमार्थतः निर्वाण अनिर्वचनीय है परन्तु व्यवहार-दृशा उसका उल्लेख किया जा सकता है ।[११८] इसी में निर्वाण के परिणाम के बारे में अन्यत्र[११९] कहा गया है कि जैसे विद्यमान समुद्र के जल का परिमाण नहीं किया

११२. द्र०–'माका', २५. १-२.

११३. प्रसन्नपदामाध्यनिकवृत्ति, 'सौसिसासं,' पृ० ५७.

११४. वस्तुतस्तु निर्वाणे न कस्यचित् प्रहाणं नापि कस्यचित् निरोध इति विज्ञेयम् । ततश्च निर्विशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम् । तदेव शून्यता । वही.

११५. द्र०–'माका', २५. ५, ७, १०, १४, १६, २४.

११६. द्र०–'रत्नावली', ४२, ४५.

११७. द्र०–प्रसन्नपदामाध्यमिकवृत्ति, 'सौसिसासं', पृ० ५६-५७.

११८. 'मिलिन्दप्रश्न', ४. ६६ ८२-३.

११९. वही, ४ ६७.

जा सकता उसी प्रकार निर्वाण के विद्यमान होने पर भी उसका रूप, स्थान, अवस्था अथवा परिमाण का व्याख्यान सम्भव नहीं। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करते हुए **मध्यमकावतार** में कहा गया है कि व्यवहार सत्य उपाय है और परमार्थ सत्य उपेय है। इनके भेद को जो यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं करता वह कुमार्ग-गामी है।[१२०]

सर्वशून्यता में अनुभूति असम्भव

उपर्युक्त पृष्ठों में शून्यवाद के मन्तव्य को दो आधारों पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पहला आधार था काशैद के साहित्य में प्रस्तुत पूर्वपक्ष और दूसरा आधार था शून्यवाद का मौलिक साहित्य। शून्यवाद के इन निर्वाण-विचारों के विरुद्ध काशैद के दार्शनिक कहते हैं कि शून्यवाद एक ओर सर्वशून्यता मानता है तथा दूसरी ओर उसी शून्यता को निर्वाण मानता है। किन्तु शून्यता की अनुभूति को मोक्ष कैसे माना जा सकता है जब कुछ है ही नहीं। अर्थात् जब सभी का अभाव है तो शून्यतारूप निर्वाण की अनुभूति कौन करेगा? साथ ही जब सब का अभाव है तो यह अनुभूति होगी भी किस वस्तु की? शून्यवाद परतन्त्रता के कारण सभी को अनिर्वचनीय और निःस्वभाव मानता है परन्तु जयरथ कहते हैं कि नीलादि वस्तुएं परतन्त्र स्वभाव की मान लें तब भी वे अपने अन्तिम स्वरूप में किसी न किसी रूप में सत् तो हैं ही। नीलादि परतन्त्र है किन्तु नील-ज्ञान की किसी न किसी रूप में सत्ता अवश्य है। काशैद में सत् को ही सत्ता-स्वभाव माना गया है। अतः इस दर्शन के अनुसार जो वस्तु किसी भी रूप में सत् है वह उसी क्षण सत्ता स्वभाव की भी है। ऐसी स्थिति में वस्तु को ही शून्यवादी परतन्त्र स्वभाव का मान लें तब भी उसके सत्ता स्वभाव का व्यभिचार कथमपि सम्भव नहीं।[१२१]

इन आरोपों से बचने के लिए यदि शून्यवादी कहे कि यहाँ शून्यता का आशय यह है कि वह पारतन्त्र्य आदि के कारण ग्राह्य-ग्राहकभाव से वस्तुएं कल्पित मानता है, अतः वे शून्य हैं; न कि संवित् के रूप में उनकी शून्यता कहना हमारा आशय है, तो जयरथ कहते है कि यह स्थिति विज्ञानवाद से भिन्न नहीं

१२०. 'मध्यमकावतार', ६. ८०.

१२१. संविदो हि मिथ्यात्वेन स्वतंत्ररूपापाकरणेऽपि मिथ्यात्वे सत्तैव न भवेत् तस्याः नीलादिवत् परतन्त्ररूपत्वाभावात् नीलादीनां हि मिथ्यात्वेन स्वतन्त्ररूपापाकरणेऽपि संविदात्मतयाऽस्त्यवस्थानं, संविदि तु स्फुरत्तामात्रसारायां मिथ्यात्वादसत्वमेव स्यात् इति न किंचित्स्फुरेत् इति मूर्छैव स्यात् इति। न च संविदः स्फुरत्तामात्रसाररूपाया अपह्नवः शक्यक्रियः इति यत्किंचिदेतत्। 'तन्त्रावि', १. ३३.

है क्योंकि उसमें भी विज्ञप्तिमात्रता को ही परमार्थ सत् मानते हुए अन्य सबको कल्पना-व्यवहार माना गया है।[१२२]

शून्यवादी निर्वाण की अपूर्णता

उपर्युक्त आलोचना में जयरथ ने शून्यवाद की स्थिति को विज्ञानवाद के समकक्ष बताकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विज्ञानवाद की भाँति शून्यवाद भी पूर्ण मुक्ति के मार्ग को प्रकाशित करने में अपूर्ण है। सम्पूर्ण-रूप से देखने पर निर्वाण की यह आलोचना संक्षिप्त, गम्भीर और अन्य प्रसंगों (पक्षों) पर की गई आलोचना के समान ही है।

काशैद के दार्शनिकों ने पूर्वोक्त आलोचना में शून्यवाद को ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञानाभाववादी, विज्ञानवाद को ज्ञातृज्ञेयाभाववादी एवं वैभाषिक को ज्ञातृभाववादी कहा है। जहाँ तक इन दर्शन-शाखाओं को तत्तत् रूप में अभाववादी मानने के औचित्य का प्रश्न है, तत्तत् शाखाओं के दार्शनिकों के कतिपय कथन इसकी पुष्टि में पूर्वतः ही उद्धृत किये जा चुके हैं। तथापि इस बिन्दु पर और विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

शैवों के खण्डनात्मक तर्कों का विश्लेषण, समालोचना एवं निष्कर्ष

काशैद के दार्शनिकों ने मोक्ष के ही प्रसंग में इनके इस प्रकार अभाववादी होने का जो उल्लेख किया है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि स्वयं काशैद ज्ञाता में ही ज्ञेय एवं ज्ञान की सत्ता मानता है। काशैद का मत त्रयाभाववादी शून्यवाद के ठीक विपरीत है क्योंकि वह तीनों को सत्य मानता है—किंवा ज्ञाता के अधीन ज्ञेय एवं ज्ञान को मानता है परन्तु शून्यवाद तीनों का ही निषेध (?) करता है। ज्ञेय और ज्ञाता का निषेध करने वाला विज्ञानवाद अपेक्षाकृत काशैद के अधिक निकट है क्योंकि यह कम से कम ज्ञान की सत्ता को मानता ही है। परन्तु विज्ञानवाद की अपेक्षा वैभाषिक और अधिक निकट है क्योंकि वह केवल ज्ञाता का ही निषेध करता है। तथापि इन तीनों शाखाओं से काशैद का स्पष्ट मतभेद यह है कि काशैद जिस ज्ञाता पर इतना अधिक बल देना चाहता है, केवल उसी की सत्ता सिद्ध करना चाहता है, उसे (ज्ञाता को) तीनों में से कोई भी बौद्ध शाखा नहीं मानती। अतः प्रतीत होता है कि इन शाखाओं का अभाववादियों के रूप में उल्लेख करके यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है कि काशैद की दृष्टि इनसे सर्वथा भिन्न है।

---

१२२. ग्राह्यग्राहकभावादिना कल्पितेन रूपेण शून्यं, न तु संविदापि इति चेत्, एवं ह्युच्यमाने विज्ञानवादे एवाभ्युपगमः स्यात्, सोऽपि हि कल्पितपरतन्त्रादिरूपशून्यत्वेन···विज्ञप्तिमेव परमार्थसतीमभ्युपागमत् इति न नवं किंचित् आयुष्मतोत्प्रेक्षितम्। वही.

वैभाषिक के विषय में यह कहा जा चुका है कि इस मत में अभाव भी वैशेषिक की भाँति पदार्थ है इसलिए इस मत को इसी पृष्ठभूमि में अभाववाद कहा जा सकता है। विज्ञानवाद के ज्ञेय-ज्ञाता के अभाव मानने का स्वरूप भी मुख्यतः यह है कि इसमें ज्ञेय का इसलिये अभाव माना जाता है कि उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। वाह्य पदार्थ को अणु-रूप मानें अथवा प्रचयरूप मानें, दोनों ही स्थितियों में उसके ज्ञान की सम्भावना क्षीण है। अतः वाह्यार्थ की सत्ता नहीं है। इस मत में ज्ञाता को मानने की आवश्यकता इसलिये नहीं समझी जाती क्योंकि विज्ञान या ज्ञान बिना किसी अवलम्बन के ही सिद्ध है। जिसे साधारणतया नित्य ज्ञाता या आत्मा के रूप में समझा जाता है वह कोई वस्तु-सत्य नहीं अपितु व्यवहार मात्र है। वह पंच स्कन्धों का समुदाय है।

इस प्रकार विज्ञान को द्वयाभाववादी कहने में कोई अनौचित्य नहीं। इस दर्शन में ज्ञेय और ज्ञाता को क्यों नहीं माना जाता एवं काशैद में इस विषय की क्या आलोचना की गई है इन पर पहले ही विस्तार से विचार किया गया है, अतः उनका पिष्टपेषण अप्रासंगिक होगा।

शून्यवाद को ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान तीनों का ही अभाव मानने वाले मत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शून्यवाद के दार्शनिकों ने शतशः इस बात का खण्डन किया है कि उनका मत अभाववाद या नास्तिकवाद नहीं है। परमतत्त्व से सम्बन्धित परिच्छेद में इस बिन्दु पर प्रकाश डाला गया है तथापि यहाँ इतना कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि शून्यवादी दार्शनिकों के इस स्पष्टीकरण के उपरान्त भी इस दर्शन को अभाववादी के रूप में प्रसिद्धि मिल ही गयी। काशैद के दार्शनिकों ने ही इसे अभाववादी के रूप में सर्वप्रथम प्रस्तुत नहीं किया। इससे पूर्व इस दर्शन (तथा सभी शाखाओं सहित बौद्ध दर्शन) के बारे में प्रचलित वैनाशिक समय वैनाशिक तन्त्र (**ब्रसूशांभा**, २. २. ३२) जैसे नाम भी इसी की पुष्टि करते हैं। हीनयानी आचार्य तथा ब्राह्मण-जैन विद्वानों ने भी इस दर्शन के शून्य का अर्थ सकल सत्ता का निषेध या अभाव ही किया है।[१२३] इसका कारण सम्भवतया इस शब्द का लोक-प्रसिद्ध अर्थ है। शून्यवाद भावमात्र का निषेध करता है।[१२४] इस अपेक्षा से भी इसे अभाववादी कहा जा सकता है। अस्तु इसको अभाववादी कहने के कुछ भी कारण रहे हों, यह निश्चित है कि इसके दार्शनिक इसे निःस्वभाववाद या अनिर्वचनीयतावाद के रूप में ही प्रस्तुत करना चाहते हैं।

१२३. उपाध्याय, 'बौद्धदर्शनमीमांसा', पृ० २९९.

१२४. विस्तारार्थ द्र०—शास्त्री, श्रीनिवास, 'वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन', पृ० ९०-४.

काशँद के दार्शनिकों द्वारा क्षणिकविज्ञानवाद पर उठाई गई आपत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध कारणवाद से है। क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह अथवा परम्परा में वैचित्र्य क्यों और कैसे आता है, यह एक ऐसा प्रश्न है जो स्वयं विज्ञानवादी दार्शनिकों के लिए भी एक समस्या है। इस समस्या के समाधान में वासना की कल्पना की जाती है परन्तु इससे भी मूल समस्या हल नहीं होती है। प्रस्तुत प्रसंग में भी मूलतः वही समस्या विद्यमान है। वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक अपनी शब्दावली में समल चित्तक्षण से मल-रहित चित्तक्षण का जन्म न मानकर यह कहते हैं कि समल चित्तक्षणों का प्रभाव शान्त हो गया है। समल चित्त के अन्त्यक्षण ने दूसरे समल चित्तक्षण को जन्म नहीं दिया फलतः दूसरा चित्तक्षण मल रहित ही रहा। समल चित्तक्षण का यही अर्थ क्रियाकारित्व था कि वह दूसरे समल चित्त-क्षण को उत्पन्न होने से रोके रहा। अन्त्य समल चित्तक्षण से दूसरे समल चित्तक्षण का जन्म न होना अथवा उस समलता का निरोध हो जाना ही निर्वाण है।

काशँद की ओर से बौद्धमत के निर्वाण-विचार पर एक युक्ति यह प्रस्तुत की गई थी कि बद्ध व्यक्ति ही मोक्ष में प्रवृत्त होता है। क्षणिक चित्त-प्रवाह को मानने पर तथा एक स्थिर ज्ञाता (अथवा जीव) को न मानने पर कोई अन्य चित्तक्षण बद्ध होगा, अन्य निर्वाण का प्रयत्न करेगा तथा अन्य ही मुक्त होगा। यह एक अनुचित एवं असम्भव स्थिति है। काशँद की इस युक्ति का मूल लक्ष्य भी बौद्धों का क्षणिकवाद ही है। विज्ञानवादी दार्शनिक यह पूर्वतः स्पष्ट कर चुके हैं कि वे बन्ध और मोक्ष की चर्चा व्यावहारिक स्तर पर मानते हैं, परमार्थ-स्तर पर नहीं। विज्ञानवाद का यह विचार शांकर वेदान्त एवं काशँद के समान ही है। विज्ञानवाद के प्रतिष्ठित दार्शनिक असंग कहते हैं कि तत्त्व सदा द्वैत रहित है।.... वह स्वभाव से ही अत्यन्त शुद्ध होने पर भी अविद्या-मल से लिप्त-सा प्रतीत होता हैं। अतः तत्त्व को जानने और अविद्या मल को दूर करने का उपदेश व्यवहारतः ही दिया जाता है।[१२५] अन्यत्र भी वे कहते हैं समस्त दोष आगन्तुक हैं। यद्यपि वास्तव में ये दोष तत्त्व को दूषित नहीं कर सकते तथापि तत्त्व इनसे दूषित-सा प्रतीत होता है.... ।[१२६]

काशँद के ग्रन्थों में बौद्धमत के अनेक पक्षों पर आलोचना की गई है जिनका विवेचन विविध परिच्छेदों में किया गया है; किन्तु इन सभी पक्षों में मोक्ष का पक्ष ऐसा है जिस पर आलोचनात्मक अंश अत्यल्प है। इस अल्पता का कारण

---

१२५. 'महायानसूत्रालंकार', १३. १९.

१२६. वही, ११. १३.

यह प्रतीत होता है कि काशैद की भाँति बौद्ध (एवं अन्य दर्शन भी) निर्वाण या मोक्ष को भाषा, युक्ति, प्रमाणादि से ऊपर मानते हैं। अतः इस पक्ष पर अधिक तीक्ष्ण युक्तियों एवं आलोचना-प्रत्यालोचना का अवसर सर्वत्र कम ही रहता है। जो मत मोक्षावस्था को बुद्धिग्राह्य मानते हैं, सत्कर्मों द्वारा संस्कार्य मानते हैं अथवा ज्ञान द्वारा उत्पाद्य या प्राप्य मानते हैं वे इसका तात्त्विक विवेचन अन्य माध्यमों से कर सकते हैं। परन्तु अद्वैतवादी दर्शन, और उनमें भी विशेषतः विज्ञानवाद, शून्यवाद, शांकर वेदान्त एवं काशैद, इसे भाषा से परे केवल अनुभूति की अवस्था मानते हैं, अतः इन मतों में इसके भिन्न-भिन्न स्वरूप की सिद्धि में अनुभूति एवं शास्त्र प्रमाणों का ही उल्लेख किया जाता है, अन्य प्रमाणों का नहीं।

प्रसंगतः बौद्ध दर्शन को लिया जाए। काशैद ने अपनी आलोचना में केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि क्षणिकविज्ञान मानने से चित्त भी क्षणिक ही होगा। अतः इसके द्वारा नित्य निर्वाण की अनुभूति कैसे सम्भव है? काशैद की दृष्टि में, मुक्ति के प्रसंग में, सर्वाधिक अस्वीकार्य मत शून्यवाद है जो निर्वाण को भी असत् या अभाव बना देता है। अन्य दर्शनों में भी बौद्धमत के निर्वाण सम्बन्धी विचारों की आलोचना की गई है किन्तु काशैद से उनका वैशिष्ट्य यह है कि इसमें ज्ञाता की अनिवार्यता मानते हुए मतभेद प्रकट किया गया है।

३

वेदान्त एवं शैवमत : तुलनात्मक विश्लेषण

किसी भी दर्शन का मोक्ष-विचार उसकी परमतत्त्व की मान्यता से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होता है। काशँद परमतत्त्व में पूर्ण एवं अविच्छिन्न स्वातन्त्र्य को स्वीकृति देता है, किन्तु वेदान्त दर्शन में विशुद्ध चित् तत्त्व को ही परम तत्त्व माना गया है जिसमें स्वातन्त्र्य नहीं है। इसलिए जहाँ एक ओर काशँद के मोक्ष-विचार पूर्ण स्वातन्त्र्य शिव तत्त्व को परम लक्ष्य मानकर अग्रसर होते हैं वहाँ वेदान्त की मुक्ति-सम्बन्धी मान्यताओं का लक्ष्य विशुद्ध चित् तत्त्व की स्वरूपोपलब्धि है। यही वह दृष्टि-भेद है जिसका पूर्व परिच्छेदों में सामान्यतः एवं परमतत्त्व शीर्षक परिच्छेद में विशेषतः उल्लेख किया गया है। यही काशँद-कृत वेदान्त की आलोचना का केन्द्र-बिन्दु है तथा यही इनके मोक्ष-विचारों के वैभिन्य की पृष्ठ-भूमि भी।

बन्ध का कारण

काशँद एवं वेदान्त दर्शन इस विचार से पूर्ण सहमत हैं कि आत्मा का अपने परमार्थ स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है तथा यही बन्ध का कारण भी है। किन्तु दर्शनद्वय में अज्ञान के स्वरूप को लेकर मत-भेद है। इन मतों के परस्पर भेद एवं आलोचना के विस्तार में जाने से पूर्व यह जान लेना लाभदायक होगा कि वेदान्त मत में अज्ञान का क्या स्वरूप है। अज्ञान के विषय में काशँद के विचारों का अन्यत्र व्याख्यान किया जा चुका है।

वेदान्त दर्शन में, जिसका प्रतिनिधित्व प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुख रूप से शांकर मत करता है, बन्ध का कारण अविद्या अथवा अज्ञान माना गया है। अविद्या एवं माया लगभग पर्यायवाची ही है।[१२७] माया की अनिर्वचनीयता इस मत में प्रसिद्ध है। अतः अविद्या को भी अनिर्वचनीय मानना स्वाभाविक है। बन्ध के प्रसंग में अविद्या को देखें तो जीव एवं ब्रह्म में द्वैत-बुद्धि रखना, आत्मा में अनात्म का तथा अनात्म में आत्मा का अभिमान करना अज्ञान है। यही बन्ध है। इसी के कारण ब्रह्म रूप जीव को अपने परमार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता और वह नित्य एवं विशुद्ध होते हुए भी स्वयं को संसरण शील एवं शुभाशुभ कर्मों से लिप्त मानता है। मनुष्य की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म-मरणादि दुःखों का कारण यही अविद्या है।[१२८]

---

१२७. द्र०–शर्मा राममूर्ति, 'अवे', पृ० १६२-६.

१२८. कठउ', २. ५, 'ब्रसूशांभा', २. ३. ४६.

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप। आवरण शक्ति,[129] मेघों से आच्छन्न सूर्य की तरह जीवात्मा के यथार्थ स्वरूप को आच्छन्न कर लेती हैं जिससे ब्रह्मरूप जीव स्वयं को संसारी समझने लगता है। विक्षेपशक्ति[130] के कारण जीव, रज्जु में सर्प की भाँति, मिथ्या जगत् को परमार्थ समझने लगता है।

बन्ध के कारण के विषय में वेदान्त के ये विचार काशैद के विचारों के बहुत निकट हैं। काशैद के मोक्ष-विचारों के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि इसके दार्शनिक भी द्वैतबुद्धि को अज्ञान मानते हैं। आत्मा में अनात्म तथा अनात्म में आत्मा के अभिमान का बन्ध-विचार भी दोनों दर्शनों में समान है। इस बिन्दु पर भी दोनों ही दर्शन-पद्धतियाँ एक मत हैं कि अविद्या, अज्ञान अथवा माया ही जीव के परमार्थ स्वरूप को ढकने के लिए उत्तरदायी है। वेदान्त की आवरण शक्ति को काशैद की तिरोधानशक्ति से समीकृत किया जा सकता है। परन्तु जहाँ वेदान्त में आवरण एवं विक्षेपरूप शक्तियाँ माया की ही हैं वहाँ काशैद में इन्हें शिव के अविच्छिन्न स्वातन्त्र्य का एक रूप माना गया है। वेदान्त में यह कहना सम्भव नहीं कि ब्रह्म अपनी इच्छा से, अपनी ही अविच्छिन्न माया शक्ति के द्वारा, स्वयं को जीव रूप में अनुभव करता है क्योंकि वेदान्त में माया ब्रह्म की अविच्छिन्नशक्ति नहीं मानी गई है। परन्तु काशैद में ऐसा कहना सम्भव ही नहीं, वस्तुतः ऐसा ही है। शिव अपनी ही इच्छा से अपनी ही स्वातन्त्र्यात्मक तिरोधानशक्ति के द्वारा अपने परमार्थ स्वरूप को छिपाता है। माया और स्वातन्त्र्य में तथा काशैद मतानुसार शिव-शक्ति की अविच्छिन्नता के विवेचन के विस्तार में जा ा यहाँ अभीष्ट नहीं, क्योंकि इस पक्ष का पहले विवेचन किया जा चुका है। किन्तु प्रसंगानुसार यही कहना अभीष्ट है कि वेदान्त में जीवात्मा के स्वरूप-गोपन की उत्तरदायिनी माया है, जो ब्रह्म की अबिच्छिन्नशक्ति नहीं, किन्तु काशैद में स्वरूपगोपन का कार्य ब्रह्म की अविच्छिन्न माया शक्ति (किंवा स्वातन्त्र्यशक्ति) करती है।

आत्मा-ईश्वर

शंकर चैतन्य को ही आत्मा का स्वरूप मानते हैं—चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपम् (**ब्रसूशांभा,** ४. ४. ६)। यह ब्रह्म की तरह अज, अविकारी है।[131] इस दर्शन में जीव के साथ ईश्वर की धारणा भी व्यवहारतः मिलती है। जीव का चैतन्य जब उपाधि-ग्रस्त हो जाता है तो वह प्राज्ञ कहा जाता है। प्राज्ञ कहने का

१२९. 'वेसा', ५२.
१३०. वही, ५४.
१३१. '**ब्रसूशांभा**', २. ३. १७.

आशय यह है कि यह अपने उपाधिग्रस्त चैतन्य से आनन्दादि का भोग करता है। प्राज्ञ अल्पज्ञत्व और अनीश्वरत्वादि गुणों वाला होता है। यह व्यष्टिगत अज्ञान का ही प्रकाशक है। यह अनतिप्रकाशक होने से अस्पष्ट उपाधि से ग्रस्त होता है तथा इसलिए प्राज्ञ है। किन्तु ईश्वर समष्टि की दृष्टि से जीव कहा जाता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वनियन्ता अन्तर्यामी और जगत् का कारण माना जाता है। प्राज्ञ व्यष्टि का प्रकाशक है तथा ईश्वर समष्टि का। प्राज्ञ और ईश्वर में वनवृक्ष से आच्छन्न आकाश अथवा जलाशय और जल में प्रतिबिम्बित आकाश की तरह अभेद है।[१३२]

समता की दृष्टि से देखें तो वेदान्त के प्राज्ञ को काशैद के पशु की धारणा से समीकृत किया जा सकता है तथा ईश्वर को पति की धारणा से। प्राज्ञ और पशु तथा ईश्वर और पति की विभाजन-व्यवस्था दर्शनद्वय में व्यष्टि एवं समष्टि की दृष्टि से की गई है। दोनों ही दर्शन इनके रूपों को व्यावहारिक मानते हैं, पारमार्थिक नहीं। दोनों ही मतों में प्राज्ञ और ईश्वर तथा पशु और पति में स्वरूपत: कोई भेद नहीं, अपितु अभेद है। यही अभेद पति और परमशिव में तथा ईश्वर और ब्रह्म में भी है। यही नहीं, पति और ईश्वर की धारणा को छोड़ कर सीधे पशु और प्राज्ञ की दृष्टि से देखें तब भी इनमें तथा क्रमश: परमशिव और ब्रह्म में स्वरूपत: कोई भेद नहीं है। भेद यदि है भी तो मात्र यह कि वेदान्त में प्राज्ञ को मिथ्या ज्ञान वाला एवं मिथ्या ऐश्वर्य वाला कहा गया है; अर्थात् प्राज्ञ जो अनात्म है, आत्मा का अभिमान करता है, उसका वह ज्ञान मिथ्या है, इसी तरह देहादि एवं जगत् के ऐश्वर्य को वह अपना समझता है। किन्तु वस्तुत: उसका ऐसा ऐश्वर्य नहीं है, वह वस्तुत: ऐश्वर्यवान् नहीं है। ऐश्वर्य मिथ्या है किन्तु फिर भी उसे वह अपना समझता है। परन्तु काशैद की मान्यता यह है कि पशु का देहादि में आत्माभिमान मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान नहीं, अपितु अपूर्णज्ञान है। वह संकुचित ज्ञानेन्द्रियों से ही ज्ञान पाने की शक्ति से सम्पन्न नहीं हैं अपितु अनन्त शक्ति-सम्पन्न है। पशु का परमार्थ स्वरूप अनन्त ज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न है किन्तु वह विद्या-कंचुक के कारण अपने को संकुचित ज्ञानशक्ति सम्पन्न समझता है। इसी तरह वह अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न है किन्तु स्वयं को अल्प ऐश्वर्य वाला समझता है। प्राज्ञ के स्वरूप में उपाधि जहाँ मिथ्या ज्ञानादि को संयुक्त करती है वहाँ काशैद में कंचुक रूप उपाधि, पशु की संकुचितता को मिथ्या ज्ञानादि के स्थान पर ज्ञानादि की अपूर्णता से संयुक्त करती है। वस्तुत: केवल देह ही पशु की नहीं, अपितु समस्त जगत से उसका आत्मत्व है।

१३२. 'वेसा', ४८.

ठीक यही बात ईश्वर और पति के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वेदान्त ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता आदि शक्तियाँ मानता है, किन्तु ब्रह्म इन सबसे निर्विशेष है। काशैद के मत में पति के साथ ही शिव में विमर्श एवं स्वातन्त्र्य की अभिन्न अवस्थिति इसी की द्योतक है। इस प्रकार एक का दृष्टिकोण जहाँ निषेध का है, अस्वीकार का है, मिथ्यात्व का है वहाँ दूसरे का स्वीकार ही नहीं, सबके स्वीकार के साथ पूर्णता का है।

वेदान्त में जीव में इच्छा, क्रियादि का अभिमान अनिर्वचनीय माया के कारण है। किन्तु काशैद में पशु जो भी कुछ करता है, जानता है, उसका कारण परम शिव का स्वातन्त्र्य है और यह वेदान्त की माया की तरह मिथ्या नहीं अपितु उसी प्रकार सत्य है जैसे ब्रह्म या शिव।

बन्ध-व्यवहार, मोक्ष व परमार्थ

काशैद एवं वेदान्त दर्शन इस बारे में एकमत हैं कि जीव नित्य मुक्त है। बन्ध और मोक्ष का परमार्थ-दृशा कोई औचित्य नहीं, यह व्यवहार मात्र है। मतद्वय के अनुसार मोक्ष कोई नूतन उपलब्धि नहीं अपितु प्राप्त की ही प्राप्ति है। दोनों ही दर्शन-पद्धतियाँ जीव की ब्रह्म से ऐक्यानुभूति को मोक्ष मानती हैं। तथापि इनके इस विचार-साम्य के प्रस्तुतीकरण में किंचित् भेद है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो वेदान्त बन्ध को इसलिए व्यावहारिक मानता है कि जीव मायाकृत उपाधि के कारण स्वयं को बन्धन-ग्रस्त, कर्ता, भोक्ता, देही संसरणशील आदि समझता है जबकि वह परमार्थतः कर्ता, भोक्ता, देही एवं संसरणशील नहीं है। किन्तु काशैद के दार्शनिक बन्ध को इसलिए व्यावहारिक मानते हैं कि जीव परमार्थदृशा परम स्वतन्त्र है, अनन्त कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न एवं विभु है किन्तु शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण वह स्वयं को संकुचित कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न तथा मितात्मा समझने लगता है। वेदान्त में जीव का स्वयं को कर्ता-ज्ञाता-भोक्ता मानना मिथ्या है जबकि काशैद में यह अल्पता एक प्रकार की अपूर्णता है। वेदान्त की इस व्यावहारिकता को व्यवहार इसलिए कहा जाता है कि यह परमार्थ नहीं है एवं परमार्थ इससे सर्वथा भिन्न है, परन्तु काशैद में इसे व्यवहार इसलिए कहा जाता है कि परमार्थ इससे सर्वथा भिन्न नहीं अपितु इसका चरम आधिक्य किंवा पूर्णता है।

शंकर **तैत्तिरीय उपनिषद्** के भाष्य में कहते हैं मोक्ष नित्य है। अनित्य वस्तु वह होती है जो किसी कर्म का कार्य हो।[१३३] **ब्रह्मसूत्रभाष्य** में इसी का

१३३. शंकर, 'तैउभा', १. ११

विस्तार करते हुए वे कहते हैं कि जिनके मत में मोक्ष उत्पाद्य, विकार्य या प्राप्य है या संस्कार्य है, उनके मत को मानें तो मोक्ष में अनित्यता आना सम्भव है। परन्तु वह ऐसा नहीं है। अतः अनित्य भी नहीं है। मोक्ष तो वस्तुतः अतिशय से रहित ब्रह्मस्वरूप है।[१३४] **बृहदारण्यक उपनिषद्** के भाष्य में वे कहते हैं कि यदि मोक्ष को किसी भावनान्तर की प्राप्ति माना जाता तो एक ओर उपनिषद् के आत्मैक्य रूप सिद्धान्त की हानि होती तथा वह कर्म निमित्तक हो जाता और तब इसमें अनित्यता का दोष आ जाता क्योंकि जो वस्तु कर्म से निष्पन्न होती है वह नित्य नहीं होती।[१३५]

इस प्रकार शंकर के मतानुसार मोक्ष की नित्यता का कारण ब्रह्मरूप जीव का स्वरूप नित्य शुद्ध ज्ञानमात्र होना है, जो समस्त उपायों से परे है। उनके मत में मोक्ष या स्वात्मज्ञान यदि कर्मादि के द्वारा प्राप्य अथवा संस्कार्य होता तो उसमें निश्चय ही अनित्यता के दोष की सम्भावना की जा सकती थी, परन्तु जैसा कि कहा गया स्वात्मज्ञानरूप मोक्ष प्राप्य या संस्कार्य नहीं, अतः वह नित्य है।

वेदान्त के उपर्युक्त विचार से यह आभास मिलता है कि इस दर्शन में कार्य से साध्य वस्तु अनित्य होती है। परन्तु काशैद के दार्शनिक इस विचार से सहमत नहीं। उनके मत में कर्म एवं क्रिया से कर्ता के स्वरूप में अनित्यता का दोष नहीं आ सकता क्योंकि क्रिया कर्ता का अविच्छिन्न एवं नित्य स्वभाव है तथा कर्म पूर्वतः कर्ता में विद्यमान है। क्रिया को कर्ता से भिन्न मानने पर दोष की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता परन्तु इस दर्शन में कर्ता का अविच्छिन्न कर्तृत्व ही क्रिया है। क्रिया किस प्रकार कर्ता में दोष उत्पन्न नहीं करती अथवा वस्तु (दूध में दूध) अपने ही स्वभाव से कैसे दूषित नहीं होती इसके विस्तारार्थ परम-तत्त्व से सम्बन्धित परिच्छेद की उन युक्तियों का स्मरण किया जा सकता है जिनमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि विमर्श ब्रह्म में क्षोभ उत्पन्न नहीं करता है।

जहाँ तक कर्म का प्रश्न है काशैद कर्म को कर्त्ता में ही मानता है। कारण-वाद के परिच्छेद में इस दर्शन के इस मत पर प्रकाश डाला गया है कि कर्म अथवा कार्य कर्त्ता में विद्यमान का ही बहिराभासन है। अतः न तो क्रिया और न ही कर्म कर्त्ता में विकार उत्पन्न करते हैं। अतः जीव अथवा शिव का कर्तृत्व नित्य है। दर्शनद्वय के अनुसार मोक्षोपाय में कर्म का क्या महत्त्व है, इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

---

१३४. द्र०–'ब्रसूशांभा', १. १. ४.

१३५. 'बृउभा', ४. ४. ६.

मुक्ति में अविद्या की निवृत्ति

शंकर मोक्ष को अज्ञान या अविद्या की निवृत्ति मानते हैं। **बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में** वे मोक्ष और अविद्या की निवृत्ति को पर्याय कहते प्रतीत होते हैं।[१३६] वे कहते हैं रोगनिवृत्ति ही जैसे स्वस्थ होना है उसी प्रकार अज्ञान का नाश ही ज्ञान है।[१३७] अप्पय दीक्षित (**सिद्धान्तलेशसंग्रह**, चतुर्थ परिच्छेद) के मत में आत्मा ही अविद्या-निवृत्ति है। शांकर मत में अविद्या को आत्मा का अविच्छिन्न धर्म नहीं माना गया है।[१३८] क्योंकि मुक्ति में इसकी निवृत्ति हो जाती है। काशैद के दार्शनिक शंकर की[१३९] इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि वस्तु का धर्म कभी भी विच्छिन्न नहीं होता परन्तु वे यह मानने को तत्पर नहीं कि अविद्या आत्मा का धर्म नहीं है। वस्तुतः उनकी दृष्टि से मुक्ति के प्रसंग में अविद्या-निवृत्ति की बात कहने में निषेधात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट है जबकि यह दर्शन निषेध में नहीं, समन्वय में आस्था रखता है। शंकर के लिए अविद्या की निवृत्ति को स्वीकार करना इसलिए आवश्यक है कि वे अज्ञान को ज्ञान से विपरीत मानते हैं। किन्तु काशैद में अज्ञान का अर्थ अपूर्ण ज्ञान किया गया है। अतः पूर्ण ज्ञान के प्राप्त होने पर अथवा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये उस अपूर्ण ज्ञान के निषेध की नहीं, अपितु उसकी संकुचितता के स्थान पर व्यापकता या अनन्तता को स्वीकार करने की आवश्यकता है। इसे भी एक प्रकार का निषेध यदि माना जाए तब भी दोनों में यह भेद मानना ही होगा कि वेदान्त के निषेध में किसी वस्तु और प्रस्तुत प्रसंग में अज्ञान को ठुकराकर या उसका परित्याग करके उससे पूर्णतया भिन्न किसी अन्य (ज्ञानरूप आत्मा) को स्वीकार किया गया है, जबकि काशैद के निषेध में, यदि उसे निषेध ही माना जाए तो, किसी वस्तु का और प्रस्तुत प्रसंग में अज्ञान (अपूर्ण ज्ञान) का परित्याग नहीं किया गया है अपितु उसके संकुचित रूप को बिना त्यागे आनन्त्य को स्वीकार किया गया है। ऐसा मानना इसलिए भी उचित है कि इस अद्वयवाद में कोई वस्तु त्याज्य नहीं, निषेध्य नहीं। अज्ञान भी शिवरूप ही है, क्योंकि शिव ही अपनी इच्छा से मितात्मा के रूप में अपने को आभासित करना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसकी निवृत्ति का अर्थ शिव की इच्छा की निवृत्ति या निषेध होगा जो उचित नहीं क्योंकि शिव की

---

१३६. वही, १. ४. ७, १०; ३. २. १३; एवं 'ब्रसूसांभा', २. १. ४.

१३७. 'ब्रसूसांभा', ४. ४. २.

१३८. ...नात्मधर्मोऽविद्या। 'बृउभा' ४ ३. २०.

१३९. न हि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिवौष्ण्यप्रकाशयोः। वही.

स्वातन्त्र्यपूर्ण इच्छा की दृष्टि से पूर्णज्ञान एवं अपूर्ण ज्ञान दोनों उसकी ज्ञानशक्ति के दो रूप हैं।

वेदान्त दर्शन द्वारा प्रस्तुत मुक्ति विचार को पूर्णतया निषेधात्मक माना जाए या नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न है।[१४०] हिरियन्ना के विचार में वेदान्त दर्शन की सभी शाखाओं में पूर्ण मुक्ति को न केवल दुखों का अभाव ही माना है अपितु उसमें आनन्द की उपस्थिति को भी स्वीकार किया गया है। मुक्ति में आनन्द की अनुभूति से काशैद का कोई विरोध नहीं परन्तु उसकी दृष्टि से ब्रह्म में विमर्श को माने बिना इसकी संगति सम्भव नहीं।

जीव-ब्रह्मैक्य

न्याय दर्शन के मतानुसार मुक्तावस्था में जीवात्मा दूसरे जीवात्माओं से पृथक् और स्वतन्त्र रहता है, उनमें मिलता नहीं। अतः नैयायिक अनेक जीववाद की धारणा को प्रश्रय देते हैं। शैवसिद्धान्तानुसार मुक्तावस्था में जीव परमेश्वर के अधीन हो जाता है। इस मत में मुक्त होने पर आत्मा न तो परमेश्वर में लीन होता है, न ही उसका अंग बनता है अपितु परमेश्वर की सहायता से तथा उसी के अधीन रह कर कार्य करता है। रामानुज-मतानुसार मुक्त होने पर जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। वह ब्रह्म से स्वरूपैक्य स्थापित नहीं करता—ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम् (**श्रीभाष्य**, १. १. १.)। किन्तु वेदान्त एवं काशैद दोनों ही अद्वैतवादी दर्शन मुक्ति के फल-भेद में साम्य[१४१] रखते हुए यह दृढ़ मत व्यक्त करते हैं कि मोक्ष में जीव और ब्रह्म में किसी भी प्रकार की भिन्नता या भेद की अनुभूति नहीं होती। इनमें पूर्ण ऐक्य हो जाता है क्योंकि वस्तुतः जीवात्मा ही ब्रह्म है। बन्ध-दशा में भी जीव अज्ञान के कारण स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझता था। वस्तुतः न वह कभी बद्ध हुआ, न हो सकता है। अतः उसके बद्ध-मुक्त होने का प्रसंग भी व्यवहार-दृशा सत्य है, परमार्थदृशा नहीं। वेदान्त में 'सर्वं खल्विदं, ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' के महावाक्यों द्वारा जीव ब्रह्म में ऐक्य की व्याख्या करता है वहाँ काशैद में गुरूपदेश से मितात्मा को 'शिवोऽहम्' का प्रत्यभिज्ञान कराया जाता है।

जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के भेद का निरूपण शांकर मत एवं काशैद दोनों के ही अनुकूल नहीं है। दोनों ही अद्वैतवादी दर्शन इस प्रकार का विभाजन परि-

---

१४०. द्र०—**Hiriyanna,** *The Quest After Perfection*, p. 70.

१४१. फलभेदस्तु लेशतोऽपि न विद्यते एव येन विरोधापत्तिः स्यात्। 'भा', १. १. १.

स्थिति के अनुसार एवं व्यावहारिक मानते हैं। परन्तु जगत् एवं परमतत्त्व के स्वरूप की किंचित् भिन्नता का प्रभाव इनके मुक्ति-विचारों पर भी परिलक्षित होता है।

शांकर मत में जीवन्मुक्ति का अर्थ जीव में सांसारिकता अथवा द्वैत प्रपंच का अभाव माना गया है क्योंकि इस मत में जगत् हेय है। परन्तु काशैद की दृष्टि जगत् के प्रति मूलतः हेयता की नहीं है।[१४२] इस मत में जगत् सत्य शिव का सत्य आभास है। अतः मुक्त पुरुष संसार को हेय नहीं समझता अपितु आत्मीय समझता है।[१४३] वह उससे आत्मीयता अनुभव करता है। वेदान्त में जगत् के प्रति यह आत्मीयता सम्भव नहीं क्योंकि उसमें जगत् को हेय एवं कुत्सित कहकर 'नेति नेति' के द्वारा पहले ही उसका निराकरण कर दिया जाता है।[१४४] किन्तु काशैद में बद्ध-मुक्त के लोक-व्यवहार में मात्र यही भेद है कि बद्ध-पुरुष जगत् को स्वात्म-भिन्न समझता है और मुक्त पुरुष स्वात्म से अभिन्न।[१४५] इसी दृष्टि-भेद के कारण काशैद में भोग का सम्पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है अपितु उसका स्वरूप बदला गया है। जीवन्मुक्त पुरुष वस्तुओं को शिवरूप मानकर उनका उपभोग करता है। जबकि शांकर में जीवन्मुक्त का भोग, शरीरपात से पूर्व तक, निर्लिप्त पुरुष की फल रहित क्रिया मात्र है। दोनों ही मत यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष शुभाशुभ कर्मों के भेदों से ऊपर उठ जाता है। इसलिए दोनों ही मत मुक्त के लोक व्यवहार को जड़वत् एवं यन्त्रवत् कहते हैं।[१४६] शांकर मत में जगत् के नानात्व को मिथ्या मान कर उसके प्रति भेद-बुद्धि का परित्याग किया जाता है किन्तु काशैद में नानात्व को शिव के स्वातन्त्र्य का विस्फार तथा शिवरूप[१४७] मानकर उसके प्रति भेद-व्यवहार को समाप्त किया जाता है। दोनों ही मत मुक्त पुरुष के पुनर्जन्म का निषेध करते हैं क्योंकि वह फलों की आशा के बिना कर्म करता है।

शंकर पूर्ण मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं।[१४८] जीवन्मुक्त देहपात के बाद ब्रह्मैक्यरूप जिस मोक्ष की अनुभूति करता है वह मोक्ष पारमार्थिक

---

१४२. द्र०—'शिदृ', १. ३, 'पसावि', ५८, ७५.
१४३. द्र०—'शिदृ', ७ १०६, 'ईप्रवि', ४. १. १२.
१४४. तथा च तस्य मायामयत्वेन कुत्सितत्वात् कथं तत्रात्मत्वभित्यपीष्टमेव तेषां नेति नेति वाक्यै सर्वस्य निराकरणात्। 'शिदृ-टीका', ४. १.
१४५. द्र०—'ईप्रवि', ४. १, १३.
१४६. ब्रसूशांभा', १ १. ४, 'पसावि', ५७, ६३, ६७, ७०, ७१, ८१, ९५; 'तंत्रा', १३. २३१.
१४७. भेदा अपि तदात्मका:। 'शिदृवृ', १. ४९.
१४८. 'ब्रसूशांभा', ४. ४. १०.

कूटस्थ, नित्य, आकाशतुल्य सर्वव्यापी है। यह सभी विकारों से रहित, नित्य-तृप्त निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला है। इसमें धर्माधर्मादि नहीं रहते और न ही इसका कालत्रय से कोई सम्बन्ध है। यही अशरीरी नामक मोक्ष है अर्थात् विदेहमुक्ति है।[१४९] सदानन्द इसी को आनन्दैकरस से पूर्ण समस्त भेदों से रहित अखण्ड ब्रह्म में अवस्थिति वाला परम एवं पूर्णकैवल्य मानते हैं।[१५०]

काशैव के दार्शनिकों का विचार है कि मोक्ष का कोई भिन्न लोक नहीं है जहाँ जाकर जीवन्मुक्त पुरुष पूर्ण मुक्ति को प्राप्त करे।[१५१] न तो शरीर का योग बन्ध है, न शरीर की मुक्ति मोक्ष। शरीर के रहते मुक्ति सम्भव है। देहपात के बाद पूर्णमोक्ष हो जाता है।[१५२] शंकर भी जीवन्मुक्ति में शरीर को बाधक न मानते हुए,[१५३] शरीरपात के बाद पूर्ण-कैवल्य मानते हैं।

काशैव एवं वेदान्त की जीवन्मुक्ति से सम्बद्ध उपर्युक्त साम्य-वैषम्य की पृष्ठभूमि का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि द्वितीय मत के अनुसार जीव स्वरूपतः निष्क्रिय है एवं उसका क्रियादि-व्यवहार मिथ्या अभिमान है। किन्तु प्रथम मत के अनुसार जीव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है[१५४] एवं तदनुसार उसका क्रियादि व्यवहार सम्पूर्णतः मिथ्या नहीं है। जीव के स्वरूप एवं स्वभाव का यह मूलभूत भेद दोनों मतों के पूर्ण मोक्ष के स्वरूप को भी प्रभावित करता है। वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त पुरुष देहपात के बाद जब पूर्ण मुक्ति प्राप्त करता है तब उसे अपना परमार्थ स्वरूप कूटस्थ एवं शान्त रूप में अनुभूत होता है। किन्तु काशैव पूर्ण मोक्ष में भी विमर्श को स्वीकृति देता है क्योंकि प्रकाश से अभिन्न सविमर्शता अथवा पूर्ण स्वातन्त्र्य ही जीव का परमार्थ स्वरूप है। इस मत में विमर्श से रहित संवित् संवित् ही नहीं होती।[१५५] इस दृष्टि से वेदान्त का निर्विमर्श आत्मा जड़ है। अतः वेदान्त में जिसे पूर्ण मोक्ष कहा जाता है वह न्याय-वैशेषिक की पाषाण मुक्ति से विशेष भिन्नता नहीं रखता।

अद्वैत वेदान्त एवं काशैव के मुक्ति-सम्बन्धी विचारों के पूर्वकृत विवेचन से

---

१४९. वही. १. १, ४.

१५०. 'वेसा', २२६.

१५१. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥ 'पसा', ६०.

१५२ 'पसावि', ६१.

१५३. 'ब्रसूशांभा', १. १. ४.

१५४ तथापि तद्वत पंचकृत्यानि करोति। 'प्रहृसू', १०.

१५५. संविच्च विमर्शशून्या संविदेव न भवति। 'शिदृवृ', २. १९.

यह स्पष्ट है कि दर्शनद्वय परमार्थदशा बन्ध या मोक्ष को स्वीकृति नहीं देते, अर्थात् वस्तुतः जीवात्मा बद्ध नहीं है अतः उसके मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में मुमुक्षु की योग्यता अथवा मोक्ष के अधिकारी के लक्षण का विवेचन भी दोनों दर्शनों में व्यवहार-स्तर पर ही महत्त्व रखता है।

गुरु-महत्त्व

वेदान्त मत में मुक्ति का प्रधान साधन ज्ञान है किन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी इसकी सुदृढ़ भूमिका तैयार करते हैं। ये आत्मज्ञान में अत्यन्त सहायक हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन तथा ज्ञान से मुक्ति का विवेचन आगे किया जायेगा। इस दर्शन में श्रवण को मोक्ष का एक उपाय मानकर सद्गुरु और वेदादि शास्त्रों को एक स्तर पर महत्त्व दिया गया है। सद्गुरु से ब्रह्मोपदेश सुनना तथा वेदादि शास्त्रों का अध्ययनादि करना, मोक्ष प्राप्ति के जिज्ञासु के लिए अत्यावश्यक बताया गया है।

जहाँ तक गुरु की महत्ता का प्रश्न है, इस मत के अनुसार मुमुक्षु जब तप्त लोह पिण्ड की भाँति ज्ञान का जिज्ञासु बनकर गुरु के पास जाता है तब वे उसे आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं। इस मान्यता में एक बात स्पष्ट है कि मुमुक्षु की जिज्ञासा, योग्यता, ब्रह्मोपदेश-श्रवण की पात्रता तथा श्रुत-उपदेश के मननादि पर यह दर्शन अधिक बल देता है, गुरु पर कम, अर्थात् इस दृष्टि में गुरु का उतना महत्त्व नहीं जितना मुमुक्षु की योग्यता तथा ब्रह्मोपदेश का है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसमें गुरु का स्थान नगण्य है, महत्त्वहीन है। इसका आशय केवल यही है कि मुमुक्षु की योग्यता तथा उपदेश के महत्त्व को प्राधान्य देकर गुरु की महत्ता को अपेक्षाकृत गौण बना दिया गया है। इस मत में ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि इसमें ज्ञान से मोक्ष माना गया है, प्रत्यभिज्ञान से नहीं।

काशैद की दृष्टि किंचित् भिन्न है। इस दर्शन में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरु को साक्षात् शिव ही माना गया है। शिव और गुरु में किसी भी प्रकार की भेद-दृष्टि मुमुक्षु को उसके पथ से भ्रष्ट कर सकती है। काशैद के ऐसे विचारों का कारण यह है कि इसमें गुरु की कृपा, उपदेशादि में परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति का प्रभाव रहता है।

संक्षेप में, काशैद के दृष्टिकोण में गुरु की महत्ता वेदान्ती दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक है। वेदान्त में गुरु मोक्षोपायों में से एक उपाय-श्रवण का साधन मात्र है किन्तु काशैद में वह स्वयं परमेश्वर की साक्षात् अनुग्रह शक्ति के रूप में एक उपाय ही है।

श्रवणादि उपाय एवं अधिकारी

वेदान्त की प्राचीन विचारधारा में वेद-शास्त्रादि के श्रवण उपाय का संकोच कर दिया गया है। इस विचारधारा के अनुसार वेदादि के श्रवण एवं अध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्गों को ही है। निम्न एवं चतुर्थ वर्ण इसका अधिकारी नहीं। किन्तु परवर्ती वेदान्त-दृष्टि ने स्वयं इस विधान की दुर्बलता को समझा। उसने इस विधान में परिष्कार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि ब्रह्मोपदेश-श्रवण के लिए तथा शास्त्रादि के अध्ययन के लिए किसी भी प्रकार के वर्ण-भेद एवं लिंग-भेद का आधार अनुचित है क्योंकि यह भेद-दृष्टि अथवा द्वैत-दृष्टि है जबकि वेदान्त की मूलदृष्टि अद्वैत की है। वर्णभेद को मानने के कारण न केवल 'ज्ञान मात्र से मोक्ष मिलता है' इस सिद्धान्त में दूषण आएगा अपितु अद्वैतवाद से मूलाधार की भी हानि होगी। अतः परवर्ती दार्शनिकों ने मुमुक्षु की योग्यता का वर्णादि के आधार पर व्याख्यान करना छोड़ दिया। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि जिस किसी व्यक्ति में वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया है वह तत्सम्बन्धी उपायों का व्यवहार करते हुए मोक्ष पाने का पूर्ण अधिकारी है, चाहे वह किसी भी लिंग का हो, किसी भी अवस्था का हो अथवा किसी भी वर्ण का हो। ब्राह्मण होते हुए भी यदि उसमें वैराग्यभाव वा सन्यास भाव नहीं है तो वह शूद्र के समान है, पशुतुल्य है और मोक्ष का अधिकारी नहीं। किन्तु दूसरी ओर यदि शूद्र भी अपने हृदय में वैराग्य की अनुभूति करता है, उसमें वैराग्यभाव जाग्रत हो जाता है तो वह वेदादि का श्रवण कर सकता है तथा उसके फल मोक्ष को पाने का अधिकारी है।[१५६]

परवर्ती वेदान्त की उपर्युक्त धारणा काशैद की मान्यता से भिन्न नहीं। काशैद के दार्शनिक भी अपनी अद्वयदृष्टि में वर्णादि के भेद को कोई स्थान नहीं देते। वे स्पष्ट और अत्यन्त गौरव के साथ उद्घोषित करते हैं कि हमारे मत में स्वात्मप्रत्यभिज्ञान में अधिकारी का कोई नियम नहीं है। इस मत में ब्रह्मा से लेकर कृमि तक सभी मोक्ष के अधिकारी हैं।[१५७]

योगराज के शब्दों में मुक्ति के अधिकारी वे सभी हैं जो जन्म-मरणादि दोषों

---

१५६. ……परमार्थविचारे तु वेदान्तेष्वपि वैराग्ययुक्तस्यैवाधिकारित्वम्। तद्रहितो हि ब्राह्मणोऽपि श्राम्यमाणः पशुतुल्य एव, तत्सहितस्तु शूद्रादिरपि यथा तथा तच्छ्रवणफलभागी दृश्यत…। 'भा', १ १.१. सर्वेषां चाधिकारो विद्यायाम्……। 'तैउभा', १. ११.

१५७. अहो महान्निद कर्म देव त्वद्भावनात्मकम्।
आब्रह्मकृमि यस्मिन्नो मुक्तयेधिक्रियेत कः॥ उद्धृत 'भा०', १. १. १.

से दुःखी हैं, चाहे वे पशु-पक्षी ही क्यों न हों। ये सभी आत्म-महेश्वर का प्रत्यभिज्ञान करके तन्मय हो जाते हैं।[१५८]

वेदान्त एवं काशैद मतों में मुमुक्षु के लिए वर्णादि के भेद का निषेध किया गया है। काशैद के दार्शनिकों ने भी इस बिन्दु पर वेदान्त से अपने मत में समता मानी है। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि साम्य की विशदता में भी एक महत्त्वपूर्ण भेद सन्निहित है जो इनकी विचारधाराओं के वैलक्षण्य का प्रतीक है। परवर्ती वेदान्त दृष्टि ने वर्णगत भेद का निषेध तो कर दिया तथा वर्ण, लिंग एवं अवस्था के आधार पर मुमुक्षु की योग्यता को परखने की कसौटी के अनौचित्य का उनका स्वीकार भी उचित ही है। काशैद इस बिन्दु पर उससे पूर्णतया सहमत हैं। तथापि दोनों मतों में सूक्ष्म वैषम्य भी है। काशैद में न केवल शूद्रादि मनुष्यों को अपितु पशु-पक्षी को भी मोक्ष का अधिकारी मान लिया गया है, यदि उनमें वैराग्य-भाव जाग्रत हो गया हो। यही नहीं, जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से कहा गया है कि यह मत जड़ एवं चेतन में भेद नहीं मानता अर्थात् इस मत में जड़ वस्तु असत् है, पाषाणादि भी चेतन ही हैं। ऐसी स्थिति में इसके लिए मोक्षाधिकारी के रूप में न केवल पशु-पक्षी अपितु जड़-चेतन का विभाग भी सम्भव नहीं—अब यह बात सर्वथा भिन्न है कि वृक्षादि अपने पारतन्त्र्य के कारण तथा परमेश्वर का अनुग्रह न होने के कारण स्वात्म-प्रत्यभिज्ञान नहीं कर पाते। परन्तु वस्तुतः इस दृष्टि का यही आग्रह है कि यदि परमेश्वर अनुग्रह करे तो वे भी मुक्त हो सकते हैं। ऐसी मान्यता का कारण इस दृष्टि की समन्वय-भावना है।[१५९] सोमानन्द ने बड़े ही विस्तार से और युक्तिपूर्वक सर्वशिवता के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि यह मत बन्ध के कारण अज्ञान, मल, कंचुक सभी को जब शिव की इच्छा से उद्भूत मानता है तब वृक्षादि भी शिव की ही इच्छा से तत्तत् रूप में विद्यमान हैं तथा उन्हें उनके परमार्थ रूप का अनुभव कराना भी शिवेच्छा पर निर्भर है। इसी कारण काशैद की इस मान्यता को निश्चय ही अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से अधिक व्यापक माना जायेगा क्योंकि इसमें सर्वसमन्वय की उदात्त भावना सन्निहित है। इसके साथ ही उक्त विवेचन से यह भी सिद्ध है कि काशैद अद्वैत वेदान्त का विरोधी दर्शन नहीं। जिस तरह परवर्ती वेदान्त दर्शन पूर्ववर्ती वेदान्त के मतों में परिष्कार करने का प्रयत्न करता

१५८. अत्र स्वात्मज्ञाने न अधिकारीनियमः, यतो ये केचन जन्ममरणादिदोषाघ्राताः तिर्यञ्चोऽपि वा ते सर्वे स्वात्ममहेश्वरप्रत्यभिज्ञानात् तन्मया भवन्ति। 'पसावि', ८२.

१५९. विस्तारार्थ द्र०—'शिदृ', आह्निक ५.

है उसी प्रकार काशैद ने अद्वैत वेदान्त के अद्वयवादविरोधी या उसमें बाधक मान्यताओं का परिष्कार करने का प्रयत्न किया है।

वेदान्त दर्शन में अधिकारी का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण[१६०] विधिपूर्वक वेद-वेदांगों का अध्ययन तथा उनके अर्थ की सम्यक् अधिगति माना गया है। किन्तु काशैद के दार्शनिक इस प्रसंग को दो दृष्टियों से देखते हैं। एक दृष्टि काशैद के मतों का अध्ययन करने एवं उनकी दार्शनिक गहनता को समझने की है तथा दूसरी इसके सिद्धान्तों या उपदेशों को जीवन में उतारने तथा स्वात्मप्रत्यभिज्ञान रूप लक्ष्य प्राप्त करने की है।[१६१] पहली दृष्टि इस दर्शन के अध्येता अधिकारी की योग्यता की ओर संकेत करती है जबकि दूसरी दृष्टि इस मत में मोक्ष के अधिकारी की योग्यता बताती है और वह योग्यता और कुछ नहीं नकारात्मक दृष्टि से केवल यह है कि स्वात्म प्रत्यभिज्ञान के लिए वेदादि का अध्ययन आवश्यक नहीं। दूसरी ओर अध्येता अधिकारी की दृष्टि से देखें तो उसके लिए न केवल शैवशास्त्र और आगमादि के अध्ययन की पूर्वयोग्यता आवश्यक है अपितु वेद, वेदांग, षड्दर्शन, शब्दशास्त्र आदि सभी का पूर्वज्ञान आवश्यक है। इन सबके मतों का सम्यक् ज्ञाता ही इस दर्शन के अध्ययन का अधिकारी है।[१६२]

काशैद की उक्त मान्यताएँ एक ओर मुक्ति के जिज्ञासु के लिए इसको अति सरल दर्शन सिद्ध करती है और सद्यःमुक्ति दिलाती है तो दूसरी ओर इसके सिद्धान्तों को हृदयंगम करने का मार्ग असिधारा के समान अतिजटिल और गहन बनाती हैं। इस दर्शन के अध्ययन से पूर्व वेदादि एवं अन्य दर्शन मतों के पूर्व ज्ञान की आवश्यकता पर बल देना इसकी समन्वय दृष्टि का प्रबल प्रमाण है।

सन्यास-निष्ठा

वेदान्त दर्शन में ज्ञान से मुक्ति मानी गई है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर मुमुक्षु की योग्यता में सर्वाधिक बल उसकी सन्यास-निष्ठा पर दिया गया है। शंकर सन्यास में ही ब्रह्मविद्या का पर्यवसान मानते हैं। उनके अनुसार इतना ही उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है, यही परमनिष्ठा है और यही पुरुषार्थ का लक्ष्य है।[१६३] वे कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानमात्र में सभी आश्रम वालों का अधिकार है। तथापि ब्रह्मविद्या सन्यासगत होने पर ही मोक्ष का साधन होती है ....।[१६४] अतः

१६०. द्र०–'वेसा', ६.
१६१. द्र०–Pandey, *Abhi*, p. 297.
१६२. वही, पृ० २६७-८.
१६३. 'ब्रउभा', ४. ५. १५.
१६४. 'मुउभा', १. १.

मुमुक्षु की योग्यता है सर्वकर्मसन्यास। सर्वकर्म सन्यास पूर्वक जो ज्ञाननिष्ठा की जाती है उसी से मुक्ति होती है।[१६५] इस कर्म सन्यास के दो पक्ष हैं—कर्म करते हुए भी कर्म न करना तथा कर्म न करते हुए भी सब कर्म में प्रवृत्त करना।

सन्यास या वैराग्यभाव के प्रति काशैद का दृष्टिकोण वेदान्त से भिन्न है। इस मत में वैराग्यभाव को उतना महत्त्व नहीं दिया गया है जितना कि वेदान्त में। साथ ही इसमें वैराग्य का स्वरूप भी भिन्न है। तदनुसार वैराग्य का महत्त्व मुमुक्षु को गुरु तक पहुँचाने एवं उसके उपदेशों को ग्रहण करने की योग्यता तक है। **परमार्थसार** में कहा गया है जिसमें वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया हो, जिसका हृदय परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति से बिद्ध हो गया हो, जो उपदेश प्राप्त करने के लिए सर्वथा योग्य बनकर परमेश्वराकार योग्य गुरु के समीप उनसे परमाद्वय ज्ञान को सुनने की उत्कट अभिलाषा रखता हो, वही गुरु के उपदेश प्राप्त करने की योग्यता रखता है तथा उसी को गुरु अद्वयज्ञान का उपदेश देते हैं।[१६६] इससे स्पष्ट भासित होता है कि इस मत में वैराग्यभाव, सद्गुरु के उपदेश-श्रवण की अन्य योग्यताओं में एक, किन्तु प्रथम, योग्यता है।

जहाँ तक वेदान्त के सर्वकर्मसन्यास का प्रश्न है, काशैद इससे भी अपना मत वैभिन्य रखता है। दर्शनद्वय में सन्यास का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। काशैद में वेदान्त की तरह वैराग्य का लक्षण सर्वकर्मसन्यास नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि वेदान्त में जगत् भ्रान्ति है, मिथ्या है, अनित्य है और ब्रह्म निष्क्रिय तथा शुद्ध ज्ञानमात्र है। अतः चिन्मात्र ब्रह्म से तादात्म्य की अनुभूति करने के लिए कर्म का, क्रिया का परित्याग आवश्यक है। इस मत में जगत् ब्रह्मरूप स्वीकार नहीं किया गया है, अतः विषयों का उपभोग करना मुक्ति में बाधक माना गया है। परन्तु काशैद में जगत् सत्य है, शिवरूप है। अतः सांसारिक विषयों को शिवरूप समझकर उनका उपभोग वर्जित नहीं। मुमुक्षु और मुक्त दोनों के लिए कर्तृत्व या कर्म करना त्याज्य नहीं अपितु इसके विपरीत कर्तृत्व को उनका स्वभाव माना गया है।[१६७]

---

१६५. शकर, 'गीताभाष्य', १८. ५५.

१६६. द्र०—'पसावि', ३.

१६७. कुन्हन राजा सन्यास के इसी पक्ष को मीमांसा एवं वेदान्त के मतों की भिन्नता का आधार मानते हैं—

The great difference between the Mimamisa view and the later phases in the interpretation of the Vedanta doctrines is not in their attitude towards under-standing as a factor in philosophy; the real difference is in respect of the need for samnyasa or renunciation for pbilosophical speculations. —Raja, C. Kunhan, *Some Fundamental Ptoblems in Indian Philosophy*, p. 250.

निष्कर्ष एवं उपसंहार

मोक्ष में विश्वास रखने वाले सभी मत यह मानते हैं कि अज्ञान बन्ध का कारण है तथा ज्ञान से मुक्ति मिलती है।[१६८] परन्तु विवादास्पद विषय है ज्ञान का स्वरूप। कतिपय दार्शनिक तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते हैं, किसी मत में प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से मुक्ति मिलती है। शांकर दर्शन में स्वरूप ज्ञान ही है तथा यही मोक्ष का प्रधान उपाय भी है। **ब्रह्मसूत्रभाष्य** में शंकर कहते हैं— ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त मोक्ष का साधनभूत ब्रह्मज्ञान अविद्या का निवर्तक होकर दृष्टफल रूप से अभीष्ट है। विद्या द्वारा अविद्या की निवृत्ति करके जीव परम अनन्त प्राज्ञ आत्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है।[१६९] **बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य** में वे कहते हैं कि ज्ञान, मोक्ष के अज्ञानरूप व्यवधान की निवृत्ति करने वाला है। इसलिये उपचारार्थ कहा जाता है कि मोक्ष ज्ञान का कार्य है। तथा अविद्या का उपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा होने पर सर्वात्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है।[१७०] यही नहीं, वे मानते हैं कि श्रुति और स्मृति भी कर्मबीज के दाह में ज्ञान की ही साधनता को स्वीकार करती हैं।[१७१]

शंकर के मौलिक एवं प्रधान मत में ज्ञानेतर उपायों की कोई महत्ता नहीं किन्तु अन्य शास्त्रों एवं दर्शन सम्प्रदायों ने ज्ञानेत्तर उपायों का उल्लेख किया है तथा परम्परा भी उन्हें अनुभव सिद्ध मानती रही है, अतः समन्वय की भावना से व्यावहारिक स्तर पर अन्य उपायों को भी यथोचित स्थान दे दिया गया है। परन्तु इस प्रयत्न में उन्होंने ज्ञान से मुक्ति की अपनी मौलिक मान्यता को न बदलते हुए अन्य उपायों को उसका सहयोगी मान लिया है। ये उपाय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं, ज्ञान-प्राप्ति की प्राज्ञता उत्पन्न करते हैं एवं प्रमुखरूप से स्वात्मज्ञान के पूर्व चित्तशुद्धि करते हैं।

ज्ञान के सहायक उपायों में प्रमुख श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन हैं[१७२] इनके बाद कतिपय अन्य सहायक उपायों का उल्लेख भी किया गया है जो श्रवणादि

---

१६८. 'ब्रसूशांभा', २. १. ११.

१६९. वही, २. १. ४; ३. २. २६.

१७०. द्र०– 'बृउभा', ३. २. १३; ४. ३. २०.

१७१. 'ब्रसूशांभा', ३. ३. ३२.

१७२. द्र०–'वेसा', १८२–१९२, 'वेप', प्रयोजनपरिच्छेद ।

के भी सहायक माने जा सकते हैं—जैसे यज्ञ, शम-दमादि,[१७३] यम-नियमादि,[१७४] स्वाध्याय,[१७५] ध्यान,[१७६] उपासना आदि।[१७७]

इस मत में जब सर्वकर्मसंन्यास को मुमुक्षु की एक महत्त्वपूर्ण योग्यता माना गया है तब मोक्ष के साक्षात् उपाय में कर्म को परिगणित करना एक अन्तर्विरोध ही होता। परन्तु मोक्षोपाय में कर्म को स्थान न देने का उक्त कारण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना यह है कि इस मत में स्वयं ब्रह्म निष्क्रिय है, शान्त है, कूटस्थ है। वह कोई अप्राप्त या नूतन वस्तु नहीं जो कर्म करके प्राप्त की जा सके। कर्म में गति, गन्ता और गन्तव्य का विधान है। परन्तु मुक्ति तो स्वात्मानुभूति है जिसमें किसी गति एवं गन्ता की आवश्यकता नहीं और स्वात्म से भिन्न उसका कोई भी गन्तव्य नहीं। मोक्ष के उपायों में कर्म की गणना न करने का इस मत में एक कारण यह भी है कि इस मतानुसार कर्म और ज्ञान राई और पर्वत की तरह परस्पर भिन्न हैं।[१७८] ज्ञान क्रिया नहीं है जब कि कर्म स्पष्ट ही क्रिया है।

यहाँ शांकर मत के इस व्याख्यान में यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि कर्म, मोक्ष में साधन या उपाय नहीं है तो श्रुतियों में कर्म का जो गौरव-गान किया गया है उसका क्या औचित्य है? इस पर शंकर का समाधान है कि कर्म मुमुक्षु के चित्त को शुद्ध करते हैं, उसके मन को सुसंस्कृत बनाते हैं और सुसंस्कृत अथवा परिशुद्ध मन आत्म-ज्ञान में सहायक होता है।[१७९] उनके मत में शास्त्रों में जो कर्म का विधान किया गया है वह अज्ञ अधिकारी के लिए है। आत्मज्ञान-निष्ठा की योग्यता प्राप्ति के पूर्व अनात्मज्ञ अधिकारी पुरुष को कर्मयोग का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।[१८०] गीता के उपदेश का निष्कर्ष भी वे यही मानते हैं कि केवल तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है कर्म सहित ज्ञान से नहीं।[१८१] अतः उनके मत में ज्ञान ही प्रधान एवं साक्षात् उपाय है, कर्म नहीं।

काशैद एवं वेदान्त की दृष्टि में साम्य-वैषम्य की चर्चा पहले भी की जा चुकी है। अतः जो भेद इन दर्शनों की दृष्टि, परम्परा, पृष्ठभूमि और विचार

---

१७३. द्र०–'ब्रसूशांभा', ३. ४. २७.
१७४. द्र०–शंकर, 'गीताभाष्य', १३. ११.
१७५. द्र०—'तैउभा', १. १०.
१७६. द्र०–'गीता', मधुसूदनी व्याख्या, २. ४०.
१७७ द्र० 'छाउभा', १. १. १.
१७८. शंकर, 'गीताभाष्य', १८. ५५.
१७९. द्र०–'केउभा', १. १; तैउभा' १. ११; 'बृहभा' ४. ४. २२; 'गीताभाष्य' भूमिका; ब्रसूशांभा
१८० शंकर, 'गीताभाष्य', ३. १६.
१८१. वही, २. ११.

धारा में है वही भेद विविध पक्षों पर इनकी मान्यताओं में है। वेदान्त दर्शन वैदिक धारा से सम्बद्ध है तथा काशैद आगमिक परम्पराओं से जुड़ा है। फलतः इनके मुक्ति-सम्बन्धी विचार भी इन्हीं दो धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये विचार-धाराएं परस्पर सर्वथा विरोधी नहीं हैं अपितु एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के दो पथ हैं। इन विचार पथों में शांकर वेदान्त और काशैद ने और अधिक समीपता तथा समता स्थापित कर दी जिसके दो कारण हैं—पहला यह कि इनका लगभग समान परिस्थितियों में और लगभग समानान्तर आरम्भ हुआ तथा दूसरा यह कि दोनों ही मत अद्वैतवादी हैं।

इस समस्त साम्य-वैषम्य का प्रभाव इनके द्वारा मान्य मुक्ति के स्वरूप और उपायों पर भी पड़ा। शांकर मत से पूर्व मुक्ति के उपायों के रूप में शास्त्र-अभ्यास, यज्ञादि, जपध्यानादि, भक्ति और योगाभ्यास के साधन प्रचलित थे और प्रत्येक मत अपनी एक-एक विशिष्ट पद्धति को ही मुक्ति में एक मात्र कारण मानने का आग्रह रखता था। उदाहरण के लिए मीमांसा दर्शन यज्ञकर्मादि को तथा योग दर्शन यमादि को ही मुक्ति के उपाय मानते थे। धार्मिक मत जप ध्यानादि के विविध प्रकार तथा भक्ति के लिए विविध आराध्य देवों की बात करते थे। दूसरी ओर तार्किक न्यायादि एवं बौद्धमत थे जो किसी न किसी प्रकार के ज्ञान द्वारा दुःखों से छुटकारे और निर्वाण की बात कहते थे। मुक्ति का सरल जिज्ञासु इन विविध उपायों की अधिकता से भ्रमित हो रहा था। अतः शंकर ने अपने अद्वैतवाद के मूल मन्तव्य की रक्षा करते हुए तदनुकूल ऐसा समन्वय का मार्ग निकाला जिसमें अन्य पद्धतियों का समावेश भी था तथा मुमुक्षु को भ्रम एवं मिथ्या ऊहापोहों से बचाने के लिये स्पष्ट दिशा-निर्देश भी। उन्होंने अपनी इस दृष्टि से शास्त्र, यौगिक-क्रियाएँ, उपासना, एवं कर्मादि को एक स्तर पर स्थान दिया तथा स्पष्ट कहा कि ये मोक्ष में साक्षात् उपाय नहीं हैं अपितु मोक्ष के साक्षात् ज्ञान को प्राप्त करने में आवश्यक चित्तशुद्धि के हेतुमात्र हैं। परन्तु इस व्यवस्था में मुमुक्षु को भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि मुक्ति में प्रधान एवं साक्षात् उपाय ज्ञान ही है।

जहाँ तक काशैद का सम्बन्ध है उसके दार्शनिकों के सामने अपेक्षाकृत गुरुतर भार था। इसके दार्शनिकों को न केवल शंकर से पूर्व प्रचलित विविध पद्धतियों या उपायों का समन्वय करना था अपितु अभिनवगुप्त जैसे दार्शनिक (जो शंकर के बाद में हुए) को तो शांकर पद्धति का भी समन्वय करना था। इसके साथ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि विविध वैदिक मतों द्वारा प्रदर्शित उपायों के अतिरिक्त उन्हें आगम एवं तन्त्रों में बताये गये उपायों से भी समन्वय करने की आवश्यकता थी और इन सबसे ऊपर इस दर्शन के अद्वयवाद के अनुकूल मौलिक

उपाय भी बताकर अपने दर्शन की कुछ विलक्षणता प्रकट करना थी। इन जटिल परिस्थितियों में इस दर्शन के दार्शनिकों ने जिन पूर्वोक्त उपायों को प्रस्तुत किया तथा उनकी जिस ढंग से विवेचना की उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपने समन्वय के उद्देश्य में सफल रहा है।

प्रसंगानुसार प्रमुख रूप से शांकर मत द्वारा प्रस्तुत उपायों के समक्ष काशैद के उपायों को देखा जाए तो इस दर्शन की समन्वय-भावना का फल स्पष्ट हो जायेगा। उपायों के विषय में शंकर की मान्यता सरल, स्पष्ट और संक्षिप्त है और वह यही कि ज्ञान ही एक मात्र मोक्षोपाय है। परन्तु काशैद ने उपायों के विभाजन में सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है।

इस मत में ज्ञान के दो प्रकार माने गये हैं—बौद्धज्ञान एवं पौरुषज्ञान।[१८२] इन्हें क्रमशः बौद्ध एवं पौरुष अज्ञान की निवृत्ति करने वाला भी माना जा सकता है। जिस व्यक्ति ने पौरुष अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति करके आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करली है उसके ज्ञान को पौरुष ज्ञान कहा जाता है। यह भाषा आदि के संकोचों से परे है और इसकी केवल अनुभूति ही की जा सकती है। दूसरी ओर बौद्धज्ञान में मुमुक्षु इस-उस के भेद से परे उठ जाता है और उन्हें केवल एक या पूर्ण रूप में देखता है जो एक रूप भी स्वयं उसी का आभास है। पौरुष ज्ञान दीक्षा से प्राप्त होता है।[१८३] तथा बौद्ध ज्ञान अद्वैत दर्शन के अध्ययन से।[१८४] केवल बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति मात्र से मुक्ति नहीं मिलती क्योंकि तब केवल बौद्ध ज्ञान ही उदित होगा। अथवा कहा जा सकता है कि बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान मात्र की निवृत्ति होती है।[१८५] यही जीवन मुक्ति है।[१८६] बौद्ध ज्ञान के बाद पौरुष ज्ञान उदित होता है। अतः इनमें परस्पर कार्यकारणभाव माना जा सकता है।[१८७] दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो दीक्षा से पूर्व बौद्ध ज्ञान आवश्यक

---

१८२. क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरस्थितेः।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम्॥
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावसा।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्राग्वत्पौष्यं च पोष्टृ च॥ 'तंत्रा', १. ४२,
और भी द्र०—वही, १. ३६.

१८३. द्र०—'तंत्रावि', १. २४.

१८४. बौद्धज्ञानेन—इति परमेश्वराद्वयशास्त्रश्रवणाद्युद्भूतेन। वही, १. ४४.

१८५. न हि बौद्धाज्ञानमात्रनिवृत्तौ मोक्षो भवेत् यत्तस्मिन्निवृत्ते बौद्धमेव ज्ञानमुदेति···। वही, १. २४.

१८६. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता॥ 'तंत्रा', १. ४४.

१८७. द्र०—वही, १. ४०.

है जब बौद्ध विज्ञानपूर्वक दीक्षा होती है, तभी मोक्ष होता है। अतः बौद्धज्ञान की प्रधानता मानना ही स्वाभाविक व उचित है।

इस प्रकार काशैद में मुक्ति की पूर्णता और नित्यता की रक्षार्थ ज्ञान के द्विविध विभाग किये गये हैं। ये विभाग एक दृष्टि से परस्पर पूरक भी कहे जा सकते हैं क्योंकि पौरुष मल के धुल जाने पर भी यदि बुद्धिगत संशय-विपर्यय अर्थात् बौद्ध अज्ञान बना रहा तो उसमें पौरुषमल के पुनः अंकुरित होने का भय बना रहता है तथा दूसरी ओर बौद्ध ज्ञान से रहित साधक को अपने पौरुष ज्ञान की यथार्थता पर पूर्ण विश्वास नहीं होता। अतः मुमुक्षु अपने साक्षात्कारात्मक ज्ञान के वास्तविक आशय एवं स्वरूप को यथार्थ बौद्ध ज्ञान द्वारा ही समझ सकता है। बौद्ध ज्ञान के अभाव में संशय बने रहने की सम्भावना रहती है। अतः पौरुष एवं बौद्ध दोनों ही प्रकार के ज्ञान की नित्य एवं पूर्णमुक्ति में परमावश्यकता है। दूसरे शब्दों में अद्वयशास्त्रों का ज्ञान तथा तदनुसार सर्वोच्च आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का अभ्यास दोनों आवश्यक हैं। इनमें से किसी एक के द्वारा नित्य व पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं। ज्ञान के इस विभाजन को वेदान्त-विचारधारा के परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान के समकक्ष रखा जा सकता है।[१८८] किन्तु परोक्ष-अपरोक्ष ज्ञान के विभाजन का आधार तत्त्व-दृष्टि है जबकि बौद्ध एवं पौरुष-ज्ञान के विभाजन का आधार समन्वय-दृष्टि है।

शंकर ने मुक्ति के प्रसंग में क्रम को स्थान नहीं दिया है। किन्तु काशैद ने उपायों की क्रमिकता बताने में कोई सैद्धान्तिक अनौचित्य नहीं देखा। इस मत के अनुसार पूर्वोक्त चार उपायों में से प्रत्येक साक्षात् उपाय नहीं है। अनुपाय ही साक्षात् उपाय कहा जा सकता है। इन क्रमिक उपायों का सम्बन्ध परम शिव की अभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति के क्रमिक विस्फार आनन्द आदि शक्तियों से है। अनुपाय आनन्द शक्ति से, शाम्भवोपाय इच्छाशक्ति से, शाक्तोपाय ज्ञानशक्ति से तथा आणवोपाय क्रियाशक्ति से सम्बद्ध है। जिस प्रकार आभासन के समय ये शक्तियाँ पूर्वापर क्रम से विस्फारित होती हैं उसी प्रकार लय के प्रसंग में ये विपरीत क्रम में समाविष्ट होती हैं और यह समावेश ही इस दर्शन का मोक्ष है।[१८९]

शंकर द्वारा कर्मादि का निषेध इस दर्शन में स्वीकार्य नहीं क्योंकि इस मत में कर्म करने की क्रियाशक्ति स्वयं शिव की ही एक शक्ति है और इसलिए क्रियोपाय द्वारा उसमें समाविष्ट होना भी एक उपाय ही है।

---

१८८. द्र०—Hiriyanna, Popular Essays in Indian Philosophy, p. 15.

१८९. चतुःशतक', २४४

काशैद, बौद्ध एवं वेदान्त तीनों ही दर्शन किसी न किसी रूप में अन्य बन्ध-मोक्ष की चर्चा को व्यावहारिक मानते हैं। तीनों ही दर्शनों में बन्ध के कारण अज्ञान की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। तीनों ही दर्शन किसी न किसी रूप में योगादि साधनों को मोक्ष के उपायों में स्थान देते हैं। बौद्ध दर्शन आत्मा एवं उसकी नित्यता का विरोधी है। फलतः उसके निर्वाण में नित्य आत्मा को मानना बाधक है। किन्तु वेदान्त एवं काशैद के मुक्ति विचार में आत्मा एवं उसकी नित्यता को न मानना बन्ध होगा। पुनः वेदान्त में नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्मा को कर्ता मानना एवं माया को उसकी वास्तविक शक्ति मानना बन्ध है, अज्ञान है जबकि काशैद में आत्मा को कर्तृत्वादि से नित्य सम्पन्न न मानना तथा माया को ब्रह्म या शिव की नित्य अविच्छिन्न शक्ति न मानना बन्ध है।

नैरात्म्य दृष्टि से आत्म-दृष्टि विशिष्ट होती है। इस नीति के अनुसार नैरात्म्यवादी बौद्ध की अपेक्षा सांख्य श्रेष्ठ है। क्योंकि वह पुरुष के रूप में नित्य आत्मा को स्वीकार करता है। सांख्य की अपेक्षा योग दर्शन उत्तर है क्योंकि वह ईश्वर को भी मान्यता देता है।[१६०] वेदान्त में शुद्ध चित् तत्त्व को ही परम तत्त्व माना गया है। अतः यह मत ईश्वर से उपरि स्तर का है। ये सभी दर्शन काशैद द्वारा मान्य ३६ तत्त्वों में से क्रमशः बुद्धि, पुरुष, ईश्वर एवं सदाशिव तत्त्व तक मुमुक्षु को पहुँचाते हैं परन्तु शेष तत्त्व-भूमिकाओं में वह बद्ध ही रहता है।[१६१] फलतः काशैद के दार्शनिकों के मत में ये दर्शन पूर्ण मोक्ष के उपदेष्टा नहीं हैं।[१६२]

मोक्ष के प्रसंग में की गई अन्य दर्शनों की आलोचना को सम्पूर्ण रूप से देखने पर यह कहा जा सकता है कि इसमें अन्य दर्शनों के मोक्ष के स्वरूप का

---

१६०. नैरात्म्यदृष्टेश्चात्मदृष्टिर्विशिष्यते, इति सांख्यानां बौद्धेभ्यः पूर्णप्रथात्मकं ज्ञानम् इत्येषां बुद्धितत्त्वोर्ध्ववर्तिपुंस्तत्त्वप्राप्तिः।... एवं सांख्यपातंजलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातंजलानामीश्वर- प्रणिधानात् तद्विशिष्यते, इति तेषां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्ति नियतितत्त्वप्राप्तिरुक्ता। 'तंत्रावि', १. ३३.

१६१. ...अत एव प्राप्तायामपि वैष्णवादिदर्शनान्तरोक्तरोक्तायां मुक्तौ संसारस्य प्रक्षयो न जायते। वही, ४. ३१.
और भी द्र०—वही, १. ३४.

१६२. काशैद के दार्शनिक अन्य दर्शनों का भी स्वदृशा विभाजन करते हुए स्वयं के मत को श्रेष्ठतम घोषित करते हैं—
प्राग्वैष्णवाः सौगताश्च सिद्धान्तादिविदस्ततः।
क्रमात्त्रिकार्थविज्ञानचन्द्रोत्सुकितदृष्टयः ॥ 'तंत्रा', १३. ३४८,
वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥ उद्धृत,—तंत्रावि', १. १८.

निषेध अथवा उनका सम्पूर्णतः खण्डन नहीं किया गया है अपितु युक्तिपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि तत्तत् दर्शन द्वारा प्रदर्शित मोक्ष पूर्ण मोक्ष न होकर तत्त्व ज्ञान के क्रम में एक निश्चित स्तर तक पहुँचना मात्र है। ये विविध दर्शन विविध तत्त्वों के साक्षात्कार तक पहुँचने में निश्चित रूप से सहायक हैं किन्तु इनके उन स्तरों को पूर्ण मोक्ष मान लेना भ्रम है। इसके दार्शनिकों का यह बड़ा रोचक समाधान है कि अन्य दर्शन तत्तत् तत्त्वों को ही पूर्ण मोक्ष इसलिए मानते हैं कि इन दर्शनों के दार्शनिकों एवं मतानुयायियों को परम शिव अपनी इच्छा से मोक्ष-लिप्सा में उसी रूप में भ्रमित करना चाहता है।[१६३] अतः वेद सांख्य, पुराणादि शास्त्रों को जानने वाले, पांचरात्रपरायण, बौद्ध-आर्हत अथवा अन्य किन्हीं भी शास्त्रों के मत माया-पाश से बद्ध माने गये हैं तथा शैवों के पूर्णमोक्ष को प्राप्त करने में उनको असमर्थ माना गया है।[१६४]

वेदान्त से काशैद का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें मुक्ति के उपायों में अनुग्रह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।[१६५] यद्यपि बौद्ध दर्शन में बुद्ध में श्रद्धा भक्ति रखने से मुक्ति मिलती है ऐसे कथन कहीं-कहीं मिल जाते हैं।[१६६] परन्तु फिर भी उन कथनों पर धार्मिक मान्यता का ही प्रभाव अधिक है। वे कथन बौद्ध मत की दार्शनिक मान्यताओं के अनुकूल नहीं है। शांकर मत में भक्ति गौण रूप में विद्यमान है। उसमें ब्रह्म के अनुग्रहकर्त्ता न होने से अनुग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता। मोक्षोपाय के अन्तर्गत इस दर्शन ने शाक्तोपाय (ज्ञानोपाय) में अवश्य ही वेदान्त के ज्ञान से मुक्ति को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। वर्ण, जाति आदि के भेद

---

१६३. ...वैष्णवाद्यान्प्रवादिनः।
सर्वान् भ्रमयते माया सा मोक्षे मोक्षलिप्सया।। 'तंत्रा', ४. ३८.
और भी द्र०—वही, ४. ३३.

१६४. वेदसांख्यपुराणज्ञाः पांचरात्रपरायणाः।
ये केचिदृषयो धीराः शास्त्रान्तरपरायणाः।।
बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते विद्यारागेणरंजिताः।
मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षा न विन्दते।। वही, ४. २७,
तेनेह वैष्णवादीनां नाधिकारः कथंचन।
ते हि भेदैकवृत्तित्वादभेदे दूरवर्जिताः।। वही, १३. २८०–१,
वैष्णवा सौगता श्रौतास्तथा श्रुत्यन्तवादिनः।
इत्यादयो नाधिकृता जातुचित्पतिशासने।। उद्धृत - 'तंत्राvि', १३. ३१५–६.
और भी द्र०—वही, १३. २७९.

१६५. परमेश्वरानुग्रहोपाय एव स्वात्मज्ञानलाभः। 'पसावि', ९६

१६६. द्र०—ललितविस्तर सूत्र, 'सौसिसासं', पृ० २२.

को न मानना, सरलतम उपाय के रूप में अनुपाय को प्रस्तुत करना तथा स्वात्म-मुक्ति के उपरान्त अन्य बद्ध पुरुषों को मुक्ति करने के विधान[१६७] पर महायान बौद्ध मत का प्रभाव देखा जा सकता है। अतः शिव के अनुग्रह के द्वारा ब्रह्मा से कृमि पर्यन्त सभी को मुक्ति दिलाने वाला यह तन्त्र-दर्शन अपने आप में समन्वय का विशिष्ट उदाहरण है।

उपसंहार रूप में कहा जा सकता है कि काश्मीर शैव-दृष्टि भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की चिरप्राचीनता एवं नितनवीनता का एक साथ प्रतिनिधित्व करती है। यह दृष्टि वैसा दर्शन नहीं है जो मात्र बौद्धिक, शाब्दिक एवं तार्किक विलास-क्रीड़ा की सीमा में रहकर मानव को आनन्द प्राप्त कराने का दम भरे। यह वस्तुतः ऐसा जीवन-दर्शन है जिसमें जीवन की कसौटी ज्ञान एवं क्रिया की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसमें पूर्ण स्वातन्त्र्य को मानव का स्वाभाविक सत्य माना गया है। इसमें पलायन, निराशा, दुःख, नकारात्मक दृष्टिकोण, नीरसता, संकुचितता एवं अपूर्णता का सर्वथा अभाव है। अत्यन्त व्यावहारिक एवं साथ ही आदर्शात्मक यह दर्शन मानव को उसकी कुण्ठाओं से मुक्ति दिलाने में पूर्ण समर्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके साथ प्रदेश विशेष का नाम जुड़ जाने के कारण और वेदान्त के बहुत प्रचार-प्रसार के कारण इसे विद्वानों की उपेक्षा का शिकार बनना पड़ा है। परन्तु अब समय आ गया है जब इस दर्शन की पूर्णता एवं व्यापकता के वर्चस्व को सम्यक् रूप से प्रकाश में लाया जाये। एक ही प्रदेश में और वह भी कम समय में लिखा गया इसका प्रकाशित-अप्रकाशित साहित्य भारतीय चिंतन में पूर्णता को ढूँढने वाले जिज्ञासुओं की अभी बाट जोह रहा है।

---

१६७. ...असौ स्वयं मुक्तः सन् परानपि मोचयेत्। 'तंत्रावि, १३. १८५.

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(क) संस्कृत ग्रन्थ

अजडप्रमातृसिद्धिः, उत्पलाचार्य, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत-ग्रन्थावली, ३४, श्रीनगर, १९२१.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, उत्पलाचार्य, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ३४, श्रीनगर, १९२१.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग १-२, अभिनवगुप्त, सं० अय्यर एवं पाण्डेय, सरस्वती भवन, इलाहाबाद, १९३८, ५०.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १-३, अभिनवगुप्त, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३८, ४१, ४३.

ईश्वरसिद्धिः, उत्पलाचार्य, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ३४, श्रीनगर, १९२१.

कठोपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

केनोपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

तर्कभाषा, केशव मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६३.

तत्त्वसंग्रहः, भाग १-२, शान्तरक्षित, सं० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९६८.

तन्त्रसारः, अभिनवगुप्त, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, बम्बई, १९१८.

तन्त्रालोकः, भाग १-११, अभिनवगुप्त, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८, १९२१, १९२१, १९२२, १९२२, १९२१, १९२४, १९२६, १९३८, १९३३, १९३६, १९३८.

तन्त्रालोकविवृतिः, भाग १-११, जयरथ, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८-३८.

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

त्रिंशिकाप्रकरणम्, वसुबन्धु, सं० महेश तिवारी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७.

न्यायकोशः, भीमाचार्य, भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान, पूना, १९२८.

न्यायबिन्दुः, धर्मकीर्ति, सं० चन्द्रशेखर शास्त्री, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९५४.

न्यायदर्शनम, गंगानाथ झा, सं० ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९२५.

परमार्थसारः, अभिनवगुप्त, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ७, श्रीनगर, १९१६.

परमार्थसारविवृतिः, योगराज, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ७, श्रीनगर, १९१६.

पराप्रवेशिका, क्षेमराज, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली.

परात्रिशिकातात्पर्यदीपिका, सोमानन्द, सं० जे. डी. जाडू, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, शोध विभाग, श्रीनगर, १९४७.

परात्रिशिकालघुवृत्तिः, अभिनवगुप्त, सं० जे०. डी. जाडू, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, शोध विभाग श्रीनगर, १९४७.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर १९११.

प्रत्यभिज्ञ हृदयम्, क्षेमराज, अंग्रेजी अनुवाद, जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, हिन्दी अनुवाद, विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६९.

प्रमाणवार्तिकम्, धर्मकीर्ति, सं० द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८.

प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

ब्रह्मसूत्रम्, बादरायण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४८.

ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, भाग १-२, शंकर, व्या० हनुमानदास षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४, ६७.

बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर.

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

बोधपंचदशिका, सं० जगधर, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४७.

भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर.

भगवद्गीताभाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९८८.

भगवद्गीतासर्वतोभद्रविवरणम्, राजानक रामकण्ठ, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृतग्रन्थावली, १९४३

भामती, वाचस्पति मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७.

भास्करी, भाग १-२, भास्कर कण्ठ, सं० अय्यर एवं पाण्डेय, सरस्वती भवन, १९३८, ५०.

महार्थमंजरी, महेश्वरानन्द, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८.

माण्डूक्यकारिका, गीताप्रेस, गोरखपुर.

माण्डूक्यकारिकाभाष्यम्, शंकर, गीताप्रेस, गोरखपुर.

विंशतिकाप्रकरणम्, वसुबन्धु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७.

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, वसुबन्धु, सं० तथा अनु० महेश तिवारी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७.

विज्ञानभैरवः, क्षेमराज, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८

विज्ञानभैरवविवृत्तिः, क्षेमराज, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, १९१८.

विज्ञानभैरवोद्योतविवृतिः, शिवोपाध्याय, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८.

वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७३.

शिवदृष्टिः, सोमानन्द, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृतग्रन्थावली, १९३४.

शिवदृष्टिवृत्तिः, उत्पलाचार्य, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३४.

शिवसूत्रम्, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२५.

शिवसूत्रविमर्शिनी, क्षेमराज, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९११.

शिवाभासवादः, रामचन्द्र द्विवेदी, सारस्वती-सुषमा, वाराणसी.

शैवागमदर्शनेषु परतत्वविमर्शः, रामचन्द्र द्विवेदी, सारस्वती सुषमा, वाराणसी.

श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्यम्, गीता प्रेस, गोरखपुर.

श्रीशिवस्तोत्रावली, क्षेमराज, सं० व्या० राजानक लक्ष्मण, चौखम्बा प्रकाशन, १९६४.

सम्बन्धसिद्धिः, उत्पलाचार्य, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, ३४, श्रीनगर, १९२१.

स्पंदकारिका, वसुगुप्त, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५.

स्पंदकारिकानिर्णयः, क्षेमराज, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९२५.

स्पंदकारिकाविवृतिः, रामकण्ठ, सं० जे. सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली, श्रीनगर, १९९९.

स्पंदसंदोहः, क्षेमराज, सं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७.

स्वच्छन्दतंत्रम्, भाग १-७, क्षेमराज, सं० मधुसूदन कौल शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१, १९२३, १९२६, १९२९, १९३०, १९३३, १९३५.

सर्वदर्शनसंग्रहः, माधवाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४.

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, सं० सीताराम शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी.

सौगतसिद्धान्तसारसंग्रहः, चन्द्रधर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९५४.

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

अपूर्वानन्द, स्वामी, **आचार्य शंकर**, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर १९६९.

उपाध्याय, नागेन्द्रनाथ, **तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य,** नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९५८.

उपाध्याय, बलदेव, **बौद्ध दर्शन मीमांसा**, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५४.

उपाध्याय, बलदेव, **भारतीय दर्शन,** शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९७१.

उपाध्याय, भरतसिंह, **बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन**, भाग १-२, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, सं० २०११.

कविराज, गोपीनाथ, **तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३.

कविराज, गोपीनाथ, **भारतीय संस्कृति और साधना**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३.

जोशी. भंवर लाल, **काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी,** प्रथम संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी. १९६८.

झा, अनिरुद्ध, **तत्त्वमीमांसा की रूपरेखा,** मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९७२.

नरेन्द्रदेव, **बौद्ध धर्म दर्शन**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७१.

पाठक, रंगनाथ, **षड्दर्शन रहस्य,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८.

पाठक, सर्वानन्द, **चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा,** चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

मिश्र, उमेश, **भारतीय दर्शन**, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, तृतीय संस्करण, १९७०.

मिश्र, कैलाशपति, **काश्मीर शैव दर्शन**, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी १९८२.

यदुवंशी, **शैवमत**, प्रथम संस्करण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५५.

वियोगी हरि, **हमारी परम्परा**, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६७.

शर्मा, उमाशंकर, **सर्वदर्शनसंग्रह**, हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २९६४.

शर्मा, राममूर्ति, **अद्वैत वेदान्त**, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७२.

शास्त्री, उदयवीर, **सांख्य सिद्धांत**, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, १९७२.

शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ, **भारतीय दर्शन शास्त्र**, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५३.

शास्त्री, बलजिन्नाथ, **काश्मीर शैव दर्शन**, रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९७३.

शास्त्री, श्रीनिवास, **वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन**, कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९६८.

शुक्ल, कृष्णकान्त, **शंकर और अभिनवगुप्त के परमतत्त्व के प्रत्यय की तुलनात्मक मीमांसा**, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष १५, अंक २, अप्रैल १९६९.

श्रीवास्तव, सुरेशचन्द्र, **आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९.

सिंघवी, सुखलाल, **भारतीय तत्त्वविद्या**, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६०.

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

Bajpai, Ira, *The Philosophy of the Tantraloka in the First Three Ahnikas with Translation into English.* (Thesis) Lucknow University, Lucknow, 1971.

Banerji, S. C., *Cultural Heritage of Kashmir*, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1965.

Bapat. P. V., *2500 Years of Buddhism*, 3rd Reprint, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, New Delhi, 1971.

Barnett, L. D., *The Paramarthasara of Abhinavagupta*, Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, London, 1910, pp. 707-747.

Bhandarkar, R. G., *Vaisnavism, Saivism and Minor Religious Systems*, Indological Book House, Varanasi, 1963.

Chakravarti, C , *Tantras : Studies on Their Religion and Literature*, Calcutta, 1963.

Chatterji, J. C., *Kashmir Shaivism*, Research & Publication Department, Government of Jammu and Kashmir, Srinagar, 1962.

Cowell, E. B , and Gough, A. E., *Sarva-Darsana Sangraha* (of Madhavacharya) Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1961.

Dasgupta, S. B. *An Introduction to Tantrik Buddhism*, University of Calcutta, 1958.

Dasgupta, S. N., *History of Indian Philosophy*, Vols. II, V, Cambridge University Press, 1961-1962.

Dasgupta, S. N., *Indian Idealism*, Cambridge University Press, London, 1962.

Das, Murti and Malkani., *Ajnana*, Oriental Series, Calcutta, 1933.

Devaraja, N K., *An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1972.

Farquhar, J. N , *An Outline of the Religious Literature of India*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1967.

Gambhirananda, Swami, *Brahmasutrabhasya of Sankaracarya*, Advaita Ashrama, Mayawati, Almora, 1965.

Ganguli, H. K., *Philosophy of Logical Construction*, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1963.

Gnoli, Raniero, *Sivadrsti by Somananda* (Chap. I) Trans. and Comm., East and West, VIII, 1957, pp. 16-22.

Gupta, Sanjukta, *Studies in the Philosophy of Madhusudana Saraswati*, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1966.

Hussain, F. M., *Buddhist Kashmir*, Light and Life Publications, New Delhi.

Hiriyanna, M., *Outlines of Indian Philosophy*, George Allen and Unwin (India) Private Ltd, Bombay, 1973.

Hiriyanna. M., *Popular Essays in Indian Philosophy*, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1952.

Iyer, K. A. Subramnia, & Pandey, K. C., *Bhaskari*, Vols. 1-2, The Princess of Wales Sarasvati Bhawan Texts, No. 70, 83. Allahabad, 1938, 1950.

Jash, Pranabananda, *History of Saivism*, Roy and Chaudhary, Calcutta, 1974.

Joshi, Lalmani, *Studies in the Buddhistic Culture of India*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1967.

Joshi, N. V., *Three Fountainheads of Indian Philosophy*, Somaiya Publications, Bombay, 1962.

Kaw, R. K., *The Doctrine of Recognition*, Vishveshvarananda Institute Publication, Hoshiarpur, 1967.

Kundu, Nundolal, *Non-Dualism in Saiva and Sakta Philosophy*, Sri Bharatiya Jogeshwari Math, Calcutta.

McGovern, W. M., *An Introduction to Mahayana Buddhism*, Sahityaratnamala Karyalaya, Varanasi, 1968.

McTaggart, Ellis, *The Nature of Existence*, Vols. 1, 2, Cambridge University Press, London, 1968.

Mehta, J. L, *Vedanta and Buddhism*, Proceedings of the third All-India Seminar held at the Centre of Advanced Study in Philosophy, Banaras Hindu University, 1968.

Mishra, R. S., *Studies in Philosophy and Religion*, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1971.

Muller, Max, *The Six Systems of Indian Philosophy*, Chowkhmba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1971.

Muller, Max, *Three Lectures on the Vedanta Philosophy*, Chowkhmba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1967.

Murti, T.R.V., The Central Philosophy of Buddhism, Second Edition, George Allen and Unwin, 1960.

Naulakha, R. S., *Shankara's Brahmavada,* Kitab Ghar, Kanpur, 1964.

Nikhilananda, *Vedantasara,* Advait Ashram, Calcutta, 1964.

Pandey, K. C., *Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study,* 2nd. Chowkhamba, 1963.

Pandey, R. C., *Panorama of Indian Philosophy,* Motilal Banarsidass, Delhi, 1966.

Pandit, B. N., *Aspects of Kashmir Saivism.,* Utpal Publications, Srinagar, 1977.

Pathak, V. S., *History of Saiva Cults in Northern India,* Varanasi, 1960.

Ponniah, V., *Saiva Siddhanta : Theory of Knowledge,* Annamalai University, Anhamalai Nagar, 1962.

Prithipal, D., *Advaita Vedanta,* Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1969.

Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy,* Vols. I-II, George Allen and Unwin, London, 1966.

Raju, P. T., *Indian Idealism and Modern Challenges,* Punjab University Publication Bureau, Chandigarh, 1961.

Raju, P. T., *Idealistic Thought of India,* George Allen and Unwin, London, 1953.

Ramanan, K. V., *Nagarjuna's Philosophy,* Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1971.

Ranade, R. D., *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy,* Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1968.

Rao, P. Nagaraja, *Essays in Indian Philosophy and Religion,* Lalvani Publishing House, Bombay, 1971.

Rastogi, Navjivan, *The Krama Tantricism of Kashmir,* Motilal Banarsidass, Delhi, 1979.

Ray, S. G., *Early History and Culture of Kashmir*, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1970.

Roy, S. S., *Heritage of Sankara*, Udayana Publications, Allahabad, 1965.

Sastri, Gaurinath. *The Philosophy of Word and Meaning*, Calcutta, 1959.

Sharma, C. D., *A Critical Survey of Indian Philosophy*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1964.

Shastri, D. N., *Critique of Indian Realism*, Agra University, Agra, 1964.

Sharma, L. N., *Kashmir Saivism*, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972.

Shukla, J. P., *The Nature of Mind*, Modern Book House, Jabalpur, 1966.

Singh, Satyavrat, *Vedantadesika*, Chowkhamba Sanskrit Series Office, 1958.

Sinha, Debabrata, *Idealistic Standpoint*, Centre of Advanced Study in Philosophy, Visva Bharati, Santiniketan, 1965.

Sinha, Yadunath, *A History of Indian Philosophy*, Vol. 2, Central Book Agency, Calcutta, 1952.

Sivaraman, K. *Saivism in Philosophical Perspective*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1973.

Stcherbatsky, T., *Buddhist Logic*, Vol. II, Dover Publications Inc., New York.

Stcherbatsky, T., *The Conception af Buddhist Nirvana*, Leningrad, 1927.

Stcherbatsky, T., *The Soul Theory of Buddhists*, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1970.

Subramania, G., *Saiva Siddhanta*, Annamalai Nagar, 1954.

Sufi, G. M. D., *Kashir*, Vol. I-II, Light and Life Publications, New Delhi, 1974.

Tripathi, Chhotalal, *The Problem of Knowledge in Yogacara Buddhism*, Bharat Bharati, Varanasi, 1972.

Wilson, H., *The Hindu History of Kashmir*, Susil Gupta Pvt. Ltd., Calcutta, 1960.

Woodraffe, John, *Sakti and Sakta*, Ganesh and Co., Madras, 1969.

Some Important Publications

1. *Aruna-Bharati : Professor A. N. Jani Felicitation Volume (Studies in Contemporary Indological Research)*-Eds. B. Datta, U. C. Sharma, N. J. Vyas Rs. 300
2. रसमञ्जरी of भानुदत्तमिश्र—with two commentaries : 'परिमल' of शेषचिन्तामणि and 'रसामोद' of त्रिविक्रममिश्र—Ed. Ram Suresh Tripathi Rs. 150
3. *Professor Ram Suresh Tripathi Commemoration Volume* —Eds. U. C. Sharma, S. R. Sarma, G. C. Sharma Rs. 150
4. प्रसाद के नाटक : विषयतत्त्व और अभिव्यंजना—भगवती शर्मा Rs. 150
5. *The Visvamitras and the Vasisthas : An Exhaustive Historical Study (Vedic and Post-Vedic)*—by U. C. Sharma Rs. 100
6. *Evil, Suffering and Salvation (A Comparative Prespective in Religions)*—N. J. Vyas Rs. 80
7. *The Dasarajna War : Struggle for Supremacy in the Vedic Age*—by U. C. Sharma Rs. 55
8. माधवी (पौराणिक महाकाव्य)—शान्तिस्वरूप 'कुसुम' Rs. 50
9. ययाति आख्यान : एक अध्ययन—गिरीशचन्द्र शर्मा Rs. 50
10. कौरवी लोकोक्तियाँ : भाषिक-सांस्कृतिक विवेचन—शिवकुमार शांडिल्य Rs. 40
11. *A. M. U.—The National Context*—by S. S. Gupta Rs. 40
12. *The Vedic Priests of the Fire-Cult*—V. G. Rahurkar Rs. 35
13. *Second Chamber of Indian Parliament : Rajya Sabha* —by Bina Das Rs. 30
14. छन्दोऽनुक्रमणी of शौनक—Ed. U. C. Sharma Rs. 30
15. आर्षानुक्रमणी (शौनक)—हिन्दी अनुवाद सहित—उमेशचन्द्र शर्मा Rs. 30
16. आवारा यादों के गीत (हिन्दी कवितायें)-शिवशंकर शर्मा 'राकेश' Rs. 30
17. भक्तिमीमांसा—हिन्दी अनुवाद सहित—विश्वनाथ शुक्ल Rs. 20
18. ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी of कात्यायन and अनुवाकानुक्रमणी of शौनक —Ed. U. C. Sharma Rs. 20
19. धर्म-नवनीत—आचार्य मुरारीलाल Rs. 15
20. चरणव्यूहसूत्रम् of शौनक—Ed. U. C. Sharma Rs. 15
21. पवनदूतम् (धोयी)-हिन्दी अनुवाद सहित-उमेशचन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा Rs. 10
22. घटकर्परकाव्यम्-हिन्दी अनुवाद सहित-उमेशचन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा Rs. 5

VIVEKA PUBLICATIONS
Samad Road, ALIGARH-202001, U. P., India

Some Important Publications

1. *Aruna-Bharati : Professor A. N. Jani Felicitation Volume (Studies in Contemporary Indological Research)*-Eds. B. Datta, U. C. Sharma, N. J. Vyas — Rs. 300
2. रसमञ्जरी of भानुदत्तमिश्र—with two commentaries : 'परिमल' of शेषचिन्तामणि and 'रसामोद' of त्रिविक्रममिश्र—Ed. Ram Suresh Tripathi — Rs. 150
3. *Professor Ram Suresh Tripathi Commemoration Volume* —Eds. U. C. Sharma, S. R Sarma, G. C. Sharma — Rs. 150
4. प्रसाद के नाटक : विषयतत्त्व और अभिव्यंजना—भगवती शर्मा — Rs. 150
5. *The Visvamitras and the Vasisthas : An Exhaustive Historical Study (Vedic and Post-Vedic)*—by U. C. Sharma — Rs. 100
6. *Evil, Suffering and Salvation (A Comparative Prespective in Religions)*—N. J. Vyas — Rs. 80
7. *The Dasarajna War : Struggle for Supremacy in the Vedic Age*—by U. C. Sharma — Rs. 55
8. माधवी (पौराणिक महाकाव्य)—शान्तिस्वरूप 'कुसुम' — Rs. 50
9. ययाति आख्यान : एक अध्ययन—गिरीशचन्द्र शर्मा — Rs. 50
10. कौरवी लोकोक्तियाँ : भाषिक-सांस्कृतिक विवेचन—शिवकुमार शांडिल्य — Rs. 40
11. *A. M. U.—The National Context*—by S. S. Gupta — Rs. 40
12. *The Vedic Priests of the Fire-Cult*—V. G. Rahurkar — Rs. 35
13. *Second Chamber of Indian Parliament : Rajya Sabha* —by Bina Das — Rs. 30
14. छन्दोऽनुक्रमणी of शौनक—Ed. U. C. Sharma — Rs. 30
15. आर्षानुक्रमणी (शौनक)—हिन्दी अनुवाद सहित—उमेशचन्द्र शर्मा — Rs. 30
16. आवारा यादों के गीत (हिन्दी कवितायें)–शिवशंकर शर्मा 'राकेश' — Rs. 30
17. भक्तिमीमांसा—हिन्दी अनुवाद सहित—विश्वनाथ शुक्ल — Rs. 20
18. ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी of कात्यायन and अनुवाकानुक्रमणी of शौनक —Ed. U. C. Sharma — Rs. 20
19. धर्म-नवनीत—आचार्य मुरारीलाल — Rs. 15
20. चरणव्यूहसूत्रम् of शौनक—Ed. U. C. Sharma — Rs. 15
21. पवनदूतम् (धोयी)–हिन्दी अनुवाद सहित–उमेशचन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा — Rs. 10
22. घटकर्परकाव्यम्–हिन्दी अनुवाद सहित–उमेशचन्द्र शर्मा, गिरीशचन्द्र शर्मा — Rs. 5

VIVEKA PUBLICATIONS
Samad Road, ALIGARH-202001, U. P., India